

आधुनिक भारत के चाणक्य

पंडित दीनदयाल उपाध्याय

डॉ. रमेश पोखरिया 'निशंक'



डायमंड बुक्स

www.diamondbook.in

© लेखकाधीन

प्रकाशक : डायमंड पॉकेट बुक्स (प्रा.) लि.

X-30, ओखला इंडस्ट्रियल एरिया, फेज-II

नई दिल्ली-110020

फोन : 011-40712100

ई-मेल : sales@dpb.in

वेबसाइट : www.diamondbook.in

संस्करण : 2016

मुद्रक : आदर्श प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032

PANDIT DEENDAYAL UPADHYAY

By : *Dr. Ramesh Pokhriyal 'Nishank'*

विषय सूची

लेखकीय	5
प्रकाशकीय	7
जीवन परिचय	11
पं. दीनदयाल जी का व्यक्तित्व	17
आधुनिक भारत के चाणक्य	22
दीनदयाल उपाध्याय	22
सामाजिक चिंतन	27
सामाजिक जीवन की समस्याएँ	37
भारतीय समाज की दिशा और दशा	48
व्यक्ति और समाज	54
गाय और दीनदयाल जी	59
सामाजिक सक्रियता एवं विचार	61
नींव के पत्थर	71
राजनीतिक विचार	75
लोकतंत्र का भारतीयकरण	84
उच्च राजनीतिक चिंतन	92
भारत में पार्टी राजनीति	99
समाजवाद बनाम हिंदू धर्म	102
राजनीतिक चिंतन पर प्रभाव	110
मातृभूमि के प्रति श्रद्धा	115

राष्ट्र के लिए ही राजनीति	119
दल मात्र एक टोली नहीं	123
राजनीतिक आन्दोलन और दीनदयाल	128
राष्ट्रवादी विदेश नीति	142
नेहरू बनाम दीनदयाल उपाध्याय	150
संघात्मक बनाम एकात्मक संविधान	155
भारतीय साम्यवादी दल	161
आर्थिक चिंतन	166
समाज के हित एवं विकास	171
पंचवर्षीय योजना : एक विश्लेषण	178
हमारी अर्थ-नीति का मूल आधार.....	202
औद्योगीकरण एवं औद्योगिक शिक्षा	205
भारतीय अर्थरचना के राष्ट्रीय लक्ष्य	211
गाँव, खेती और किसान	214
विदेशी पूँजी	217
समतावादी आर्थिक दृष्ट	220
मनोविज्ञान आर्थिक चिंतन	232
दीनदयाल जी का मूल्यांकन	247

लेखकीय

प्रकाशकीय

आधुनिक भारत के चाणक्य माने जाने वाले पंडित दीनदयाल उपाध्याय का नाम भारतीय राजनीति में बड़े ही अदब से लिया जाता रहा है। वह एक मात्र ऐसे नेता थे जिन्हें पक्ष विपक्ष दोनों ही तरफ से समान की दृष्टि से देखा जाता था। उन्होंने राजनीति के नये मापदंडों का सृजन किया। यही उनकी विशेष उपलब्धि मानी जाती है। उन्होंने अपने विचारों को सबसे निचले पायदान पार खड़े लोगों तक अपनी आवाज पहुंचाई और उनकी आवाज भी बने।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जैसे महान व्यक्तित्व की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। वे एक महान देशभक्त, कुशल संगठनकर्ता, प्रखर विचारक, दूरदर्शी, राजनीतिज्ञ और प्रबुद्ध साहित्यकार थे। वे सादा जीवन उच्च विचार की जीती जागती प्रतिमा थे। पं. दीनदयाल उपाध्याय की जीवन यात्रा का तथ्यात्मक वर्णन आज उनकी लिखी हुई तमाम पुस्तकों में दर्ज हैं उन्होंने 1947 से 1949 तक विभिन्न लेखों व पुस्तकों का प्रकाशन ही नहीं किया बल्कि दर्जनों लेखकों को समाज में स्थापित करने का कार्य भी बड़ी शिद्दत के साथ किया।

जब पं. दीनदयाल उपाध्याय जी की जिम्मेदारियां बढ़ी तो उनको पढ़ने-लिखने का समय भी कम मिलता था और उन्हें देशभर में यात्राएँ करनी पड़ती थी। वे उन यात्राओं में ही पढ़ने-लिखने का समय निकाल लेते थे। वे पढ़ने-लिखने के लिए रेल के सफर का बहुत ज्यादा उपयोग करते थे। पठान-पठान की उनकी लगन के कारण ही आज भी उनको विचारक के रूप में मन जाता है।

पं. दीनदयाल उपाध्याय शिक्षा, ज्ञान एवं चिन्तन प्रक्रिया को बहुत ही महत्त्वपूर्ण मानते थे। इसीलिए स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान को उन्होंने उपयुक्त

एवं स्थायी माना है वे एक स्थान पर लिखते हैं कि “स्वाध्याय के लिए आवश्यक है कि आपके पास ज्ञान प्राप्ति के लिए पुस्तकें आदि हों। अतः व्यक्ति के चतुर्विध पुरुषार्थ के लिए प्रयास की शक्ति तभी प्राप्त कर सकता है। जब शिक्षा द्वारा सामाजिक उद्देश्य को बढ़ावा दिए जाने का प्रयास हो।”

सादा जीवन, उच्च विचार और व्यवहार के मूर्तिमान पं. दीनदयाल उपाध्याय की असामयिक मृत्यु ने भारतीय राजनीति, प्रशासन एवं रेल व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया था लेकिन तमाम राजनीतिक मतभेद होने के बाद भी देश के सभी राजनीतिक दलों एवं नेताओं ने पं. दीनदयाल उपाध्याय की मृत्यु पर गहरा शोक जाहिर किया था यह उनकी भारतीय राजनीति में स्वीकार्यता को प्रदर्शित करता है जो हर किसी के लिए संभव नहीं होती है। तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को भी उनके बारे में यह कहना पड़ा कि मुझे श्री उपाध्याय की मृत्यु की खबर सुनकर गहरा आघात पहुँचा है। श्री उपाध्याय देश के राजनीतिक जीवन में प्रमुख भूमिका अदा कर रहे थे। उनकी ऐसी दुःखद परिस्थितियों में असामयिक और अप्रत्याशित मृत्यु से उनका कार्य अधूरा रह गया है। जनसंघ और कांग्रेस के बीच मतभेद चाहे जो हों, मगर श्री उपाध्याय सर्वाधिक सम्मान प्राप्त नेता थे और उन्होंने अपना जीवन देश की एकता एवं संस्कृति को समर्पित कर दिया था।

वर्तमान भारतीय संसदीय नेता गैर संसदीय भाषा का प्रयोग करते हैं जिससे देश में अराजकता का माहौल पैदा हो जाता है। यहाँ तक कि सामाजिक सद्भाव बिगड़ जाते हैं। लेकिन वे अपने भाषणों पर पूरा नियंत्रण रखते थे उन्होंने एक बार कहा था कि “देखिए, ऐसा लगता है कि मेरा प्रभाव नहीं पड़ेगा तो मैं चुनाव से हट जाता हूँ लेकिन केवल मतों के लिए मैं अपने भाषणों में आवश्यक तीखापन नहीं ला सकूँगा। विरोधियों की व्यक्तिगत आलोचना करना तो मैं अनैतिक ही मानता हूँ।

पं. दीनदयाल उपाध्याय सिर्फ मनुष्य जाति से ही प्रेम नहीं करते थे बल्कि वे एक प्रकृति प्रेमी भी थे। इसीलिए प्रकृति के अत्यधिक दोहन की चिंता को आपने भाषणों और लेखन में भी प्रस्तुत किया था- “हम यदि सारी शक्ति एवं उपलब्ध साधन-सम्पदा को निरंकुशता से खर्च करने लगे तो यह कदापि उचित नहीं होगा। हमारी व्यवस्था प्रकृति का शोषण करने

वाली न होकर उसके पोषण के लिए सहायक बनने वाली होनी चाहिए।”

देश में दीनदयाल उपाध्याय का जन्मशताब्दी वर्ष मनाया जा रहा है वो भी ऐसे समय में जब देश में सद्भावना, सहिष्णुता, सहयोग जैसी भावना का लोप हो रहा है। ऐसे कठिन समय में उनके विचार हमारे देश के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण हो जाते हैं। उन्होंने आपने विचार व्यक्त करते हुए कहा था कि संघर्ष की भूमिका से स्वेच्छापूर्वक एवं चिरस्थायी सहयोग की सम्भावना कभी निर्मित नहीं की जा सकती। यह संसार संघर्ष के नहीं सहयोग के आधार पर ही टिका है। हम विकासवादी हैं तो सृष्टि के इस नियम को हमें स्वीकार करना होगा।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने अपने लेखों से सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं पर ही अपने विचार प्रस्तुत नहीं किये बल्कि विदेशी पूँजी और विदेशी निवेश के विरोध में अनेक तर्क भी प्रस्तुत किए। यह पुस्तक न सिर्फ दीनदयाल जी के बारे में ही नहीं बताती बल्कि उनके सम्पूर्ण व्यवहार कर्म को भी प्रस्तुत करती हुई जीवन के उन सभी पहलुओं से अवगत कराती है जिनके बारे में आज बहुत ज्यादा चिन्तन की जरूरत है। उन्होंने आपने दिखाया कि विचारों को जीवन में उतरा जा सकता है इस पुस्तक में उनके समस्त चिन्तन, सिद्धांत और व्यवहार को और अधिक गहनता के साथ समझने की कोशिश की गयी है।

जीवन परिचय

हमारी राष्ट्रीयता का आधार भारत माता हैं, केवल भारत ही नहीं, माता शब्द हटा दीजिये तो भारत केवल जमीन का टुकड़ा मात्र बनकर रह जायेगा।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी जन्म उत्तर प्रदेश के मथुरा जिले के नगला चंद्रभान गांव में हुआ था। उनके पिता, भगवती प्रसाद, एक प्रसिद्ध ज्योतिषी थे और उसकी मां श्रीमती राम प्यारी एक धार्मिक विचारधारा वाली महिला थी। रेल की नौकरी होने के कारण उनके पिता का अधिक समय बाहर ही बीतता था। कभी-कभी छुट्टी मिलने पर ही घर आते थे। कुछ समय बाद ही दीनदयाल के भाई ने जन्म लिया जिसका नाम शिवदयाल रखा गया। पिता भगवती प्रसाद ने बच्चों को ननिहाल भेज दिया। उस समय उनके नाना चुन्नीलाल शुक्ल धनकिया में स्टेशन मास्टर थे। मामा का परिवार बहुत बड़ा था। दीनदयाल अपने ममेरे भाइयों के साथ बड़े हुए।

बहुत कम उम्र में दीनदयाल जी को पिता के प्यार से वंचित होना पड़ा। पति की मृत्यु से माँ रामप्यारी को अपना जीवन अंधकारमय लगने लगा और वे अत्यधिक बीमार रहने लगीं। उन्हें क्षय रोग लग गया था। 8 अगस्त, 1924 को पं. दीनदयाल उपाध्याय जी की माँ अपने बच्चों को अकेला छोड़ ईश्वर को प्यारी हो गयीं। 7 वर्ष की छोटी-सी अवस्था में ही दीनदयाल जी को अपने माता-पिता के प्यार को खोना पड़ा।

दीनदयाल जी अपने ननिहाल में रहे और वहां पर अकादमिक स्तर पर उत्कृष्ट प्रदर्शन करने की कोशिश भरपूर कोशिश की। इसी का परिणाम यह हुआ और वे सीकर में हाई स्कूल परीक्षा में अच्छे नम्बरों से पास हुए। उन्होंने बोर्ड परीक्षा में प्रथम स्थान किया और उसके बाद सीकर के महाराजा कल्याण

सिंह ने उनकी योग्यता को देखते हुए 250 रुपए की मासिक छात्रवृत्ति के साथ उन्हें पुरस्कृत किया। उन्होंने पिलानी के जी.डी. बिड़ला से 1937 में इंटरमीडिएट बोर्ड परीक्षा अच्छे अंकों से पास करके सभी का दिल जीत लिया।

जब भी उनके मामा-मामी ने उनके विवाह करने के लिए कहा तो उन्होंने अपनी चतुराई से मामा-मामी को इस प्रकार संतुष्ट किया कि उन्होंने दीनदयाल जी से फिर कभी विवाह के लिए नहीं कहा। पं. दीनदयाल जी ने अपनी पुस्तक 'जगद्गुरु शंकराचार्य' के अंतर्गत संन्यास ग्रहण के संबंध में अपने विचार प्रकट किए थे वो इस प्रकार हैं- "हे माँ! पितृऋण है और उसी को चुकाने के लिए मैं संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ। पिताजी ने जिस धर्म को जीवन भर निभाया वह धर्म यदि नष्ट हो गया तो बताओ माँ! क्या उन्हें दुःख नहीं होगा? उस धर्म की रक्षा से ही उन्हें शांति मिल सकती है और फिर अपने बाबा उनके बाबा और उनके भी बाबा की ओर देखो। हजारों वर्ष का चित्र आँखों के समक्ष उपस्थित हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म की रक्षा के लिए स्वयं के जीवन को दाँव पर लगा दिया कौरवों-पांडवों में युद्ध करवाया। अपने जीवन में वे धर्म की स्थापना कर गए पर लोग धीरे-धीरे भूलने लगे। शाक्यमुनि के काल तक फिर धर्म में बुराइयाँ आ गईं। उन्होंने भी बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया पर अब आज उनके सच्चे अभिप्राय को भी लोग भूल गए हैं। माँ! इन सब पूर्वजों का हमारे ऊपर ऋण है अथवा नहीं? यदि हिन्दू समाज नष्ट हो गया हिन्दू धर्म नष्ट हो गया तो फिर तू ही बता माँ कोई दो हाथ दो पैर वाला तेरे वश में हुआ तो क्या तुझे वह पानी देगा? कभी तेरा नाम लेगा?" इस प्रकार उन्होंने उपरोक्त तर्क अपने विवाह न करने के संबंध में प्रस्तुत किया।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में एक सेवक की भाँति प्रवेश किया और वे अपनी प्रतिभा के बल पर एक दिन संघ के अध्यक्ष पद तक पहुँचे। वर्ष 1937 में जनवरी 14 अर्थात् मकर संक्रांति के दिन दीनदयाल जी ने संघ की प्रतिज्ञा ली क्योंकि यह मकर संक्रांति का शुभ उत्सव माना जाता है। इसी दिन पं. सातनलेकर द्वारा संघ की कानपुर शाखा को ध्वज भेंट किया गया था। यहीं से उनका संघ के साथ प्रारम्भ माना जाता है। यहीं से उन्होंने संघ के लिए कर्तव्यनिष्ठा से कार्य करने का संकल्प भी लिया।

जब वे बीए में अध्ययन कर रहे थे छात्रावास में रहते थे और छात्रावास में ही शाखा लगाई जाती थी। लेकिन कुछ समय पश्चात शाखा छात्रावास में न लगकर कानपुर के नवाबगंज नामक स्थान में लगने लगी। सनातन धर्म कॉलेज, कानपुर में उनके एक सहपाठी बालूजी महाशब्दे उनके बहुत अच्छे मित्र थे माना जाता है कि उन्हीं के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ (आरएसएस) में शामिल हुए। दोनों दोस्त ने ही हेडगेवार छात्रावास एक साथ रहने और शाखाओं में जाने लगे। एक दिन पं. दीनदयाल उपाध्याय जी को डॉ. हेडगेवार शाखाओं में एक बौद्धिक चर्चा के लिए आमंत्रित किया। यही से उनकी पहचान एक बौद्धिक युवक के रूप में होने लगी। वे सुंदर सिंह भंडारी से बहुत प्रभावित थे क्योंकि वह भी उनके सहपाठियों में से एक था। उसने भी अपने सार्वजनिक जीवन को बढ़ावा दिया।

दीनदयाल जी ने पूर्ण निष्ठा से अपना जीवन इसमें लगाने का निर्णय लिया। वर्ष 1939 में जब एमए करने के लिए वे आगरा आए तो वहाँ भी उन्होंने संघ के प्रति अपनी जिम्मेदारी पूर्ण रूप से निभाई और आगरा के राजा की मंडी नामक स्थान पर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की एक शाखा को स्थापित किया। यहाँ पर उन्होंने लोगों को संघ के साथ जोड़ा और संघ के कार्य आगे बढ़ाने लगे। वे अपनी मेहनत व लगन से संघ के कार्य में इतने तल्लीन हो गये कि सब जगह उनकी ही चर्चा होने लगी। उनकी ख्याति संघ में बढ़ती गई। दीनदयाल जी सहृदय मिलनसार व्यक्तित्व के धनी थे। लोग उनके व्यवहार से ही मंत्रमुग्ध हो जाते थे। एक बार जब उत्तर प्रदेश से माननीय वापु राव नानाजी देशमुख बापू जोशी आदि बड़े-बड़े संघ के नेता संघ के कार्य के लिए आए हुए थे तो दीनदयाल जी ने उनके सान्निध्य बहुत ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया था। सभी लोगों ने दीनदयाल जी की लगन को देखते हुए उनकी बहुत प्रशंसा की।

एक बार उन्हें प्रांतीय सेवा परीक्षा में बैठने के लिए उसे राजी तो कर लिया गया लेकिन उन्होंने आम आदमी के साथ काम करने के विचार को आगे बढ़ाया क्योंकि वे जान चुके थे कि उनका जन्म प्रांतीय सेवाओं में शामिल होने के लिए नहीं हुआ था बल्कि देश सेवा के लिए हुआ था।

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी ने 1942 से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में पूर्णकालिक काम करने के लिए खुद को समर्पित कर दिया। शिक्षा और

आरएसएस शिक्षा विंग में द्वितीय वर्ष के प्रशिक्षण पूरा करने के बाद पंडित दीनदयाल उपाध्याय आरएसएस के एक आजीवन प्रचारक बन गए।

दीनदयाल उपाध्याय आदर्शवाद को मानने वाले और संगठन पर जबरदस्त पकड़ रखने वाले व्यक्ति के रूप में पहचाने लगे थे। उन्होंने सामाजिक विचारक के रूप विभिन्न पहलुओं को प्रतिबिंबित किया इसीलिए उन्हें अर्थशास्त्री, शिक्षाशास्त्री, राजनीतिज्ञ, लेखक, पत्रकार, वक्ता, आयोजक आदि के रूप में पहचाना जाने लगा। जब डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भारतीय जनसंघ की स्थापना की तो उसमें दीनदयाल जी की प्रतिभा को देखते हुए उन्हें उत्तर प्रदेश शाखा का पहला महासचिव बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उनके काम को देखते हुए कुछ समय बाद ही उन्हें अखिल भारतीय महासचिव के रूप में भी चुना लिया गया। दीनदयाल जी ने अपने कौशल और सूक्ष्मता से डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी जी को बहुत प्रभावित किया और अपने लिए प्रसिद्ध टिप्पणी हासिल की- “यदि मैं दो दीनदयाल है होता, तो मैं भारत का राजनीतिक चेहरा बदल सकता।”

एक बार उन्हें उत्तर प्रदेश के लखीमपुर जिले में दीनदयाल जी को संघ का प्रचार करने के लिए भेजा गया। उन्होंने वहाँ से प्रचारक के रूप में अपना कार्य प्रारंभ किया। यहाँ भी अपनी व्यवहार कुशलता एवं प्रतिभा से लोगों के हृदय में जगह बना बनाई। वे यहाँ पर पं. रामनारायण के ही यहाँ रहते रहने लगे थे। यहाँ पर उन्होंने लोगों को संघ के प्रति आकर्षित किया और सैकड़ों लोगों को संघ में शामिल किया।

पं. दीनदयाल उपाध्याय का शिक्षा से हमेशा नाता रहा। इसके लिए उन्होंने हाई स्कूल के विद्यार्थियों को अध्यापक के रूप में शिक्षा भी दी। वे यह कार्य निःशुल्क किया करते थे। उनकी प्रतिभा से आकर्षित होकर स्कूल के प्रबंधकों ने उन्हें उस स्कूल में प्रधानाचार्य बनाना चाहा लेकिन दीनदयाल ने इसे स्वीकार नहीं किया और जिस विश्वास से संघ के लोगों ने उन्हें संघ के प्रचारक के रूप में वहाँ भेजा था वे उस कार्य को ही सर्वोपरि समझकर करते रहे। उनकी व्यवहार कुशलता से संघ का प्रचार-प्रसार का कार्य तीव्रता से होने लगा था और प्रचारक के रूप में तीन वर्ष तक सफलता पूर्वक कार्य किया।

उनकी क्षमता को देखते हुए संघ के अधिकारियों ने वर्ष 1945 में उन्हें

उत्तर प्रदेश का सह प्रांत प्रचारक भी बनाया। उस समय श्री भाऊराव देवरस जी उस समय उत्तर प्रदेश के प्रांत प्रचारक के रूप में कार्य कर रहे थे। यही वो स्थान था जहां उन्हें संघ के दिग्गज लोगों से मिलने का सौभाग्य प्राप्त होता था और वे उनके बीच भी अपनी चिर-परिचित बहुमुखी प्रतिभा को स्थापित करने में बहुत सफल हुए।

इस प्रकार पं दीनदयाल जी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में महत्वपूर्ण भागीदारी कर न केवल लोगों में संघ के प्रति आकर्षण पैदा किया अपितु स्वयं की क्षमता का भी प्रदर्शन कर सबके हृदय में अपनी अमिट छाप छोड़ी और संघ के दिग्गज व्यक्ति के रूप में सुप्रसिद्ध हुए। पं. दीनदयाल उपाध्याय ने पत्रकारिता के क्षेत्र में सम्पादन का कार्य एवं साहित्य लेखन के क्षेत्र में पुस्तकें लिख इस क्षेत्र में भी अपनी प्रतिभा प्रदर्शित की।

उनका मनाना था कि कोई न कोई प्रकाशन राष्ट्रवाद की विचारधारा के प्रसार के लिए अवश्य होना चाहिए। वर्ष 1947 में पंडित दीनदयाल जी ने राष्ट्रधर्म प्रकाशन लिमिटेड की स्थापना की। इसके अंतर्गत राष्ट्रधर्म पांचजन्य व स्वदेश नामक पत्र प्रकाशित होते थे। उन्होंने अपना नाम लिखे बिना ही तमाम मुद्दों पर लिखते रहे लेकिन उसकी विचारोत्तेजक लेखन ने पाठकों के दिलों पर गहरी व स्थायी छाप पड़ रही थी।

उनकी देख रेख में धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ख्याति प्राप्त करता जा रहा था और इन पत्रों के माध्यम से देश में संघ का प्रचार-प्रसार और भी तेजी पकड़ता जा रहा था। दूसरी ओर काँग्रेस के लिए संघ मुसीबत बनता जा रहा था। अतः काँग्रेस सरकार ने संघ पर लगाम लगाने का निर्णय लिया और शासन ने इन समाचार पत्रों को प्रतिबंधित कर दिया। लेकिन पं. दीनदयाल जी ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए कार्य किया। सरकार द्वारा 'पांचजन्य' पर प्रतिबंध लगाए जाने पर उन्होंने 'हिमालय पत्रिका' नाम से दूसरा समाचार पत्र प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया। यह समाचार पत्र भी लोकप्रिय हो गया। सरकार ने इसे भी प्रतिबंधित कर दिया। तब उन्होंने 'देशभक्त' नाम से प्रकाशन प्रारम्भ कर दिया। सरकार की समझ में नहीं आया कि आखिर क्या किया जाए। वह दीनदयाल जी की कुशाग्र बुद्धि के समक्ष निस्सहाय-सी हो गई। लेकिन दीनदयाल जी को रोक नहीं पाई। अंततः सरकार ने उन्हें पकड़ने की योजना बनाई किंतु वह दीनदयाल जी को तब

तक नहीं पकड़ पाई जब तक दीनदयाल जी ने स्वयं को न पकड़वा दिया।

इस प्रकार पं. दीनदयाल उपाध्याय ने पत्रकारिता के के दम पर नए आयाम स्थापित कर चुके थे। उन्होंने समाचार पत्रों के सम्पादन से लोगों को संघ के लिए प्रेरित किया। उन्होंने न सिर्फ राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का प्रचार-प्रसार किया बल्कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को एक नई दिशा प्रदान की।

जब डॉ. मुखर्जी की मृत्यु हो गयी तो संगठन के पोषण और एक देशव्यापी आंदोलन को खड़ा करने का पूरा बोझ दीनदयाल के युवा कंधों पर गिर गया। 15 साल तक वे संगठन के महासचिव बने और एक से एक को जोड़ते हुए संगठन को खड़ा किया। उन्होंने आदर्शवाद के साथ समर्पित कार्यकर्ताओं का एक संगठन को पूरे वैचारिक ढांचे के रूप में बदल दिया। वैसे उन्होंने उत्तर प्रदेश से लोकसभा के लिए चुनाव लड़ा, लेकिन सफलता नहीं मिली।

11 फरवरी, 1968 को पं. दीनदयाल का रहस्यमय तरीके से मौत हो गई मुगलसराय रेलवे यार्ड में उनकी लाश मिलने से सारे देश में शोक की लहर दौड़ गई थी। अपने प्रिय नेता के खोने के बाद भारतीय जनसंघ के कार्यकर्ता और नेता अनाथ हो गए थे। पार्टी को इस शोक से उबरने में बहुत सी समय लगा। पंडित दीनदयाल उपाध्याय जैसे विचारक लोग समाज के लिए सदैव अमर रहते हैं। दीनदयाल जी ने आजीवन गरीबों मजदूरों के हित के लिए काम किया था। इसी का नतीजा था कि आज भी उन्हें अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति के हितैषी के रूप के आज भी जाना जाता है।

पं. दीनदयाल जी का व्यक्तित्व

व्यक्ति को वोट दें, बटुए को नहीं, पार्टी को वोट दें,
व्यक्ति को नहीं; सिद्धांत को वोट दें, पार्टी को नहीं।

दुनिया में बहुत से लोग ऐसे रहे जिनका मूल्यांकन उनके जीते जी नहीं हो पाता। उनमें से एक थे पं. दीनदयाल जी का व्यक्तित्व। उनके व्यक्तित्व को जानने समझने के लिए हमें न सिर्फ उनके किये गये कार्य का मूल्यांकन करना पड़ेगा बल्कि उनके सम्पूर्ण जीवन दर्शन को भी रेखांकित करना पड़ेगा तभी हम उनके व्यक्तित्व को आम जनता तक समग्र रूप में ला सकते हैं।

पं. दीनदयाल जी के व्यक्तित्व को हम उनके राजनीतिक दर्शन के रूप में भी व्यक्त कर सकते हैं। उन्होंने आपने दर्शन से शरीर, मन और बुद्धि और हर इंसान की आत्मा का एक साथ और एकीकृत कार्यक्रम विकसित किया था। उन्होंने बताया कि सामग्री एक संश्लेषण, आध्यात्मिक, व्यक्तिगत और सामूहिक रूप होता है। उनका मानवीय दर्शन वर्तमान समाज की व्याख्या करने में हमारी मदद करता है उन्होंने राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में व्यावहारिक भारत की आधारशिला निर्माण किया और मानव केन्द्रित राजनीति और आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था कल्पना की। ये कार्य उनको बौद्धिक व्यक्ति के धनी के रूप में स्थापित करते हैं।

दीनदयाल उपाध्याय जी का व्यक्तित्व इतना विशाल था कि उन्होंने व्यक्तिवाद, लोकतंत्र, समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद आदि जैसे पश्चिमी अवधारणाओं पर कभी भरोसा नहीं किया। उन्हें विश्वास था कि आजादी के बाद भारतीय राजनीति में इन सतही पश्चिमी विचारों से देश को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। उनका मानना था कि भारत का विकास हमारी प्राचीन संस्कृति और कालातीत परंपराओं में निहित है। उन्होंने अपने चिंतन से यहाँ

तक कहा कि भारतीय मेधा पश्चिमी सिद्धांतों और विचारधाराओं की घुटन के फलस्वरूप भारतीय सोच को एक अंधी गली ले जा चूका है। भारत को एक ताजा हवा की तत्काल जरूरत है।

दीनदयाल जी का हृदय इतना परिपक्व था कि वे आने वाली तमाम बदलावों को बारीकी से अध्ययन करते थे। उन्होंने अपने समय की आधुनिक तकनीक का स्वागत जरूर किया लेकिन यह भारतीय आवश्यकताओं के अनुरूप करने के लिए अनुकूलित किये जाने पर भी जोर देते रहे। दीनदयाल एक रचनात्मक दृष्टिकोण वाले व्यक्ति थे अतः उन्होंने अपने समय की सरकार के साथ सहयोग करने के लिए सभी को प्रोत्साहित भी किया और उनकी गलती पर निडर होकर विरोध भी करते रहे। उनका बस इतना कहना था कि सब कुछ राष्ट्र हित में होना चाहिए।

दीनदयाल जी के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करने से पता चलता है कि वे किसी समुदाय या वर्ग का नहीं बल्कि पूरे देश की सेवा करने का वादा कर रहे थे। उनके लिए प्रत्येक ग्रामवासी हमारे शरीर के रक्त और मांस का खून है। हर एक भारतमाता के बच्चे हैं। जब तक हम उनमें गर्व की भावना नहीं दे सकते तब तक हम आराम नहीं करेंगे।

उपाध्याय जी साहित्यिक प्रतिभा के भी धनी थे। जब उन्होंने पांचजन्य (साप्ताहिक) और लखनऊ से स्वदेश (दैनिक) को संपादित किया तो यह बात सबको नजर आने लगी थी। हिंदी में उन्होंने एक नाटक चंद्रगुप्त मौर्य लिखा है और बाद में शंकराचार्य की जीवनी लिखकर उन्होंने ये बात साबित भी कर दी। उपाध्याय जी व्यक्तित्व नितान्त सरल और सौम्य स्वभाव वाले व्यक्ति थे। हिंदी साहित्य में उनकी गहरी अभिरुचि थी। उनके हिंदी और अंग्रेजी के लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहते थे। विलक्षण बुद्धि, सरल व्यक्तित्व एवं नेतृत्व के अनगिनत गुणों के स्वामी भारतीय राजनीतिक क्षितिज के इस प्रकाशमान सूर्य ने भारतवर्ष में समतामूलक राजनीतिक विचारधारा का प्रचार एवं प्रोत्साहन करते हुए उच्च-कोटि के दर्शन को प्रस्तुत किया।

दीनदयाल जी के व्यक्तित्व के महत्व को आप इसी से समाज सकते हैं कि उन्होंने जनसंघ के राष्ट्र जीवन दर्शन के निर्माता के रूप में अपनी पहचान बनाई है। उन्होंने संघ के उद्देश्य और स्वतंत्रता की पुनर्चना के

प्रयासों के लिए विशुद्ध भारतीय तत्व-दृष्टि भी प्रदान करी। उन्होंने भारत की सनातन विचारधारा को युगानुकूल रूप में प्रस्तुत करते हुए एक नयी आर्थिक राजनीतिक दार्शनिक नीति का उद्भव किया। उन्होंने कहा कि आर्थिक विकास का मुख्य उद्देश्य सामान्य मानव का सुख है या उनका विचार है। विचार स्वातंत्र्य के इस युग में मानव कल्याण के लिए अनेक विचारधारा को पनपने का अवसर मिलना चाहिए। इसमें साम्यवाद, पूंजीवाद, अन्त्योदय, सर्वोदय आदि मुख्य हैं। किन्तु चराचर जगत को सन्तुलित, स्वस्थ व सुंदर बनाकर मनुष्य मात्र पूर्णता की ओर ले जा सकने वाला एकमात्र दर्शन सनातन धर्म है जो जीवन-विज्ञान, जीवन-कला व जीवन-दर्शन की व्याख्या करता है।

दीनदयाल जी महान आत्मा के रूप में भी जाना जाता है वे राष्ट्रवादी होते हुए भी अंतराष्ट्रीयवादी थे। उन्होंने कहा कि “वसुधैव कुटुम्बकम्” हमारी सभ्यता से प्रचलित है। यह विचारधारा सम्पूर्ण विश्व को एक गांव के रूप में मानती है। इसी कारण भारत में भी सभी धर्म को समान अधिकार प्राप्त हैं। संस्कृति से किसी व्यक्ति, वर्ग, राष्ट्र आदि की वे बातें जो उनके मन, रुचि, आचार, विचार, कला-कौशल और सभ्यता का सूचक होता है। दो शब्दों में कहें तो यह जीवन जीने की शैली है। भारतीय सरकारी राज्य पत्र (गजट) इतिहास व संस्कृति संस्करण में यह स्पष्ट वर्णन है कि हिन्दुत्व और हिंदूइज्म एक ही शब्द हैं तथा यह भारत के संस्कृति और सभ्यता का सूचक है। उनका राजनीतिक व्यक्तित्व सभी को प्रभावित करता था। वे भारतीय राजनीति को आगे ले जाना चाहते थे वह धारा हिन्दुत्व की थी। जिसका संकेत उन्होंने अपनी कुछ कृतियों में ही दे दिया था। तभी तो कालीकट अधि वेशन के बाद विश्व भर के मीडिया का ध्यान उनकी ओर गया।

दीनदयाल जी की सादगी भरी जीवनशैली वाला व्यक्तित्व ही उन्हें सबसे अलग करती है। क्योंकि उनकी इतने बड़े नेता होने के बाद भी उन्हें जरा सा भी अहंकार नहीं था। उपाध्याय जी नितान्त सरल और सौम्य स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी सादगी का अंदाजा आप इसी बात से लगा सकते हैं कि उन्होंने धोती तथा कुर्ते में और अपने सिर पर टोपी लगाकर सरकार द्वारा संचालित प्रतियोगी परीक्षा दी जबकि दूसरे उम्मीदवार पश्चिमी सूट पहने हुए थे।

पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी व्यक्तित्व पश्चिमी अवधारणा से बिलकुल विपरीत था। उन्होंने पश्चिम की इस अवधारणा को खारिज कर दिया कि मानव जीवन के समस्त क्रियाकलापों का उद्देश्य सुख की प्राप्ति है और मानव के यह क्रियाकलाप ही उसके विकास का रास्ता है। पश्चिम के लोग और शायद हमारे देश के नीति निर्धारक भी यह मानते हैं कि जहां ज्यादा उपभोग होते हैं वहां ज्यादा सुख होता है और वही विकास की प्रतीक होता है। परंतु पंडित दीनदयाल उपाध्याय उपभोग या सुख को विकास का पर्याय नहीं मानते थे। वे इसके लिए एक अत्यंत सुंदर उदाहरण दिया करते थे। वह कहते थे कि व्यक्ति को गुलाब जामुन खाना अच्छा लगता है। व्यक्ति को लगता है कि गुलाब जामुन खाने से सुख प्राप्त हो रहा है। किन्तु मान लीजिये कि जब व्यक्ति गुलाब जामुन खा रहा हो तो उसके पास उसके किसी परिजन के देहांत की सूचना आ जाए। तब भी व्यक्ति वही रहेगा और उसके हाथ में वही गुलाब जामुन रहेगा फिर भी सुख उसके पास नहीं होगा। यदि गुलाब जामुन में ही सुख है तो फिर उस समय भी व्यक्ति को सुख प्राप्त होना चाहिए था। किन्तु ऐसा होता नहीं है।

पश्चिम में व्यक्ति की जीवन को टुकड़े-टुकड़े में विचार किया जबकि भारतीय चिंतन में व्यक्ति के जीवन का पूर्णता के साथ संकलित विचार किया है। पंडित दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार हमारे चिंतन में व्यक्ति के शरीर, मन बुद्धि और आत्मा सभी का विकास करने का उद्देश्य रखा है। उसकी सभी भूख मिटाने की व्यवस्था है। किन्तु यह ध्यान रखा कि एक भूख को मिटाने के प्रयत्न में दूसरी भूख न पैदा कर दें और दूसरे के मिटाने का मार्ग न बंद कर दें। इसलिए चारों पुरुषार्थ को संकलित विचार किया गया है। यह पूर्ण मानव की कल्पना है जो हमारे आराध्य तथा आराधना का साधन दोनों ही हैं। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने पश्चिम के खंडित अवधारणा के विपरीत इस आवश्यकता पर जोर दिया कि हमारे चिंतन को व्यावहारिक स्तर पर उतारने का प्रयास किया जाए।

पं दीनदयाल जी के व्यक्तित्व को कुछ शब्दों में पिरो पाना बड़ा कठिन है। वे एक कुशल संचालक लेखक पत्रकार, राजनीतिज्ञ संगठनकर्ता और दार्शनिक थे। इस साधारण पुरुष में असाधारण विद्वता महानता का पूर्ण समावेश था। उनका बाह्य आडम्बरों से कोई लेना-देना नहीं था। समाज का

उत्थान उनका सर्वोपरि गुण था। वे कहते थे कि मनुष्य जन्म से नहीं अपितु कर्म से महान बनता है। कम बोलना अधिक सुनना उनका विशेष गुण था।

उन्होंने अपने जीवन को जिन्दगी की भट्टी में झोंक दिया। तब वे महान व्यक्ति कहलाए और लोगों ने उनके कार्य उनके आदर्श को अपनाया अर्थात् महान त्याग करके महान बना जाता है। महानता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसे बाजार से खरीदा जाए और महान बना जाए। महान पुरुषों की श्रृंखला में पं. दीनदयाल उपाध्याय जी का व्यक्तित्व हमेशा समाज के अंतिम व्यक्ति तक अपनी जगह बाटे रहेंगे। क्योंकि दीनदयाल जी ने स्वयं को मानव-सेवा समाज-सेवा और देश-सेवा के लिए समर्पित कर दिया था। जब देश के सामने अनेक समस्याएँ हैं, भ्रष्टाचार बढ़ रहा है, सामाजिक दायरे सिकुड़ रहे हैं। ऐसे कठिन समय में उचित मार्गदर्शन के लिए पंडित दीनदयाल जैसे महापुरुषों के विचार हमेशा प्रेरणास्त्रोत बने रहेंगे। पंडित दीनदयाल जी का व्यक्तित्व में कथनी और करनी में तनिक भी भिन्नता नहीं थी। वैसे तो पंडित दीनदयाल जी के जीवन के विषय में अधिक पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं लेकिन उन्होंने स्वयं जो लिखा वह उनके विचारों के रूप में हमारे लिए अमूल्य धरोहर है।

कहते हैं कि समय बड़ा बलवान होता है। इसके प्रहारों से शक्तिशाली और तेजस्वी व्यक्ति भी बलहीन आश्रयहीन और तेजहीन होकर नष्ट हो जाता है। केवल उसी का अस्तित्व बचता है जो इसके कठोर प्रहारों को धैर्य त्याग और शांतभाव से सहन कर ले। दीनदयाल जी ने अपने यश, विद्वता और सम्मान के उस शिखर पर प्रतिशत जहां पहुँचने की केवल कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

आधुनिक भारत के चाणक्य : दीनदयाल उपाध्याय

नैतिकता के सिद्धांतों को कोई एक व्यक्ति नहीं बनाता है,
बल्कि इनकी खोज की जाती है।

दीनदयाल जी को आधुनिक भारत का चाणक्य कहा जाता है क्योंकि उन्होंने स्वतंत्र भारत की दशा और दिशा का उल्लेख अपनी पुस्तकों और अपने भाषणों में हमेशा किया था. आज उनके विचारों को जन जन तक पहुंचने की आवश्यकता है। भारत के परिपेक्ष में ऐसा कोण सा विषय है जिस पर उन्होंने अपनी बात नहीं रही. राजनीति सामाजिक दार्शनिक यहाँ तक कि विदेशी विचारधाराओं के विषय में भी अपनी बात कही. जब उन्होंने 1965, मुंबई में अपना भाषण दिया तो वह पूरे भारतवर्ष के लिए एक नजीर बन गया जिसमें स्वतंत्र भारत की दशा और दिशा का उल्लेख मिलता है। यही से आधुनिक भारत के चाणक्य का उदय होता है. उन्होंने अपने भाषण में कहा था कि “हमारा देश ब्रिटिश शासन के अधीन रहा। देश के सभी आन्दोलनों एवं नीतियों का उद्देश्य विदेशी शासकों को भगाना एवं स्वतंत्रता प्राप्त करना था। स्वतंत्रता के पश्चात भारत का क्या स्वरूप, उभरेगा? हमारी दिशा क्या होगी? इन पर भी विचार हुआ। यह कहना ठीक नहीं होगा कि इन पहलुओं पर कोई विचार नहीं हुआ। हमारे समाज में उस समय भी ऐसे लोग विद्यमान थे जिन्होंने इन प्रश्नों पर विचार किया। स्वयं गांधी जी ने अपनी पुस्तक ‘हिन्द स्वराज’ में स्वतंत्र भारत के संबंध में अपने विचार प्रस्तुत किए थे। इससे पूर्व, लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक ‘गीता रहस्य’ में दर्शनशास्त्र के आधार पर भारत के पुनर्जागरण पर विचार-विमर्श किया। उन्होंने तात्कालिक विश्व

की विचारधाराओं का तुलनात्मक विचार-विमर्श किया है”

उन्होंने भारत के बारे में सोचने वाले तमाम लोगों को संबोधित करते हुए कहा कि “कांग्रेस एवं अन्य राजनैतिक पार्टियों ने समय-समय पर विभिन्न संकल्पों को अंगीकार किया था जिसमें इस विषय के कई सन्दर्भ शामिल थे। लेकिन देश की दशा और दिशा विषय पर और अधिक गंभीर अध्ययन किए जाने की आवश्यकता थी। इस मुद्दे पर गंभीर रूप से ध्यान इसलिए भी नहीं दिया गया था क्योंकि सभी का विश्वास था कि पहले ब्रिटिश शासकों को भगाया जाए तत्पश्चात् अन्य मुद्दों पर विचार किया जाए। यह संगत प्रतीत नहीं होता कि विदेशी शासकों के रहते हुए आन्तरिक मामलों पर समय व्यर्थ किया जाए इसलिए विचारों में भिन्नता होने पर भी उन्होंने थोड़े समय के लिए इसे निकाल दिया.”

दीनदयाल जी ने न सिर्फ अपने समकालीन विचारक को समझा बल्कि अपनी बेबाकी से भी भारतवासियों का मन मोह लिया। उन्होंने बताया कि “कुछ लोग भावी भारत का आधार समाजवाद में देखते थे, वे समाजवाद के एक समूह के रूप में कांग्रेस में कार्य करते रहे। उन्होंने एक अलग पार्टी का गठन का प्रयास किया। क्रांतिकारी अपने-अपने तरीकों से स्वतंत्र रूप से कार्यरत थे। सभी लोग अलग अलग तरीके से अलग अलग सोच रखते थे यही भारत के लिए ठीक नहीं था”

दीनदयाल जी का स्पष्ट मानना था की अब देश आजाद हो चुका है और देश के भविष्य के बारे में अब नहीं सोचा जायेगा तो कब हम भारत की दशा और दिशा के बारे में बात करेंगे। उन्होंने आपने विचारों को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया। “स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात स्वाभाविक रूप से प्रश्न यह उभर कर आया कि अब हम स्वतंत्र हैं, हमारी प्रगति की क्या दिशा होगी? यह एक गंभीर चिन्तन का विषय है कि आज स्वतंत्रता के इतने वर्ष के पश्चात भी हम यह नहीं कह सकते हैं कि कौन सी दिशा निर्धारित की गई है।

दीनदयाल जी अपनी दूर दृष्टि से स्पष्ट देख रहे थे कि सरकार सिर्फ दावों और सिद्धांतों पर काम कर रही है लेकिन गरीब लोगों के लिए इस सरकार ने कुछ भी नहीं किया। वे वे उस भारत के लोगों के बारे में सोच रहे थे जो अभी तक मुख्यधारा में नहीं आए थे। उन्होंने सामने बैठी जनता

को संबोधित करते हुए कहा कि “समय-समय पर कांग्रेस के कार्यकर्ताओं अथवा अन्यो ने अपने उद्देश्यों के अनुरूप देश को कल्याणकारी राज्य, समाजवाद उदारवाद घोषित किया है। नारे गढ़े गए परन्तु इन सैद्धांतिक नारों का दर्शन से कुछ लेना-देना नहीं था।”

जैसे चाणक्य ने राज्य को संचालित करने के लिए नीति निर्धारण की अपनी सोच समाज को दी. उसी प्रकार आधुनिक भारत की राजनीतिक व्यवस्था को वे बहुत अच्छी तरह से समझ चुके थे. जब उनसे पूछा गया कि कांग्रेस के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा होना चाहिए ताकि एक मजबूत टक्कर दी जा सके। उन्होंने अपनी बात को और गहराई से रखते हुए कहा कि “मैं पूछता हूँ कि हमें आगे क्या कार्यक्रम अंगीकार करना होगा? यदि ऐसा संयुक्त मोर्चे का गठन होता है तब हमारी आगे क्या आर्थिक नीति होगी? हमारी विदेश नीति क्या होगी? इन प्रश्नों पर गंभीरता से विचार किया जाना चाहिए।” दीनदयाल जी वर्तमान सभी पार्टियों पर बारीकी से नजर रखे हर थे उन्होंने ने स्पष्ट कहा की वर्तमान राजनीतिक पार्टियाँ अपने उद्देश्य को भूल चुकी है और सत्ता प्राप्त करना ही उनका आखिरी मकसद है। जिसका जिक्र भी उन्होंने उदाहरण सहित दिया- “हाल ही में केरल में चुनाव हुए थे। मार्क्सवादी, मुस्लिम लीग, स्वतंत्र पार्टी, एस.एस.पी. विरोधी कांग्रेस, जो कि केरल कांग्रेस के रूप में जानी जाती है, क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी इत्यादि ने चुनाव के दौरान गठबंधन किया। इन पार्टियों की परिभाषा, विचारधारा, सिद्धांत एवं उद्देश्य अलग-अलग हैं। जहां तक सिद्धांतों का संबंध है, अब इस प्रकार की स्थिति है। कांग्रेस की भी यह स्थिति है। उसने अपने उद्देश्यों में प्रजातांत्रिक समाजवाद का दावा किया है परन्तु कांग्रेस के विभिन्न नेताओं के व्यवहार से स्पष्ट रूप से एक तथ्य उभर कर सामने आया है कि कांग्रेस की कोई परिभाषा, सिद्धांत एवं निर्देश नहीं है। कांग्रेस में कम्युनिस्ट भी है जो पूंजीवाद में विश्वास करते है वे समाजवाद का विरोध करते है। कांग्रेस में सभी श्रेणी के व्यक्ति हैं। अतः हम कांग्रेस में सभी श्रेणी के व्यक्ति हैं। अतः हम कांग्रेस को एक ऐसा जादुई पिटारा कह सकते हैं जिसमें नाग एवं नेवला एक साथ रहते हैं। इसी लिए संयुक्त मोर्चे पर बात करने से पहले देश की दशा और दिशा स्पष्ट होनी चाहिए ”

चाणक्य की तरह ही दीनदयाल राज्य और राष्ट्र को महत्त्वपूर्ण मानते है

इसलिए उनका कहना था कि सबसे पहले हमें अपने राष्ट्र की पहचान के संबंध में विचार करना चाहिए। पहचान के बगैर कुछ भी अर्थ नहीं नहीं होता और तभी स्वतंत्रता भी खुशहाली एवं प्रगति का स्रोत बन सकती है। जब तक हम अपनी राष्ट्रीय पहचान के संबंध में जागरूक नहीं होंगे तब तक हम अपनी सभी संभावनाओं का विकास नहीं कर सकते।

उन्होंने अपने विचारों को और अधिक विस्तृत करते प्रकृति पर भी अपने विचार दिए जो आज भी भारतीय समाज का पथ प्रदर्शक बन सकते हैं। उन्होंने एक दार्शनिक की तरह अपने विचार प्रस्तुत किये कि “राष्ट्र स्वतंत्र रहने के इच्छुक होते हैं ताकि वे प्राकृतिक स्वरूप के अनुभव, विकास एवं अपने प्रयासों में तेजी ला सकें। प्रकृति शक्तिशाली है। प्रकृति के विरुद्ध जाने से समस्याएँ उत्पन्न होंगी। प्रकृति को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। यह संभव है कि संस्कृति के स्तर को प्राकृतिक संसाधनों के साथ उन्नत करें। दीनदयाल जी विश्व के दार्शनिकों के हवाले से कहा कि कि विभिन्न प्राकृतिक घटकों की अवहेलना करके हमने विभिन्न मानसिक विसंगतियाँ पैदा कर ली हैं। ऐसा व्यक्ति अशान्त एवं उदास रहता है। उसकी निपुणता धीरे-धीरे बिगड़ एवं भ्रष्ट हो गयी है। जब प्राकृतिक संपदाओं को अनदेखा किया गया तब पूरे राष्ट्र में कई विकार उत्पन्न हुए। भारत के सामने आ रही समस्याओं का प्रमुख कारण अपने राष्ट्र की पहचान की अवहेलना करना है।

उनका चेतावनी देते हुए साफ साफ शब्दों में कह दिया कि वे लोग जो आज देश का नेतृत्व कर रहे हैं एवं जो देश के मामलों में सक्रिय रुचि रखते हैं वे अधिकतर मूल कारणों से परिचित नहीं हैं।

परिणामस्वरूप, हमारे देश की राजनीति में अवसरवादियों का बोल-बाला हो गया है। पार्टियों एवं राजनीतिज्ञों का न तो कोई सिद्धांत अथवा उद्देश्य अथवा न आचरण की कोई मानक संहिता रह गयी है। कोई भी राजनैतिक व्यक्ति किसी भी पार्टी को छोड़ने एवं अन्य पार्टी में भर्ती होने को बिलकुल भी गलत नहीं मानता। पार्टियों में भागीदारी एवं विलय अथवा उनका विभाजन न केवल करार के रूप में अथवा सिद्धांतों को भी परे रखते हुए चुनावों अथवा सत्ता की स्थिति को देखकर किया जाता है। देश के बारे में उनका स्पष्ट मानना था कि “राष्ट्र चौराहे पर खड़ा है। कुछ लोगों का सुझाव है कि हमें वहां से शुरू होना चाहिए जहाँ हमने एक हजार वर्ष पहले

छोड़ा था. जहां हमारे जीवन को विदेशी शासकों ने छोड़ा था। परन्तु राष्ट्र कोई कपड़ा मात्र नहीं है जिसे समय के अंतराल में बदलकर पहन लिया जाए। इसके अतिरिक्त यह कहना भी तर्कसंगत नहीं होगा कि हजार वर्ष पूर्व के विदेशी शासन ने हमारे राष्ट्रीय जीवन में पूर्णतया बाधक बना दिया है। बदलते हुए परिवेश में आ रही चुनौतियों का सामना करने में हम सक्षम हैं। हमें अपने जीवन में संघर्ष को जारी रखना होगा। आज विसंगतियां हैं। बनारस में गंगा जल उतना स्वच्छ नहीं जितना हरिद्वार में है लेकिन फिर भी वह गंगाजल है और पवित्र गंगा है।

भारतीय इतिहास में दीनदयाल जी जैसा विचारक बहुत कम हुए, उससे भी ज्यादा जब उनकी तुलना चाणक्य से करते हैं. दीनदयाल जी ने राष्ट्र को संचालित करने के लिए ऐसा कोई भी विषय नहीं छोड़ा जिस पर उन्होंने अपने विचार नहीं रखे. उनके राजनीतिक सामाजिक आर्थिक दार्शनिक और भारतीय समाज को समझने की उनकी दुर्लभ बुद्धि की बदौलत ही उनको आधुनिक भारत का चाणक्य कहा जाता है.

सामाजिक चिंतन

भारत में नैतिकता के सिद्धांतों को धर्म के रूप में माना जाता है- यानि जीवन के नियम।

यदि किसी व्यक्ति के बारे में मुकम्मल राय बनानी हो तो सबसे पहले उसके सामाजिक विचारों को देख लेना चाहिए। दीनदयाल जी का सम्पूर्ण जीवन दर्शन समाज के सभी लोगों को रह दिखाते दिखाई देते हैं लेकिन उनके सामाजिक और आर्थिक चिंतन बहुत ज्यादा बात नहीं की गयी है। इसी लिए सबसे पहले हम उनके सामाजिक चिन्तन पर बात करेंगे।

दीनदयाल जी का मानना था कि स्वतंत्रता के पश्चात भी अपने देशवासियों के चहुंमुखी विकास के लिए समाज की अन्तर्निहित सामाजिक संरचना को समझना आवश्यक है। जिसके अच्छे और बुरे दोनों ही पहलू होते हैं। सामाजिक चिंतन के अभाव में तमाम सामाजिक समस्याओं को सुलझाना बहुत कठिन काम है। इसके लिए निरंतर प्रयास करने की जरूरत है, तभी हम समाज की सामाजिक समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं।

आधुनिक बनाम प्राचीन समाज

आधुनिक भारत की सही-सही तस्वीर प्रस्तुत करने के लिए प्राचीन भारत का अध्ययन भी बहुत जरूरी होता है। दीनदयाल जी का अपना एक मत था कि समाज को देखने के कई विचार समाज में मौजूद हैं। वे भिन्न समूहों में बिखरे पड़े हैं जिन्हें शामिल करना पड़ेगा। दूसरी ओर ऐसे लोग हैं जो कि इन सभी का खंडन करते हैं और इस संबंध में किसी पर भी विचार करने के लिए तैयार नहीं हैं। दीनदयाल इस विषय में सोचते हैं कि ये दोनों विचारधाराएँ गलत हैं एवं आंशिक सत्य का प्रतिनिधित्व करती हैं परन्तु यह भी हमारे लिए उचित नहीं होगा कि हम इन्हें निकाल दें। वे लोग

जो हजारों वर्ष पूर्व छोड़ गए समय की वकालत करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि यह वांछनीय हो अथवा न हो परन्तु निश्चित रूप से यह असंभव है। समय की प्रवृत्ति को वापिस नहीं लाया जा सकता है।

दीनदयाल जी सामाजिक जीवन की विसंगतियों को अच्छी तरह से समझते थे उन्होंने एक स्थान पार कहा था कि पूर्व के लिए हजारों वर्ष में हमने जो अपनाया क्या यह हम पर दबाव था? हम अब इसे इच्छानुसार अस्वीकार कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त हम वास्तविकता का अहसास थोड़े समय के लिए के लिए नहीं कर सकते हैं। हम अपने जीवन में सदैव कर्म प्रधान नहीं रह सकते हैं चाहे हमारे लिए कितनी ही नई चुनौतियों की स्थिति क्यों न हों। हमें अपने जीवन के पुनः निर्माण के लिए नई स्थितियों की आवश्यकता के अनुसार प्रयास करना है। इसलिए हमें अपनी आंखों पर यह परदा नहीं डालना होगा कि यह एक हजार वर्ष पहले घटित हुआ है। दीनदयाल जी का मानना था कि हमें प्राचीन और आधुनिक सभी स्थितियों पर विचार विमर्श करना पड़ेगा।

प्रगति का आधार पश्चिम नहीं

जब तक आप किसी भी समाज का तुलनात्मक अध्ययन नहीं करते तो आप समग्रता से कोई भी राय समाज को दे नहीं सकते हैं। इसी लिए दीनदयाल जी ने न सिर्फ प्राचीन भारत का अध्ययन किया बल्कि विदेशी सभ्यताओं का भी अध्ययन किया था। सामान्यता जो लोग भारतीय समाज की प्रगति का आधार पश्चिम की विचारधाराओं को बनाना पसंद करते हैं, वे भूल जाते हैं की ये सभी विचार धाराएँ कुछ विशेष स्थितियों में एवं नियत समय में ही उभरी हैं। ये अनिवार्य रूप से सर्वव्यापी नहीं हैं। वे इस विशेष लोगों की सीमाओं से मुक्त नहीं हो सकती हैं एवं उनकी संस्कृति इन वादों को जन्म देती हैं। इसके अतिरिक्त इनके कुछ उपाय पहले ही पुराने हो गये हैं। मार्क्स के कुछ सिद्धांत बदलते हुए परिवेश के साथ-साथ विविध स्थितियों के अनुरूप बदल गए हैं। हमारे देश के सम्मुख समस्याओं के लिए मार्क्सवाद की याचिका वैज्ञानिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया के बराबर होगी। यह हैरानी की बात है कि जो मृतक परम्पराओं को हटाने के द्वारा समाज में सुधार लाना चाहते हैं वे अपने आपको कुछ पुरानी विदेशी परम्पराओं में झोंकना चाहते हैं।

प्रत्येक देश की अपनी ऐतिहासिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति होती है एवं देश के नेता समय-समय पर इसकी पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए लोगों की समस्याओं के निराकरण के संबंध में निर्णय लेना पड़ेगा। यह तथ्य परक कथन है कि हमारे देश के नेताओं द्वारा लोगों की समस्याओं को दूर करने के लिए किए गए निराकरण सभी पर लागू होते हैं। यह आसान उदाहरण सभी के लिए पर्याप्त होगा जबकि सभी मानवों में समान रूप से जैविक आधार की गतिविधि पाई जाती है तथा एक दवाई यदि इंग्लैंड में सहायक हो सकती है तो यह अनिवार्य नहीं है कि भारत में भी सहायक हो। बीमारियाँ मौसम, पानी, खाने की आदतों एवं आनुवंशिकता पर निर्भर बहुत ज्यादा निर्भरता रहती है।

हालांकि आन्तरिक लक्षण स्पष्ट रूप से समान हो सकते हैं फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि समान दवाई सभी व्यक्तियों को रोग मुक्त करें। वे व्यक्ति जिन्होंने सभी दवाइयों के लिए शोधन-कार्य किया है वे डॉक्टरों की अपेक्षा में इलाज के लिए नीम-हकीम कहे जा सकते हैं। इसलिए आयुर्वेद में कहा गया है कि प्रत्येक स्थान पर बीमारी के इलाज के लिए एक उचित स्थान की तलाश की जानी चाहिए। इसलिए यह सम्भव और न ही हितकारी होगा कि हमारे देश में मूल रूप में विदेशी वादों को अंगीकार किया जाए। यह हमारी खुशियाँ एवं समृद्धियों को प्राप्त करने में भी सहायक नहीं होगा।

दूसरी ओर यह आवश्यक नहीं है कि अन्यत्र रूप में फैले सभी विचार एवं सिद्धांत स्थान एवं समय के अनुरूप स्थानीय हो। किसी भी विशेष स्थान-समय एवं सामाजिक वातावरण में मानव का प्रत्युत्तर कई मामलों के परस्पर संबंध रखता है एवं अन्य समयों पर अन्यत्र रूप से अन्य मानव

द्वारा प्रयोग किया जाता है। इसलिए अन्य समाजों के भूत अथवा वर्तमान में किए गए विकास से अपेक्षा रखना ठीक नहीं है। सत्य जो भी हो इन विकासों के अंतर्दृष्टि को स्वीकार नहीं करना चाहिए एवं शेष को ईमानदारी से उपेक्षित करना चाहिए। अन्य समाज के विवेक का समावेश करते हुए यह उचित होगा कि हम उनकी गलतियों अथवा विकृतियों पर ध्यान न दे। उनके विवेक को हमें विशेष परिस्थितियों में अंगीकार किया जाना चाहिए। संक्षिप्त रूप में हमें उनके पूरे समाज के ज्ञान, प्राप्तियाँ, आन्तरिक सिद्धांतों एवं सत्य को अंगीकार करना चाहिए। दीनदयाल जी भारत को एक विशेष

संरचना वाला देश मानते हैं इसीलिए यह पर बदलाव लाने के लिए भारतीय पद्धति का आविष्कार करना पड़ेगा तभी हम विदेशी को अपने अनुसार अंगीकृत कर सकते हैं।

भारतीय सामाजिक संरचना का आकर्षण

दुनिया में भारत की सामाजिक संरचना सबसे जटिल मानी जाती है क्योंकि देखा गया है कि सभी विचारधाराएं भारत में आकर दम तोड़ देती हैं। आज मानवता सन्देह के चौराहे पर खड़ी है एवं भविष्य की प्रगति के लिए सही रास्ते के निर्णय को लेने के असमर्थ है। पश्चिम विश्वास के साथ कहने की स्थिति में नहीं है कि उसके पास एक सही रास्ता है। वह अपने आप ही रास्तों की तलाश में है। इसलिए सामान्य ढंग से यह कहा जा सकता है कि पश्चिम का अनुसरण इस तरह का है कि एक नेत्रहीन व्यक्ति द्वारा दूसरे नेत्रहीन व्यक्ति को राह दिखाना। इस स्थिति में हमारा ध्यान भारतीय सामाजिक स्थिति की ओर जाना स्वाभाविक है जहाँ हमारी सामाजिक संरचना विश्व को आज भी आकर्षित कर रही है।

राष्ट्रीय मंचों पर भी हमें अपनी सामाजिक स्थिति पर ही विचार करना होगा क्योंकि हमारी सामाजिक संरचना बहुत ही व्यापक है। यदि किसी भी विमर्श में सामाजिक जीवन का आधार नहीं जुदा होता है तो तब देश के सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक आन्दोलन स्वार्थ में लीन हो जाएंगे और सत्ता के इच्छुक लोगों के लिए अधिक सार्थक होगा। पश्चिमी सिद्धांत मानव सोच में क्रांति को उत्पन्न करते हैं एवं सामाजिक रूप में परस्पर विरोधी हैं। वे मानवता के साथ व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं का प्रतिनिधि करते हैं अतः यह उचित नहीं है कि इनकी उपेक्षा की जाए बल्कि उनको अच्छी तरह से समझा जाये। जब तक किसी देश की संरचना को ठीक से समझा नहीं जा सकता तब तक हम किसी भी प्रकार के परिवर्तन नहीं कर सकते हैं यह भारत के भी लागू होता है। पश्चिम में प्रमुख रूप में समूहों में जीवन की सोच की प्रवृत्ति में एवं कार्य में एक दूसरे के साथ के लिए किए जाने वाले प्रयासों में भ्रान्तियाँ हैं। हम स्वीकार करते हैं कि जीवन में विविधताएँ हैं परन्तु हम सदैव एकता की खोज प्रमुखता से करते हैं। यह प्रयास पूर्णतया वैज्ञानिक होता है। वैज्ञानिक सदैव विश्व में प्रत्यक्ष अव्यवस्था से संबंधित

खोज कार्य, विश्व में शासित सिद्धांतों का पता लगाना एवं इन सिद्धांतों पर आधारित व्यावहारिक नियमों की ढांचे का निर्माण के संबंध में खोज करते हैं। रसायनज्ञों ने खोज की है कि कुछ तत्व पूरे भौतिक विश्व में समाविष्ट होते हैं। भौतिक शास्त्र ने एक कदम इससे आगे बढ़ाकर पाया है कि केवल इन तत्वों में ही ऊर्जा समाविष्ट होती है। आज हम जानते हैं कि पूरे विश्व केवल ऊर्जा का ही एक रूप है। दार्शनिक मुख्य रूप से वैज्ञानिक होते हैं। पश्चिमी दार्शनिकों ने द्वैत के सिद्धांत की युक्ति, हेगल ने शोध, प्रतिपक्ष शोध और संश्लेषण एवं कार्ल मार्क्स ने इन सिद्धांतों का प्रयोग इतिहास एवं अर्थशास्त्र के अपने विश्लेषण पर आधार के रूप में प्रस्तुत किया है। परन्तु हमारे देश में हम जीवन में मुख्य रूप में एकता को देखते हैं।

विविधता में एकता

दीनदयाल जी ने सबसे पहले भारत की विविधता को समझने का सबसे पहला प्रयास किया था यही कारण है कि उनके विचार आज भी प्रासंगिक माने जाते हैं। भारतीय समाज की प्रमुख खासियत है विभिन्न रूपों में विविधता में एकता की अभिव्यक्ति पाई जाती है। यदि इस सत्य को सर्वत्र रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो विभिन्न सत्ताओं के बीच परस्पर विरोध का कोई कारण नहीं होना चाहिए। परस्पर संघर्ष संस्कृति का संकेत नहीं है अपितु उनकी गिरावट का प्रतीक है। जंगल का कानून “जीवित रहने के लिए उपयुक्त” हो सकता है जिसकी हाल ही के वर्ष में खोज की है। इसकी जानकारी हमारे दार्शनिकों को भी है। हम मानव स्वभाव की छः न्यूनतम प्रवृत्तियों जैसे इच्छा एवं क्रोध इत्यादि को मान्यता देते हैं। परन्तु हम इनको अपनी सभ्य सामाजिक जीवन का आधार नहीं मानते हैं हमारे समाज में चोर एवं लुटेरे भी हैं। यह अनिवार्य है कि हम अपने समाज को इन तत्वों से दूर रखें। हम उन्हें अपने आदर्श एवं मानव चरित्र का स्तर नहीं मान सकते हैं। “जीवित रहने के लिए उपयुक्त” एक जंगल के कानून के आधार पर हमने विकास नहीं किया है। परन्तु विचारणीय यह है कि इस नियम का प्रचालन मानव जीवन में कम कैसे होगा। यदि हम विकास के इच्छुक हैं तब हमें सभ्यता का इतिहास अपने चिंतन में रखना होगा।

पूरे विश्व में सहयोग बाहुल्य रूप में संघर्ष एवं मुकाबले के रूप में

पाया जाता है। वनस्पति एवं पशु जीवन एक दूसरे को जीवित रखते हैं। हम वनस्पति जीवन की सहायता से आक्सीजन की आपूर्ति प्राप्त करते हैं जिससे हम पशुपालन के विकास के लिए अनिवार्य कार्बन-डाई-आक्साइड उन्हें मुहैया करते हैं। यह इस भूमण्डल में परस्पर सहयोग का जीता-जागता उदाहरण है। दीनदयाल जी सामाजिक संरचना को समझने के लिए एक ऐसे तत्व की बात करते हैं जो सकारात्मक है जो सर्वव्यापी है।

जीवन के विभिन्न रूपों के बीच विद्यमान परस्पर आहार का आदान-प्रदान इस तत्व की मान्यता का आधार है जो मानव जीवन को परस्पर लाने का प्रयास है और यही मानव-सभ्यता का प्रमुख लक्षण है। सामाजिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रकृति को मोड़ना पड़ता है परन्तु जब यह प्रकृति सामाजिक संघर्ष को जन्म देती है तब यह हानिकारक है। आइए एक आसान उदाहरण लेते हैं। भाई, बहन, माता एवं पुत्र, पिता एवं पुत्र के रिश्ते प्राकृतिक हैं।

ये मानव एवं पशुओं में समान रूप से पाये जाते हैं। जिस प्रकार दो भाई बेटे हैं एक माँ के, उसी प्रकार दो बछड़े हैं एक गाय माँ के। फिर उनमें अन्तर क्या है? पशुओं में स्मृति की कमी होने से सम्बन्धों की अवधि कम होती है। वे इन सम्बन्धों पर सभ्यता की नींव नहीं रख सकते हैं। परन्तु मनुष्य इस प्राकृतिक संबंध का प्रयोग जीवन में सुव्यवस्था के निर्माण के लिए तथा इन मुख्य संबंधों से अन्य संबंधों में प्रवाह स्थापित करने के लिए करता है जिससे पूरा समाज सहयोग की एक इकाई बन सकें। तथापि विभिन्न मूल्य तथा परम्पराएं निर्मित की गई हैं। तदनुसार अच्छे एवं बुरे मानकों का निर्माण किया गया है। समाज में हम भाइयों के बीच प्यार एवं दुश्मनी के उदाहरण पाते हैं। परन्तु हम प्यार को अच्छा समझते हैं एवं भाईचारे को बढ़ावा देते हैं। जबकि विपरीत प्रवृत्ति को अनुमोदित नहीं किया गया है। यदि विरोध तथा दुश्मनी मानव सम्बन्धों के आधार पर की जाए तब यह विश्व शांति के सपने को चकनाचूर ही तो करेगा।

एक माँ अपने बच्चे को जन्म देती है। माँ के प्यार को एक उच्च कोटि के प्यार का दर्जा दिया गया है। इसी अकेले आधार पर हम कह सकते हैं कि मानव का जीवन दुर्लभ है। कभी-कभी अपने बच्चे के प्रति माँ के स्वार्थ एवं क्रूरता के उदाहरण मिलते हैं। पशुओं की कुछ प्रजातियों में भूख

की संतुष्ट के अपनी सन्तान को निगल जाने के उदाहरण पाये जाते हैं। दूसरी ओर बन्दरों की माँ अपने बच्चे की मृत्यु के बाद भी उसे छाती से लगाए रखती है। दोनों प्रकार के व्यवहार जीवित प्राणियों में पाए जाते हैं। जिनमें से प्रकृति के दोनों सिद्धांत सभ्य जीवन के आधार पर बनाए जा सकते हैं। हम अकेले इस निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सकते हैं कि जीवन को संवारने के लिए कौन हमारी सहायता करेगा तथा यह भ्रान्ति सभ्य जीवन की ओर नहीं ले जा सकती है। मानव प्रकृति के दो स्वभाव क्रोध एवं लालच एक हाथ में तथा दूसरे हाथ में प्यार व त्याग रखता है। यह सभी हमारी समाज में विद्यमान होते हैं। क्रोध इत्यादि मानव एवं हिंसक पशुओं में भी पाए जाते हैं। इसके कारणों में यदि हम अपने जीवन में क्रोध करते हैं जीवन तब परिणामस्वरूप हमारे जीवन में मैत्री कम होगी इस स्थिति में हमें क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि कभी हमें क्रोध आता भी है तो हमें उस पर नियंत्रण करना चाहिए इससे हमारे जीवन का स्तर नियन्त्रित हो सकता है।

ऐसे नियम नीतिशास्त्र के सिद्धांतों के रूप में जाने जाते हैं। इन सिद्धांतों को किसी भी व्यक्ति द्वारा स्वरूप प्रदान नहीं किया गया है। इसके समुचित समांतर तथ्य गुरुत्वाकर्षण का नियम है। जिसमें हम यदि एक पत्थर को ऊपर की ओर फेंके तो जमीन पर आकर गिरेगा। इस गुरुत्वाकर्षण के नियम को न्यूटन द्वारा स्वरूप प्रदान नहीं किया गया है हालांकि उसने इसकी खोज की है। जब उसने वृक्ष की शाखा से सेब को नीचे जमीन पर गिरते हुए देखा तब उसने महसूस किया की ऐसा नियम विद्यमान होना चाहिए इसलिए उसने इस नियम की खोज की परन्तु उसने इसे स्वरूप नहीं दिया। सामान्य रूप में मानव सम्बन्धों से सम्बन्धित कुछ ऐसे सिद्धांत हैं उदाहरण के लिए यदि कोई गुस्सा करता है और उस पर नियन्त्रण कर लेता है तब पूरे मानव जाति को इसका लाभ मिलेगा। नीति शास्त्र में इन सिद्धांतों की खोज कर ली गई है।

किसी से भी झूठ न बोले एवं सत्य को जानें। यह एक सिद्धांत है। यह जीवन के प्रत्येक कदम पर स्पष्ट रूप से उपयोगी है। हम सच्चे व्यक्ति की प्रशंसा करें। यदि हम झूठ बोलते हैं तब हम अप्रसन्नता महसूस करते हैं जिससे जीवन अवरुद्ध हो जाएगा एक बड़ी भ्रांति पैदा हो जाएगी।

समाज का स्वतः निर्माण

दीं दयाल जी की अपनी एक दृष्टि थी कि समाज का निर्माण स्वभाविक रूप से हुआ है और उसका विकास भी स्वभाविक रूप से ही होगा। यह भी ध्यान देने वाली बात है की उन्होंने किसी भी पश्चिम की धरना को स्वीकार ही नहीं किया क्योंकि उनकी अवधारणाएं सिर्फ यूरोप तक ही सीमित थी। पश्चिम से जुड़े हुए लोगों पर जहाँ पश्चिमी-सामाजिक तथा राजनैतिक प्रभाव है, उनका मानना है की “समाज व्यक्तियों का एक समूह है जिसका अस्तित्व व्यक्तियों द्वारा मिलकर परस्पर समझौते, के लिए है।” इस दृष्टिकोण को सामाजिक संपर्क सिद्धांत का नाम दिया गया है। इस दृष्टिकोण से व्यक्ति को काफी महत्व दिया गया है। विभिन्न पाश्चात्य दृष्टिकोण में अंतर इन प्रश्नों के कारण है कि “यदि व्यक्ति समाज का सृजन करता है तो मुख्य संचालन शक्ति किसके हाथ में होगा? समाज के अथवा व्यक्ति के? क्या किसी व्यक्ति को यह अधिकार है कि वह समाज को बदल दे? क्या समाज अपने नियमों को व्यक्तिगत रूप से अधिरोपित करेगा और प्रत्येक से निश की अपेक्षा रखेगा अथवा व्यक्ति इन प्रश्नों को मानने के लिए स्वतंत्र है?”

वैसे तो व्यक्ति बनाम-समाज के प्रश्न पर पश्चिम में काफी विवाद है। कुछ लोगों का वहाँ यह मत रहा कि समाज के लिए वह सर्वोपरि है जिस कारण विवाद का जन्म हुआ। सत्य तो यह है कि यह दृष्टिकोण कि व्यक्ति से समाज का जन्म हुआ, मूल रूप से गलत है।

दीनदयाल जी इस विषय को बहुत ही गहराई से महसूस करते हैं- यह सत्य है कि समाज का निर्माण कई व्यक्तियों के समूह से होता है लेकिन यह भी सत्य है कि समाज लोगों की मल्लिकयत है, न की कुछ व्यक्तियों के परस्पर सहयोग से बना झुण्ड, हमारे मत से समाज स्वतः जन्म लेता है। एक व्यक्ति की ही तरह समाज का अस्तित्व भी कायम हुआ। लोगों ने समाज नहीं बनाए। समाज कोई क्लब नहीं अथवा कोई ज्वाइंट स्टॉक कम्पनी अथवा पंजीकृत सहकारी समिति नहीं है। वास्तव में समाज की अपनी अलग आत्मा है, उसका अपना जीवन है, यह व्यक्ति की तरह सार्वभौमिक है।

व्यक्ति और समाज के बारे में दीनदयाल जी कभी भी इस दृष्टिकोण

को स्वीकार नहीं किया कि समाज एक मध्यस्थ संस्था है। इसका अपना जीवन है। इसका अपना शरीर, मस्तिष्क, बुद्धि तथा आत्मा है। कुछ पाश्चात्य मनोवैज्ञानिक इस सत्य को अब स्वीकार करने लगे हैं।

समाज की मानसिकता

समाज निर्माण की प्रक्रिया में बहुत से अवयवों का योगदान होता है जीने समझना बहुत जरूरी होता है लेकिन भारत की सामाजिक संरचना को समझने के लिए हमें अपने देश की आन्तरिक शक्तियों को पहचानना जरूरी है। दीनदयाल दयाल जी ने मनोविज्ञान के अधिकतर सिद्धांतों की भी व्याख्या अपने तरीके से की जो आज भी बहुत जरूरी मानी जाती है

मैकडुगल ने मनोविज्ञान की नई शाखा को जन्म दिया जिसे “ग्रुप माइंड” की उन्होंने है संज्ञा दी। उन्होंने स्वीकार किया कि इस समूह का अपना मस्तिष्क, अपना अलग मनोविज्ञान तथा चिंतन और कार्य के इसके अपने तरीके हैं। समूह की भावनाएं भी हैं। ये भावनाएं व्यक्तिगत भावना के पूर्ण रूप से समान नहीं हैं। सामूहिक भावनाएं व्यक्तिगत भावना का गणितीय रूप से योग करने का नाम नहीं है, न ही सामूहिक शक्ति व्यक्तिगत शक्तियों का योगदान है। समूह की शक्ति, बुद्धि, भावनाएं व्यक्तिगत भावना से एकदम अलग हैं। अतः कई बार ऐसा अनुभव होता है कि कमजोर होने पर भी एक व्यक्ति समाज का नायक बन जाता है।

व्यक्ति और समाज के विषय पर गंभीर चर्चा करते हुए दीनदयाल जी कहते हैं कि “कई बार एक व्यक्ति अपनी आलोचना तो बर्दाश्त कर लेता है लेकिन समाज की बेइज्जती उसके बर्दाश्त के बाहर होती है। हो सकता है एक आदमी अपनी व्यक्तिगत बेइज्जती को बर्दाश्त कर जाए अथवा भूल जाए लेकिन वह आदमी समाज को भला-बुरा कहने वाले को क्षमा न कर पाए। ऐसा भी संभव है कि एक व्यक्ति जिसका व्यक्तिगत चरित्र काफी ऊंचा हो लेकिन समाज के सदस्य के रूप में वह बेकार हो। इसी तरह एक व्यक्ति समाज में अच्छा हो सकता है लेकिन हो सकता है वह अपने व्यक्तिगत जीवन में वह उतना अच्छा न हो। यह एक महत्वपूर्ण तथ्य है।”

दीनदयाल जी ने इस स्थिति का विश्लेषण कि “व्यक्ति और समाज के चिंतन का दायरा अलग-अलग है। इन दोनों में गणितीय संबंध नहीं है। यदि

एक हजार अच्छे लोग परस्पर एकजुट हो जाएं तो यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे उसी तरह से अच्छी बातों को सोचेंगे जैसा कि वे व्यक्तिगत तौर पर सोचते हैं।”

दीनदयाल जी बीस साल पूर्व के भारतीय विद्यार्थियों की तुलना आज के विद्यार्थियों से करते हुए कहते हैं कि “आज का औसत विद्यार्थी पहले की तुलना में कमजोर और सहमा हुआ है। हर तरह से वह कमजोर और सहमा हुआ है लेकिन जब ऐसे विद्यार्थी एक समूह में आ जाते हैं तो स्थिति खराब हो जाती है। तब ये हर तरह उत्तरदायित्व-विहीन कार्य कर बैठते हैं। इस प्रकार एक विद्यार्थी अपने व्यक्तिगत तौर पर अनुशासित लगता है लेकिन ऐसे ही विद्यार्थियों का समूह अनुशासन से मुँह मोड़ कर गलत कार्य कर बैठते हैं।

उनका मानना था कि हमें भी इन मुद्दों पर विचार करना होगा कि ऐसा परिवर्तन होता क्यों है। इसे “झुण्ड की मानसिकता” कहेंगे जो व्यक्तिगत मानसिकता से अलग होती है। झुण्ड की मानसिकता में मस्तिष्क पूरी तरह जागृत नहीं रहता, जब व्यक्तियों का एक समूह कुछ समय के लिए एकत्रित हो जाता है तो ऐसे झुण्ड को “झुण्ड मानसिकता” वाले लोगों का समूह कहा जाएगा, परंतु समाज में सामाजिक मानसिकता काफी लंबे अंतराल के बाद विकसित होती है। जब व्यक्तियों का समूह दीर्घकाल के लिए परस्पर एक हो जाता है तो ऐतिहासिक परम्पराएं एवं सहयोग एक आचरण की तरह बन जाता है और लोग एक ही तरह से सोचने लगते हैं उनके रिवाज एक जैसे बन जाते हैं। यह सत्य है कि साथ रहने से एक-रूपता स्थापित होती है। एक-सी सोच वाले दो व्यक्तियों के बीच में मैत्री स्वाभाविक हो जाती है। फिर भी एक तरह के आचार-व्यवहार से कोई समाज अथवा राष्ट्र प्रगतिशील नहीं बन जाता।

सामाजिक जीवन की समस्याएँ

जब स्वभाव को धर्म के सिद्धांतों के अनुसार बदला जाता है, तो हमें संस्कृति और सभ्यता प्राप्त होते हैं।

दीनदयाल जी भारत की सामाजिक समस्याओं के प्रति बहुत ही ज्यादा सचेत थे। उनका अपना अध्ययन था कि बिना सामाजिक समस्याओं की पहचान के आप नये समाज का निर्माण नहीं कर सकते हैं। भारत में एक ही संस्कृति रह सकती है; एक से अधिक संस्कृतियों का नारा देश के टुकड़े-टुकड़े करके हमारे जीवन का विनाश कर देगा। अतः आज लीग का द्विसंस्कृतिवाद, कांग्रेस का प्रच्छन्न द्विसंस्कृतिवाद तथा साम्यवादियों का बहुसंस्कृतिवाद नहीं चल सकता। आज तक एक-संस्कृतिवाद को संप्रदायवाद कहकर टुकराया गया किंतु अब कांग्रेस के विद्वान भी अपनी गलती समझकर इस एक-संस्कृतिवाद को अपना रहे हैं। इसी भावना और विचार से भारत की एकता तथा अखंडता बनी रह सकती है तथा तभी हम अपनी संपूर्ण समस्याओं को सुलझा सकते हैं।

देशभक्ति का स्वभाव

देश आजाद हो चुका था लेकिन देश की तमाम समस्या अभी भी जूँ की तू बनी हुई है इसी लिए देश भक्ति का जज्बा हर समय लोगों के पास रहना चाहिए तभी वह समाज को आगे ले जाया जा सकता है। दीनदयाल जी का स्पष्ट मनाना था कि मनुष्य की अनेक जन्मजात प्रवृत्तियों के समान वह देशभक्ति की भावना को भी स्वभाव से ही प्राप्त करता है। परिस्थितियाँ एवं वातावरण के दबाव से किसी व्यक्ति में यह प्रवृत्ति सुप्त होकर विलीन प्रायः हो जाती है। इस प्रकार विकसित देश प्रेम के व्यक्ति अपने कार्यकलापों की प्रेरणा अस्पष्ट एवं क्षीण भावना से न पाकर अपने स्वप्नों के अनुसार अपने

देश का निर्माण करने की प्रबल ध्येयवादिता से पाते हैं। भारत में भी प्रत्येक देशभक्त के सम्मुख इस प्रकार का एक ध्येय पथ है तथा वह समझता है कि अपने पथ पर चलाकर ही वह देश को समुन्नत बना सकेगा। आज यह ध्येय पथ यदि एक ही होता तथा सब देशभक्तों के आदर्श भारत का स्वरूप भी एक ही होता तब तो किसी भी प्रकार के विवाद का संघर्ष का प्रश्न नहीं था। किंतु वस्तुस्थिति यह है कि आज भिन्न-भिन्न मार्ग से लोग देश को आगे ले जाना चाहते हैं तथा प्रत्येक का विश्वास है कि उसी का मार्ग सही मार्ग है। अतः हमको इन मार्ग का विश्लेषण करना होगा और उसी समय हम प्रत्येक की वास्तविकता को भी समझ सकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर देशभक्ति का गुण स्वभाविक पैदा होना जरूरी है। जिसका अभाव अब धीरे धीरे कम होता जा रहा है।

भारत की सामाजिक समस्याओं की जांच पड़ताल करते हुए दीनदयाल दयाल जी ने कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओं की तरफ साफ साफ इशारा कर दिया था और सामाजिक समस्या विभिन्न वर्ग में बाट दिया था जो निम्न प्रकार है- अर्थवादी, राजनीतिवादी, मतवादी तथा संस्कृतिवादी।

अर्थवादी संपत्ति को ही सर्वस्व समझता है तथा उसके स्वामित्व एवं वितरण में ही सब प्रकार की दुरावस्था की जड़ मानकर उसमें सुधार करना ही अपना एकमेव कर्तव्य समझता है। उसका एकमेव लक्ष्य 'अर्थ' है। साम्यवादी एवं समाजवादी इस वर्ग के लोग हैं। इनके अनुसार भारत की राजनीति का निर्धारण अर्थनीति के आधार पर होना चाहिए तथा संस्कृति एवं मत को वे गौण समझकर अधिक महत्त्व देने को तैयार नहीं हैं।

राजनीतिवादी वर्ग जीवन का संपूर्ण महत्त्व राजनीतिक प्रमुख प्राप्त करने में ही समझता है तथा राजनीतिक दृष्टि ही संस्कृति, मजहब तथा अर्थनीति की व्याख्या करता है। अर्थवादी यदि एकदम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण अथवा बिना मुआवजा दिए जमींदारी उन्मूलन चाहता है तो राजनीतिवादी अपने राजनीतिक कारणों से ऐसा करने में असमर्थ है। उसके लिए इस प्रकार संस्कृति एवं मजहब का भी मूल्य अपनी राजनीति के लिए ही है, अन्यथा नहीं। इस वर्ग के अधिकांश लोग कांग्रेस में हैं जो आज भारत की राजनीतिक बागडोर सँभाले हुए हैं।

मतवादी वर्ग मजहब परस्त या मतवादी होते हैं। इसे धर्मनिष्ठ कहना

ठीक नहीं होगा; क्योंकि धर्म मजहब या मत से बड़ा तथा विशाल है। यह वर्ग अपने-अपने मजहब के सिद्धांतों के अनुसार ही देश की राजनीति अथवा अर्थनीति को चलाना चाहता है। इस प्रकार का वर्ग मुल्ला-मौलवियों अथवा रूढ़िवादी कट्टरपंथियों के रूप में अब भी थोड़ा बहुत विद्यमान है, यद्यपि आजकल उसका बहुत प्रभाव नहीं रह गया है।

संस्कृतिवादी वर्ग का विश्वास है कि भारत की आत्मा का स्वरूप प्रमुखतया संस्कृति ही है। अतः अपनी संस्कृति की रक्षा एवं विकास ही हमारा कर्तव्य होना चाहिए। यदि हमारा सांस्कृतिक ह्रास हो गया तथा हमने पश्चिम के अर्थ प्रधान अथवा भोग प्रधान जीवन को अपना लिया तो हम निश्चित ही समाप्त हो जाएँगे। यह वर्ग भारत में बहुत बड़ा है। इसके लोग राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में तथा कुछ अंशों में कांग्रेस में भी हैं। कांग्रेस के ऐसे लोग राजनीति को केवल संस्कृति का पोषक मात्र ही मानते हैं, संस्कृति का निर्णायक नहीं। हिंदी वादी सब लोग इसी वर्ग के हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न वर्ग के लोग विभिन्न मत रखते हैं और राष्ट्रीय एकता को खंडित करने का काम करते हैं।

मार्ग की प्राचीनता

दीनदयाल जी ने उपर्युक्त चार वर्ग की विवेचना में आधुनिक शब्दों का प्रयोग किया है। किंतु प्राचीन काल में भी ये चार प्रवृत्तियाँ उपस्थित थीं तथा इनमें से एक प्रवृत्ति को ही अपनाकर हमने अपने जीवन के आदर्श का मानदंड बनाया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ही ये चार प्रवृत्तियाँ हैं। धर्म संस्कृति का, अर्थ नैतिक वैभव का, काम राजनीतिक आकांक्षाओं का तथा मोक्ष पारलौकिक उन्नति का द्योतक था। इनमें से हमने धर्म को ही अपने जीवन का अंग बनाया है क्योंकि उसके द्वारा ही हमने शेष सबको सधते हुए देखा है। इसीलिए जब महाभारत काल में धर्म की अवहेलना होनी प्रारंभ होने लगी थी।

अर्थ और काम की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति धर्म से होती है; इसलिए धर्म की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' जिससे ऐहिक संतान एक है और उसको इस एकता का अनुभव करते हुए रहना चाहिए। अनेक अंगों को इकट्ठा करके शरीर की सृष्टि

नहीं होती किंतु शरीर के अनेक अंग होते हैं और इसलिए प्रत्येक अवयव अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए नहीं अपितु शरीर के अस्तित्व के लिए प्रयत्न करता है। इसी प्रकार राष्ट्र के सभी अंगों को अपनी रूपरेखा राष्ट्रीय स्वरूप और हितों के अनुकूल होनी चाहिए न कि राष्ट्र को ही इन अंगों के अनुसार काटा-छाँटा जाए। संप्रदायों, प्रांतों, भाषाओं और वर्ग का तभी तक मूल्य है जब तक वे राष्ट्र हितों के अनुकूल हैं अन्यथा उनका बलिदान करके भी राष्ट्र की एकता की रक्षा करनी होगी।

प्रथम दृष्टिकोण में अनेक को सत्य मानकर एक की कल्पना का प्रयत्न है तो दूसरे में एक को सत्य मानकर अनेक उसके रूप मात्र हैं जैसे नदी के जल में आवर्त-विवर्त तरंग आदि अनेक रूप होते हैं किंतु उनका अस्तित्व नदी के जल से भिन्न और स्वतंत्र नहीं और न उनके समुच्चय का ही नाम नदी है। दुःख का विषय है कि आज भी देश की बागडोर जिनके हाथ में हैं वे प्रथम दृष्टिकोण से ही समस्त समस्याओं को देखते हैं। जब तक राजनीति की इस मौलिक भूल का परिमार्जन नहीं होगा तब तक राजनीतिक भारत का निर्माण सुदृढ़ नींव पर नहीं हो सकता।

भारतीय जीवन की प्रधानता

पं. दीनदयाल जी भारत के सामाजिक ताने बने को अच्छी तरह से समझ चुके थे इसीलिए उन्होंने कभी भी धर्म के महत्त्व को कम नहीं समझा उनका विचार था कि भारतीय जीवन को धर्म प्रधान बनाने का प्रमुख कारण यह था कि इसी में जीवन के विकास की सबसे अधिक संभावना है। आर्थिक दृष्टिकोण वाले लोग यद्यपि आर्थिक समानता के पक्षपाती हैं, किंतु वे व्यक्ति की राजनीति एवं आत्मिक सत्ता को पूर्णतः समाप्त कर देते हैं। राजनीतिवादी प्रत्येक व्यक्ति को मतदान का अधिकार देकर उसके राजनीतिक व्यक्तित्व की रक्षा तो अवश्य करते हैं किंतु आर्थिक एवं आत्मिक दृष्टि से वे भी अधिक विचार नहीं करते। अर्थवादी यदि जीवन को भोग प्रधान बनाते हैं तो राजनीतिवादी उसको अधिकार प्रधान बना देते हैं। मतवादी बहुत कुछ अव्यावहारिक, गतिहीन एवं संकुचित हो जाते हैं।

किसी-किसी व्यक्ति विशेष अथवा पुस्तक विशेष के विचारों के वे इतने गुलाम हो जाते हैं कि समय के साथ वे अपने आपको नहीं रख पाते तथा

इस प्रकार पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। इन सबके विपरीत संस्कृति प्रधान जीवन की यह विशेषता है कि इसमें जीवन के केवल मौलिक तत्त्वों पर तो जोर दिया जाता है पर शेष बाह्य बातों के संबंध में प्रत्येक को स्वतंत्रता रहती है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रत्येक क्षेत्र में विकास होता है। संस्कृति किसी काल विशेष अथवा व्यक्ति विशेष के बंधन से जकड़ी हुई नहीं है, अपितु यह तो स्वतंत्र एवं विकासशील जीवन की मौलिक प्रवृत्ति है। इस संस्कृति को ही हमने धर्म कहा है। अतः जब कहा जाता है कि भारतवर्ष धर्म प्रधान देश है तो इसका अर्थ मजहब, मत या रिलीजन नहीं, किंतु यह संस्कृति ही होता है।

भारत की आत्मा

पं. दीनदयाल जी ने देखा की भारत का एक वर्ग पश्चिम की ओर देख रहा है भारत में सिर्फ उसको कमियां ही कमियां नजर आ रही है ऐसे कठिन समय में उन्होंने आपने अध्ययन से सबको सचेत कर दिया की भारत ने विश्व को बहुत कुछ दिया है बस उसको दुनिया तक पहुंचने की आवश्यकता है हमने देखा है कि भारत की आत्मा को समझना है तो उसे राजनीति अथवा अर्थ नीति के चश्मे से न देखकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही देखना होगा। भारतीयता की अभिव्यक्ति राजनीति के द्वारा न होकर उसकी संस्कृति के द्वारा ही होगी। विश्व को भी यदि हम कुछ सिखा सकते हैं तो उसे अपनी सांस्कृतिक सहिष्णुता एवं कर्तव्य प्रधान जीवन की भावना की ही शिक्षा दे सकते हैं, राजनीति अथवा अर्थ नीति की नहीं। उसमें तो शायद हमको उनसे ही उलटे भीख माँगनी पड़े। अर्थ, काम और मोक्ष के विपरीत धर्म की प्रमुख भावना ने भोग के स्थान पर त्याग, अधिकार के स्थान पर कर्तव्य तथा संकुचित असहिष्णुता के स्थान पर विशाल सहिष्णुता प्रकट की है। इनके साथ ही हम विश्व में गौरव के साथ खड़े हो सकते हैं। जब तक भारत की आत्मा को एकात्म रूप से जाना नहीं जायेगा तब तक हम अपने देश की सामाजिक जीवन की समस्याओं से रूबरू नहीं हो सकते है।

संघर्ष का आधार

दीनदयाल जी ये देख रहे थे की समाज में चारों तरफ संघर्ष ही संघर्ष दिखाई दे रहा है यदि संघर्ष के आधार को चिन्हित नहीं किया जायेगा तो

समाज की सामाजिक समस्याओं पर किसी का ध्यान तक नहीं जा सकता अतः मूल कारणों की खोज हमेशा चलती रहनी चाहिए.

सम्पूर्ण मानव जीवन संघर्ष का परिणाम रहा है, मानव ने अपने जीवन को आसान बनाने के लिए कभी प्रकृति से संघर्ष किया है तो कभी अपने आप से. तभी मानव जीवन आज इस अवस्था में आया है कि हम उसका मूल्यांकन कर सकें. दीनदयाल जी ने मानव मात्र की विकास यात्रा का लेखा जोखा लिया है. उनका माना था कि भारतीय जीवन का प्रमुख तत्त्व उसकी संस्कृति अथवा धर्म होने के कारण उसके इतिहास में भी जो संघर्ष हुए हैं, वे अपनी संस्कृति की सुरक्षा के लिए ही हुए हैं। तथा इसी के द्वारा हमने विश्व में ख्याति भी प्राप्त की है। हमने बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण को महत्त्व न देकर अपने सांस्कृतिक जीवन को पराभूत नहीं होने दिया। यदि हम अपने मध्ययुग का इतिहास देखें तो हमारा वास्तविक युद्ध अपनी संस्कृति के रक्षार्थ ही हुआ है। उसका राजनीतिक स्वरूप यदि कभी प्रकट भी हुआ तो उस संस्कृति की रक्षा के निमित्त ही। राणाप्रताप तथा राजपूतों का युद्ध केवल राजनीतिक स्वतंत्रता के लिए नहीं था किंतु धार्मिक स्वतंत्रता के लिए ही था। छत्रपति शिवाजी ने अपने स्वतंत्र राज्य की स्थापना गो-ब्राह्मण प्रतिपालन के लिए ही की। सिख-गुरुओं ने अपने युद्ध धर्म की रक्षा के लिए ही किए। इन सबका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि राजनीति का कोई महत्त्व नहीं था तथा राजनीतिक गुलामी हमने सहर्ष स्वीकार कर ली थी; किंतु तात्पर्य यह है कि राजनीति को हमने जीवन का केवल सुख का कारण मात्र माना है, जबकि संस्कृति संपूर्ण जीवन ही है. इस प्रकार सामाजिक जीवन की समस्याओं का एक आधार संस्कृति भी है।

संस्कृतियों का संघर्ष

दीनदयाल जी का मानना था कि आज मानव समाज अपने कई पायदान आगे बढ़ गया है. समाज में तमाम तरह की सभ्यता और संस्कृति भी जन्म लेती रही है और विभिन्न संस्कृति आपस में टकराती रहती है. दीनदयाल जी का अपना मत था कि आज भी भारत में प्रमुख समस्या सांस्कृतिक ही है। वह भी आज दो प्रकार से उपस्थित है, प्रथम तो संस्कृति को ही भारतीय जीवन का प्रथम तत्त्व मानना तथा दूसरे यदि इसे मान लें तो उस संस्कृति

का रूप कौन सा हो? विचार के लिए यद्यपि यह समस्या दो प्रकार की मालूम होती है, किंतु वास्तव में है एक ही। क्योंकि एक बार संस्कृति का जीवन को प्रमुख एवं आवश्यक तत्त्व मान लेने पर उसके स्वरूप के संबंध में झगड़ा नहीं रहता, न उसके संबंध में किसी प्रकार का मतभेद ही उत्पन्न होता है। यह मतभेद तो तब उत्पन्न होता है जब अन्य तत्त्वों को प्रधानता देकर संस्कृति को उसके अनुरूप उन ढाँचों में ढकने का प्रयत्न किया जाता है।

इस दृष्टि से देखें तो आज भारत में एक-संस्कृतिवाद, द्वि-संस्कृतिवाद तथा बहुसंस्कृतिवाद के नाम से तीन वर्ग दिखाई देते हैं। एक-संस्कृतिवाद के प्रबंधकर्ता भारत में केवल एक ही भारतीय संस्कृति का अस्तित्व मानते हैं तथा अन्य संस्कृतियों का या तो अस्तित्व ही मानने को तैयार नहीं हैं या उसके लिए आवश्यक समझते हैं कि वह भारतीय संस्कृति में विलीन हो जाए। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा कांग्रेस में श्री पुरुषोत्तमदास टंडन प्रभूति व्यक्ति इसी एक-संस्कृतिवाद के पोषक हैं। यह तरीका भी सामाजिक समस्याओं को समझने का प्रयास हो सकता है।

एक राष्ट्र , एक संस्कृति

दीनदयाल जी का अपना मत है कि देश कोई वस्तु नहीं है जिसे अलग-अलग तरह से देखा जाये। देश की सामाजिक समस्याओं में से एक यह भी है कि हम देश को एक राष्ट्र के रूप में नहीं देखते। देश की एकता को कायम रखने के लिए कम से कम उन सार्थक मुद्दों की जरूरत होती है जिसके आधार हम कह सकें कि हां देश की एकता इस प्रकार कायम की जा सकती है। इस विषय पर विभिन्न लोगों के भिन्न विचार हैं, किन्तु दीनदयाल जी का अपना स्पष्ट मत है कि केवल एक-संस्कृतिवादी लोग ही ऐसे हैं जिनके समक्ष और कोई ध्येय नहीं है तथा जैसा कि हमने देखा, संस्कृति ही भारत की आत्मा होने के कारण वे भारतीयता की रक्षा एवं विकास कर सकते हैं। शेष सब तो पश्चिम का अनुकरण करके या तो पूँजीवाद अथवा रूस की तरह आर्थिक प्रजातंत्र तथा राजनीतिक पूँजीवादी का निर्माण करना चाहते हैं। अतः उनमें सब प्रकार की सद्भावना होते हुए भी इस बात की संभावना कम नहीं है कि उनके द्वारा भी भारतीय आत्मा का तथा भारतीयत्व का विनाश हो जाए। अतः आज की प्रमुख आवश्यकता

तो यह है कि एक-संस्कृतिवादियों के साथ पूर्ण सहयोग किया जाए। तभी हम गौरव और वैभव से खड़े हो सकेंगे तथा भारत-विभाजन जैसी भावी दुर्घटनाओं को रोक सकेंगे।

असहिष्णु और सहिष्णु

देश की सामाजिक समस्याओं में असहिष्णु और सहिष्णु का मुद्दा देश की आजादी के इतने साल बाद भी समय-समय पर उठता रहता है। हमें दीनदयाल जी के विचारों की रोशनी में इस सामाजिक समस्या के मुद्दे को समझने की जरूरत है। उनका विचार था कि मानव की स्थिति और प्रगति उसकी असहिष्णु और सहिष्णु प्रवृत्ति के सामंजस्य पर ही निर्भर है। प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा दूसरों पर प्रभाव डालने की, उन पर विजय पाने की रहती है तथा अपने व्यक्तित्व को प्रभावी एवं विजयी बनाने के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहता है। उसकी दौड़-धूप इसलिए होती रहती है। किंतु इस प्रकार की प्रबल आकांक्षा का परिणाम दूसरों का विनाश एवं इस प्रकार उनके द्वारा होने वाले सत्य के आविष्कार की संभावना भी समाप्त न हो इसके लिए मानव ने यह भी आवश्यक समझा है कि वह दूसरों के मतों का आदर करें तथा उसे सत्य मानकर चले। इस भावना ने ही सहिष्णुता की प्रवृत्ति को जन्म दिया है।

विश्व में भारतवर्ष अपनी चरम कोटि की सहिष्णुता की भावना के लिए प्रसिद्ध है। पश्चिम में सहिष्णुता की भावना को बहुत ही निकट भूत में अनुभव किया है तथा जनतंत्र के नाम पर उसका विकास करने का प्रयत्न किया है।

असहिष्णु मनोवृत्ति

दीनदयाल का मत है कि यह मुद्दा एक राजनीतिक तोर पर देखा जाता है किन्तु यदि हम मानव की मनोवृत्तियों का आंकलन नहीं कर सकते तो संभव तोर पर हम इस मुद्दे को कभी नहीं सुलझा सकते हैं। दीनदयाल जी ने मनोवैज्ञानिक तोर पर भी इस मुद्दे की गहराई से जाँच पड़ताल की है। उन्होंने आपने आंकलन में कहा है कि लोगों के जीवन में असहिष्णुता इतनी समा गई है कि सहिष्णुता का राग अलापते रहने पर भी किसी न किसी प्रकार असहिष्णुता प्रकट हो ही जाती है। अंग्रेजी, फ्रांसीसियों और डचों की

साम्राज्यवादी भावनाएँ, एशिया के लोगों पर किए गए अत्याचार, ईसाई धर्म के अतिरिक्त सब धर्म को ओछा मानकर उनके साथ किया हुआ व्यवहार, अंग्रेजों का श्वेत मानव का बोझा अफ्रीका में हब्लियाँ एवं अन्य अश्वेत के लिए बनाए गए कानून, अमेरिका में नीग्रों एवं रेड इंडियनों के प्रति किया गया बरताव तथा जर्मनी, इटली, रूस आदि देशों में उत्पन्न होनेवाली फासिस्ट मनोवृत्ति एवं हर पच्चीस वर्ष के बाद युद्ध इसी असहिष्णु मनोवृत्ति के परिचायक हैं। आज भी पश्चिम में अपने से इतर जातियों के प्रति सम्मान और श्रद्धा का भाव उत्पन्न नहीं हुआ है; आज भी वहाँ के विद्वान यूरोप और अमेरिका को ही विश्व का केंद्र मानकर सारे संसार को उसके हितों के अनुसार नचाना चाहते हैं।

भारत में उसके विपरीत बहुत पहले ही सहिष्णुता की भावना का उदय हो चुका था। दो हजार मील लंबे और दो हजार मील चौड़े भारत की विविध रूप प्रकृति के अंतर के सत्य का साक्षात्कार कराया। हमने विविधता में एकता की अनुभूति को और उसके परिणामस्वरूप सहिष्णुता की भावना को जन्म दिया। फलतः ज्ञान, कर्म और भाव तीनों ही क्षेत्रों में हमने अपनी सहिष्णुता की मनोवृत्ति का परिचय दिया है। 'एकं सद्विग्रा बहुधा वदन्ति' का आदर्श समक्ष रखकर ज्ञान के क्षेत्र में निष्काम कर्मयोग का सिद्धांत प्रतिपादन करके कर्म के क्षेत्र में तथा एक ही ब्रह्म के विविध रूप भिन्न देवताओं को मानकर भक्ति के द्वारा भाव के क्षेत्र में सहिष्णुता की भावना का विकास किया है। सहिष्णुता हमारे जीवन का अंग बन गई है।

आज पश्चिम का जीवन और उसका इतिहास ही प्रमुखतया अपने सम्मुख होने के कारण हमको अपनी सहिष्णुता की सहज प्रवृत्ति पर अभिमान होने लगा है। इतना ही नहीं सहिष्णुता की भावना पर इतना जोर दिया जाने लगा है कि जीवन की दूसरी आवश्यक प्रवृत्ति अर्थात् जयिष्णु प्रवृत्ति की ओर हमारा दुर्लक्ष्य हो गया है। फलतः सहिष्णुता का अर्थ हो गया है, महत्वाकांक्षा से हीन, दुनिया को हर जाति के सामने झुकते जाना, अपने स्वत्व एवं जीवन को बिलकुल धूल में मिला देना। युद्ध चाहे वह आत्मरक्षार्थ ही क्यों न हो हमारे लिए पाप कार्य हो गया है। सिद्धांत के ऊपर इतना आग्रह हो गया है कि हम को भी चिंता नहीं कर रहे हैं।

वास्तव में सहिष्णुता के समान ही असहिष्णुता का सिद्धांत भी आवश्यक

है। यदि यह कहा जाए कि सहिष्णुता अधिक आवश्यक है तो अनुचित नहीं होगा। बिना सहिष्णुता की भावना के कोई समाज न तो जीवित ही रह सकता है और न वह अपने जीवन का विकास ही कर सकता है। कोई भी व्यक्ति अथवा समाज केवल श्वासोच्छ्वास के लिए जीवित नहीं रहता, अपितु वह किसी आदर्श के लिए जिंदा रहता है तथा आवश्यकता पढ़ने पर उस आदर्श की रक्षा के लिए अपने जीवन की परिसमाप्ति भी कर देता है। आदर्शवादी व्यक्तियों ने ही सब प्रकार की कठिनाइयाँ झेलकर भी संसार को आगे बढ़ाया है। जिनके जीवन में अपने आदर्श को विजयी बनाने की महत्त्वाकांक्षा है वे ही संसार के निराशामय वातावरण से ऊपर उठकर कुछ कर पाते हैं तथा दूसरों के लिए प्रकाश पुंज बनाकर मार्ग दर्शक हो जाते हैं।

दुनिया के नए-नए देशों की खोज करने वाले, प्रकृति के गुह्यतम सिद्धांतों को ढूँढ़ निकालने वाले, ब्रह्म और जीवन के अभेद का साक्षात्कार करने वाले, दुःखी मानवों को शांति और सत्य का उपदेश देने वाले, सबके सब अपने जीवन में एक महत्त्वाकांक्षा लेकर आए और उसे प्राप्त करने के निमित्त ही जीवन भर प्रयत्न करते रहे।

भारतवर्ष ने इस विजिगोषु वृत्ति का महत्त्व सदा ही समझा है और इसलिए विजयादशमी के त्यौहारों की योजना की गई है। विजयादशमी हमारी विजयों का स्मारक तथा भावी विजयों का प्रेरक है। यह दिन हमको प्रतिवर्ष यादगार दिलाने आता है कि हमें दुनिया में विजय करनी है। हम पराजय के लिए अथवा उदासीन बनकर केवल 'अहार, निद्रा, भय, मैथुनच्यु' तक ही अपने जीवन को सीमित करने के लिए नहीं, अपितु विलय के लिए पैदा हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि दीनदयाल जी ने सामाजिक जीवन की समस्याओं का बहुत ही गरी और विस्तार से मूल्यांकन किया है।

जीवन की सीमाएँ

दीनदयाल जी ने सिर्फ सामाजिक समस्याओं पर ही बात नहीं की बल्कि उसकी उन खूबियों का भी बखान किया है जिनसे सामाजिक जीवन की समस्याओं को हाल किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि जीवन की अपनी खूबसूरती होती है, जीवन के सौन्दर्य बोध का जानना, जीवन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि होती है, लेकिन यह तब तक संभव नहीं हो सकता जब तक की

आप जीवन की सीमाओं को नहीं पहचान लेते हैं। जब तक आप जीवन के आदि और अंत को नहीं जानेंगे तब तक यह संभव नहीं हो सकता है। इसीलिए दीनदयाल जी कहते हैं कि आज हमने अपने जीवन की सीमाएँ बना रखी हैं। स्वार्थ और अज्ञान के संकुचित दायरे में हमने कूपमंडूक के समान अपने जीवन को सीमित कर दिया है। हमें अपनी सीमाएँ तोड़नी होंगी। जो इन सीमाओं के बाहर नहीं जा सकता वह विजय भी नहीं प्राप्त कर सकता। सीमोल्लंघन और विजय केवल सेना और शस्त्रास्त्रों से सज होकर शत्रु के राज्य में कूच करके परास्त करने से ही नहीं होती अपितु विचारों और भावनाओं के जगत् में भी यह विजय प्राप्त की जा सकती है। इस जगत् में भी हमारे अनेक शत्रु हैं जिनको पराजित करके हम अपनी विजय मना सकते हैं।

दुर्गा, रघु, राम और सिद्धार्थ के जीवन की घटनाएँ विजयादशमी के साथ संबद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक ने विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्नता होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति की एकता स्पष्ट है।

अतः हमारे जीवन में उनकी सी एकध्येयनिश तथा अपने जीवन से बाहर निकालकर आदर्श को प्राप्त करने की महत्त्वाकांक्षा रही तो हम भी जीवन में विजय प्राप्त कर सकेंगे तथा सच्चे अर्थ में विजयादशमी मना सकेंगे। सामुहिक जीवन की समस्याओं को न सिर्फ समझना जरूरी है बल्कि उन समस्याओं को समय पार हल करना भी जरूरी है वर्ना सामाजिक समस्या अपने स्वरूप को बदलती रहती है और जटिल से जटिल हो जाती है। दीनदयाल जी के विचार जीवन के प्रत्येक पहलू तक जाते हैं और उनकी पड़ताल करते हैं। इसी लिए कहा गया है। वो जमीन से जुड़े व्यक्ति थे तभी इतनी गहराई से समाज की सामाजिक समस्याओं को रेखांकित कर सके। अब हमारी बारी है कि हम सभी उनके विचारों की रोशनी में आज की सामाजिक समस्याओं को दूर कर सकें।

भारतीय समाज की दिशा और दशा

यह जरूरी है कि हम 'हमारी राष्ट्रीय पहचान' के बारे में सोचते हैं, जिसके बिना आजादी' का कोई अर्थ नहीं है।

दीनदयाल जी एक विचारक के रूप में देश की तमाम विषयों पर अपना मत व्यक्त करते रहते थे. उन्हीं के विचार आज भारत के लिए महत्वपूर्ण हो गये हैं । आज भी उनके विचारों को याद किया जाता है ताकि उनके विचारों की रोशनी में नये देश का गठन हो सके।

जनसंघ के मुम्बई अधिवेशन में पंडित दीनदयाल जी ने जनसंघ के सिद्धांत और नीति विषय पर प्रेरक अपने विचार प्रकट किये थे. जिसके आधार पर हम कह सकते हैं कि उनके विचारों को आज भी समाज में ले जाना जरूरी है। उनका मानना था कि आजादी यदि समाज के अंतिम पायदान पर खड़े व्यक्ति तक नहीं पहुंचती तो ऐसी आजादी का क्या फायदा. यही कारण है कि उन्होंने देश की दशा और दिशा पर अपने मत प्रकट किये.

दीनदयाल जी ने कहा था कि जब तक अंग्रेजों का हमारे देश पर साम्राज्य था देश में चले सभी आंदोलनों एवं राजनीति का लक्ष्य स्वराज्य प्राप्त करना ही था। स्वराज्य मिल जाने के बाद हमारा स्वरूप क्या होगा? हम किस दिशा की ओर चलेंगे? आदि विषयों का किसी ने कोई विचार नहीं किया था।

परंतु इस विषय का जितनी गंभीरता से अध्ययन होना आवश्यक था वह नहीं हुआ था। इसका एक कारण था सबके सामने एक ही बात थी कि पहले अंग्रेजों को यहाँ से भगा दें. उसके बाद अपने घर की रचना कैसी हो यह सोचते रहेंगे। संभवतः देश के स्वाधीन होते ही अब देश के मार्गदर्शन की दिशा क्या हो इसका विचार हमारे सम्मुख आना चाहिए था। किंतु

आश्चर्य की बात यह है कि इस प्रश्न का गंभीरता से विचार उतना नहीं हुआ, जितना कि होना चाहिए था। आज देश स्वाधीन हुए कई वर्ष बीत गए हैं और अब भी, देश के भविष्य की दिशा निश्चित हो गई है, ऐसा दृढ़ता से नहीं कहा जा सकता।

दीनदयाल जी ने भारत की दशा और दिशा का वर्णन किया कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद देश की राजनीति समाज-व्यवस्था जीवनादर्श आदि पर विदेशी शासकों के विचारों का जो प्रभाव था वास्तव में दूर हो जाना चाहिए था लेकिन दूर होने की बजाए वह उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़ता गया। उनकी वेशभूषा रीति-रिवाज भाषा आदि बातें हमारे देश में घुस गईं। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी कहा कि समाजशास्त्र नीतिशास्त्र राज्य व्यवस्था कुछ आदि विषयों में भी उन्हीं की बातें हमारे यहाँ भी प्रमाण मानी जाने लगीं। वेद उपनिषद, स्मृति, गीता और रामायण के स्थान पर मिल्स हेगल एडम स्मिथ मार्क्स एंजल्स के वचन यहाँ प्रमाण माने जाने लगे।

हमें राष्ट्र के लिए अपने 'स्व' का विचार देश के लिए प्रस्तुत किया जाना चाहिए, स्वत्व के बिना स्वराज्य का कोई अर्थ नहीं होता। आखिर प्रत्येक राष्ट्र अपनी प्रकृति के अनुसार प्रयास करते हुए सुखी और सम्पन्न जीवन व्यतीत कर सकने के लिए ही स्वतंत्रता की अभिलाषा रखता है। अपनी प्रकृति के साथ मेल न खाने वाली विचारधारा अथवा कार्यप्रणाली का आधार लेने वाले राष्ट्र पर अनेक विपदाएँ आती हैं। हमारे देश के सामने आज जो संकट है उनका भी यही मुख्य कारण है।

उन्होंने देशवासियों को सोचने के लिए मजबूर कर दिया कि कर्तव्यविमूढ़ अवस्था में फँसे आज के विश्व को प्रगति-पथ पर अग्रसर करने के लिए क्या हम कुछ कर सकते हैं? हमें चाहिए कि आज की दुनिया पर बोझ बनकर न रहते हुए केवल अपने स्वार्थ का ही विचार न करते हुए, अपनी संस्कृति और परम्परा में दुनिया को देने योग्य क्या-क्या बातें हैं इसका चिंतन कर राजनीतिक प्रगति के कार्य में सहयोग देना चाहिए। विगत अनेक वर्ष से हमारा सारा ध्यान स्वाधीनता-संग्राम में और आत्मरक्षा के कार्य में लगा रहा। अतः दुनिया के अन्य राष्ट्रों की तुलना में हम बराबरी में खड़े नहीं हो सके। परंतु अब हम स्वाधीन हो गए हैं। अब हमें इस कमी को पूरा करना चाहिए। देश की दशा और दिशा के बारे में चिंतन करना चाहिए,

समाज के निर्माण में भूमिका

देश के निर्माण में एक व्यक्ति की क्या भूमिका हो सकती है उसके बारे में भी दीनदयाल जी ने निरंतर चिंतन मनन किया और लोगों को नेतृत्व भी किया. यही बातें उनको बाकी नेताओं और विचारकों से उन्हें अलग कर देती है. अपने समय में खा था कि “आज जनसंघ प्रजा समाजवादी दल समाजवादी दल या काँग्रेस में मतभेदों की खाई को और अधिक चौड़ी न करते हुए उसको भुलाने की आवश्यकता है। राष्ट्र द्रोही कम्युनिस्टों को अलग-थलग करना राष्ट्रहित की दृष्टि से आवश्यक है किंतु हमारे इस प्रभाव में कोई दल अथवा व्यक्ति पूर्णतः हमारे साथ न होता हो तो ऐसे दल या व्यक्ति को बार-बार कम्युनिस्ट समर्थक कहकर उसे कम्युनिस्टों के जाल में धकेल देना उचित नहीं होगा।

दीनदयाल जी ने इस समस्या से निपटने का एक तरीका भी बातें कि हमें गाँव-गाँव जाकर समाज में आशा एवं विश्वास का निर्माण करने के लिए अग्रसर होना चाहिए। यह बात हमें जनता को समझानी पड़ेगी कि राष्ट्रद्रोही लोग पंडित नेहरू का च्यांग काइ शेक बनाने का षड्यंत्र कर रहे हैं और ऐसी घोषणा करनी पड़ेगी कि चीन के उस दुर्भाग्यपूर्ण इतिहास की पुनरावृत्ति हम इस भारतभूमि में कदापि नहीं होने देंगे। हमारे सम्मुख पन्ना धाय का आदर्श है। उसने उदय सिंह के प्राण बचाने के लिए अपने हृदय पर पत्थर रखकर अपने पुत्र की बलि चढ़ा दी थी। उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त राष्ट्र की अस्मिता अखण्डता और विश्वभर में सर्वश्रेष्ठ भारतीय संस्कृति एवं जीवन-दर्शन के संरक्षण के लिए हम कोई भी बलिदान करने के लिए सदैव कटिबद्ध हैं।”

एक बार डी. श्यामबहादुर वर्मा ने पंडित जी से पूछा- “दीनदयाल जी! क्या आपको ऐसा लगता है कि सत्ता मिलने के बाद काँग्रेस जिस प्रकार भ्रष्ट हो गई है उसी प्रकार भारतीय जनसंघ सत्ता मिलने के बाद भ्रष्ट नहीं होगा? ”

यह सुनकर दीनदयाल ने उत्तर दिया- “सत्ता सामान्यतः भ्रष्ट करती है। इस संबंध में पूरी दक्षता बरतने के बाद भी जनसंघ में भ्रष्टाचार आ जाता है तो हम उसे विसर्जित कर देंगे और दूसरे जनसंघ का निर्माण करेंगे और यही क्रम चलता रहेगा। भगवान् परशुराम ने 21 बार राजाओं का संहार किया था।

आदर्श राजा के रूप में अंत में श्रीरामचन्द्र सामने आए। रामराज्य की स्थापना के बाद परशुराम ने वन की ओर प्रस्थान किया। हम भी अपने द्वारा निर्मित संस्थानों के बारे में मोह क्यों रखें? छोटा बच्चा गाजर के साथ खेलता रहता है और जब खिलौने के रूप में उसका उपयोग समाप्त हो जाता है तो उसे खा डालता है। अपने ही हाथों से निर्मित संस्था भी जब राष्ट्रहित के विरोध में कार्य करेगी तो ऐसी स्वनिर्मित संस्था का विनाश करना धर्म ही होता है। राष्ट्र सर्वप्रथम है संस्था नहीं।”

समाज की दशा और दिशा का निर्माण करने के लिए एक ध्वज की आवश्यकता होती है। पं. दीनदयाल जी ने दल के भगवे ध्वज के विषय में कहा है कि- “यही ध्वज हमें अतीत का यथार्थ ज्ञान विश्व की उत्तम प्रेरण ॥ तथा वर्तमान की स्वयं प्रेरित कर्म चेतना प्रदान कर सकता है।”

पं दीनदयाल जी के विषय में गुरुजी (सरसंघचालक श्री गोलवलकर) ने जौनपुर में भाषण देते हुए कहा था- “दीनदयाल जी का राजनीतिक क्षेत्र की ओर कतई झुकाव नहीं था। पिछले वर्ष में कितनी ही बार मुझसे उन्होंने कहा कि ‘यह आपने मुझे किस झमेले में डाल दिया। मुझे फिर से प्रचारक का काम करने दें।’ मैंने कहा कि भाई तुम्हारे सिवा इस झमेले में किसको डालें? संगठन के कार्य के प्रति जिसके मन में इतनी अविचल श्रद्धा और दृढ़ निष्ठा है वही इस झमेले में रहकर कीचड़ में अस्पृश्य रहता हुआ सुचारु रूप में वहाँ की सफाई कर सकेगा। दूसरा कोई नहीं कर सकेगा।”

जनसामान्य के लिए दर्द

दीनदयाल जी जनता से सीधे जुड़े हुए थे, उनके दुःख दर्द के वो सह-भागीदार थे इसीलिए आज भी उनको जानने वाले और ओन के विचारों पर चलने वाले उनको अपना आदर्श मानते हैं

उनके बारे में श्री यज्ञदत्त जी ने लिखा है कि एक बार वे दीनदयाल जी के साथ रेलगाड़ी में यात्रा कर रहे थे। जिस डिब्बे में वे यात्रा कर रहे थे उसी डिब्बे में भीख माँगने वाली दो महिलाएँ चढ़ी। साथ में दो पुलिस वाले भी चढ़े। उनमें से एक ने उन महिलाओं को डाँटा और दूसरा डंडे से उनकी पिटाई करने लगा। यह देखकर दीनदयाल जी से रहा नहीं गया और पुलिस वाले के पास जाकर उन्होंने उसका हाथ रोकते हुए कहा- “इन बेचारियों को

क्यों मार रहे हो? यह उचित नहीं है।” तो पुलिसवाला बोला- “ये चोरियाँ करती हैं उसके कारण आप जैसे यात्रियों को ही कष्ट होता है। आप चुपचाप अपने स्थान पर जाकर बैठ जाइए और मुझे मेरा कार्य करने दीजिए।” यह सुनकर पंडित जी को बहुत क्रोध आया और वे बोले- “ये महिलाएँ अपराधी हों तो न्यायाधीश उन्हें दंड देगा। इनकी इस प्रकार अमानवीय पिटाई करने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है।” यह कहकर उन्होंने उस पुलिसवाले का हाथ पकड़ लिया। तब जाकर पुलिसवाले को उन्हें छोड़ना पड़ा।

यज्ञदत्त जी ने आगे लिखा है कि ‘हम लोग इतने वर्ष से साथ काम कर रहे हैं लेकिन पंडितजी का इस प्रकार भयानक रूप से क्रोधित होना मैंने पहली बार देखा था। साधारण-सी महिलाओं के लिए उनके दिल में इतना दर्द, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि दीनदयाल जी उस समय देश की दिशा और दिशा के बारे में बहुत अधिक सोच रहे थे और उनको जानने वाले भी यह समाज रहे थे कि उनके मार्गदर्शन के बिना यह संभव नहीं है।

मातृभूमि के चरणों में

पंडित दीनदयाल जी के जीवन का यह प्रसंग अत्यंत महत्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने अपने सभी शैक्षिक प्रमाण-पत्र जला डालने का आदेश दिया था। यह प्रसंग श्री बसंत अण्णा वैद्यजी ने लिखा है जो जनसंघ के कार्यकर्ता थे और कई बार उन्हें पं. दीनदयाल जी का सान्निध्य प्राप्त हुआ। श्री अण्णा वैद्यजी ने लिखा है- उनके शब्दों में- “यह लखीमपुर है। पं. दीनदयाल उपाध्याय की बात है। मैं और पंडित दीनदयाल जी पीलीभीत से आए थे। उनका सामान साथ ही था। दीनदयाल जी ने मुझसे उनके सामान में से एक डिब्बा लाने को कहा। जब मैं डिब्बा लेकर आया तो उसमें से पंडितजी ने एक पत्र निकाल कर कहा कि बाकी बचे सभी कागजों को जला दो। मैंने देखा वह कागज व्यर्थ के नहीं थे अपितु उनके वे प्रमाण-पत्र थे जो उन्होंने अपने छात्र जीवन में प्राप्त किए थे। तो मैंने सोचा पंडितजी ने ऐसा क्यों कहा। मैंने उनसे कहा कि पंडितजी इन प्रमाण-पत्रों को तो रहने दीजिए। आपके उन्नत यश के साक्षी हैं ये। यह सुनकर पंडितजी बोले- “मैंने अपना सारा जीवन मातृभूमि के चरणों में अर्पित कर दिया है इसलिए इन अनुशंसा-पत्रों की अब मुझे कोई आवश्यकता नहीं है। “उनकी आज्ञा मानकर एक-एक प्रमाण-पत्र

अग्नि की भेंट चढ़ाते हुए मुझे असीम पीड़ा हो रही थी। किंतु पंडितजी का मुखमंडल एक-एक प्रमाण-पत्र की होली के साथ दीप्तिमान होकर निखर रहा था।” उन्होंने समाज निर्माण में अपनी भूमिका सुनिश्चित की थी यही कारण है कि उनके बारे में प्रत्येक व्यक्ति आशा की नजरों से देखता था।

अहंकार से परे

पं. दीनदयाल जी ने अहंकार को कभी अपने ऊपर चढ़ने नहीं दिया। यह प्रसंग उनके उसी व्यक्तित्व के विषय में है। यह प्रसंग वर्ष 1960 का है। उत्तर प्रदेश के कानपुर में संघ-शिक्षा वर्ग का शिविर था। उसमें पंडित दीनदयाल जी को बौद्धिक वर्ग लेना था। यह घटना दोपहर के भोजन के पश्चात की है। भोजन करने के बाद सभी अपना- अपना लोटा लिए नल पर हाथ धोने के लिए पंक्तिबद्ध थे। उसी पंक्ति में धोती-कुर्ते में एक कार्यकर्ता भी था। इस समय कार्यकर्ता कभी शरारत भी कर लिया करते थे। सभी एक-एक करके नल पर पानी भरकर हाथ-मुँह धो रहे थे। जब धोती-कुर्ते वाले कार्यकर्ता की बारी आई तो उसने जैसे ही अपना लोटा नल के नीचे रखा तो किसी स्वयंसेवक ने उनका लोटा उठाया और फेंक दिया। यह देखकर धोती-कुर्ते वाला शांत भाव से गया और अपना लोटा उठाकर सबसे पीछे खड़ा हो गया और उसने अपनी बारी आने पर हाथ-मुँह धोया। सभी अपने-अपने कार्य में लग गए। कुछ समय बाद बौद्धिक वर्ग होना था जब समय हुआ तब धोती-कुर्ते वाला वही कार्यकर्ता खड़ा हुआ और उनके परिचय में कहा गया- “आपके सामने आज पं. दीनदयाल जी उपस्थित हैं। वे बौद्धिक वर्ग लेंगे।” यह सुनते ही लोटा फेंकने वाले उस स्वयंसेवक का मन ग्लानि से भर गया कि उसने एक वरिष्ठ नेता का उपहास किया। उस कार्यकर्ता से रहा नहीं गया। वह उस शिविर के संचालक के पास गया और सारी व्यथा सुना दी और बोला- “मैंने तो स्वप्न में भी यह नहीं सोचा था कि पंडित दीनदयाल जी इतने साधारण और अहंकार से परे होंगे।” यह घटना उनके अहंकार से परे होने को इंगित करती है। इन घटनाओं से हम यही सीख सकते हैं कि समाज निर्माण में यदि कोई व्यक्ति अपनी भूमिका निभाना चाहता है तो उसे सबसे पहले अहंकार से परे होना पड़ेगा।

व्यक्ति और समाज

अपने राष्ट्रीय पहचान की उपेक्षा भारत के मूलभूत समस्याओं का प्रमुख कारण है।

व्यक्ति और समाज का संबंध बहुत ही गहरा है . पं दीनदयाल जी ने अपने विचारों के माध्यम से व्यक्ति का समाज के प्रति संबंध को भी व्यक्त किया है। व्यक्ति और समाज के संबंध के प्रति उनके विचार हैं-

“हम अपने व्यक्तिगत हित व अहित का विचार करते हुए ही समाज के हित और अहित का विचार करें यही उचित व्यवस्था है। व्यक्ति का हित व समाज का हित दोनों में कोई विरोध या संघर्ष नहीं है। कुछ लोग हमसे पूछते हैं कि आप व्यक्तिवादी हैं या समाजवादी? हमारा उत्तर होता है कि हम व्यक्तिवादी भी हैं और समाजवादी भी। भारतीय विचारधारा के अनुसार हम व्यक्ति की उपेक्षा नहीं करते और समाज-हित का विचार भी ओझल नहीं होने देते। क्योंकि हम समाज के हितों का विचार करते हैं इसलिए हम समाजवादी हैं किंतु साथ ही हम व्यक्ति की भी उपेक्षा नहीं करते इसलिए हम व्यक्तिवादी भी हैं। किंतु हम व्यक्ति को सर्वेसर्वा नहीं मानते इसलिए हमारा कहना होता है कि हम व्यक्तिवादी नहीं हैं। किंतु साथ ही हम यह भी नहीं मानते कि समाज को व्यक्ति की सभी स्वतंत्रता का अपहरण करने का अधिकार है और उसे किसी एक सीमा में बाँधकर निर्जीव यंत्र के समान उससे काम लेने का अधिकार है। इसलिए हम समाजवादी भी नहीं हैं। हमारी मान्यता है कि व्यक्ति के बिना समाज की कल्पना करना भी असंभव है और समाज के बिना व्यक्ति का मूल्य शून्य है। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति और समाज दोनों का समन्वित कल्याण साध्य करने की दृष्टि से ही सारा चिंतन प्रस्तुत किया गया है।”

समाज की आत्मा

पं. दीनदयाल जी ने अपने विचार द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि समाज की भी आत्मा होती है। उनके अनुसार- “समूह के भी शरीर मन बुद्धि और आत्मा होते हैं। उदाहरण के लिए 40 लोगों का एक क्लब है। ये 40 लोग मिलकर उस क्लब का शरीर तैयार करते हैं। इकट्ठे होकर इकट्ठे रहकर एक क्लब बनाने की इच्छा अथवा संकल्प का मन होता है। यह इच्छा न हो तो क्लब का निर्माण नहीं होगा। यह इच्छा समाप्त हो जाए तो क्लब भी विसर्जित हो जाएगा। इस इच्छा के मूर्तरूप लेने पर क्लब का कारोबार सुचारु ढंग से चलाने के लिए कुछ व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। सदस्यता पदाधिकारियों के चुनाव चंदे आदि के बारे में सोच-समझकर कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। इन नियमों के सहारे क्लब का कारोबार ठीक ढंग से चल सकता है। (ये नियम और व्यवस्थाएँ क्लब की बुद्धि हैं) लेकिन क्लब बनाना ही पर्याप्त नहीं होता। क्लब के कुछ उद्देश्य भी होते हैं। यह उद्देश्य केवल मनोरंजन का हो मनोरंजन के साथ सेवा का हो अथवा कुछ और हो क्लब का कारोबार अंततः इस लक्ष्य को सामने रखकर ही चलाया जाता है। यह लक्ष्य ही उस क्लब की आत्मा है।”

वर्ण व्यवस्था।

पं. दीनदयाल उपाध्याय ने कहा है कि सैकड़ों-हजारों वर्ष की दीर्घ कालावधि के सामाजिक उत्थान-पतन की उमंग लहरों के आघातों के कारण यह व्यवस्था आज दुर्बल हो गई है। इस व्यवस्था में दोष खोजने वालों के मन में इस व्यवस्था को समाप्त करने का विचार आए इतने दोष आज इसमें घुस गए हैं, अनेक विकृतियाँ इसमें पैदा हो गई हैं और हमें उन तमाम विकृतियों को दूर करना होगा, यह भी सच है।”

इसका अर्थ यह हुआ कि वर्ण व्यवस्था का कुछ लोग सद्भावना के साथ जो विरोध करते हैं, उनसे पंडित दीनदयाल जी सहमत हैं। लेकिन किसी व्यवस्था में किन्हीं कारणों से दोष उत्पन्न हो गया है, इसलिए लगे हाथ वह पूरी व्यवस्था ही त्याज्य हो जाती है इस निष्कर्ष से वे सहमत नहीं। उनके अनुसार किसी व्यवस्था का मूल्यांकन इतने उथले ढंग से करना ठीक नहीं। इस संबंध में उन्होंने एक मौलिक विचार रखा। उन्होंने कहा- “इस व्यवस्था

के बारे में एक सत्य को हमें ठीक ढंग से समझ लेना होगा। व्यवस्था के दो अंग हैं—एक भीतरी और दूसरा बाहरी। भीतरी भावना और बाहरी चौखट हर व्यवस्था में होते हैं। आंतरिक सिद्धांत की अभिव्यक्ति के लिए कुछ न कुछ बाहरी चौखट आवश्यक होती है, किंतु आंतरिक सिद्धांत ही अंत में महत्त्वपूर्ण होता है। यह अतिरिक्त सिद्धांत ही उस व्यवस्था की नींव होता है। उसे समझ लेना ही उस व्यवस्था के रहस्य को समझ लेना होता है。” दीनदयाल जी ने आपने एक लेख के माध्यम से कहा था कि समाज-जीवन की विविध आवश्यकताओं में से किसी न किसी आवश्यकता को पूरा करने में सहभागी होकर व्यक्ति के लिए समष्टि धर्म का पालन करना सुलभ हो और साथ ही अपना विकास करते हुए वह समाज-सेवा के लिए अधि काधिक समर्थ बने इसी दृष्टि से हमारे यहां वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ। समाज की आवश्यकताएं विविध प्रकार की होती हैं। कुछ बौद्धिक होती हैं, कुछ अंतर्बाह्य सुरक्षा विषयक होती हैं। खेती, पशुपालन, हस्तोद्योग, कला जीवन के लिए आवश्यक विविध वस्तुओं का उत्पादन एवं वितरण आदि कितने ही कार्य समाज में सुचारु ढंग से चलाने पड़ते हैं। समाज की ये सभी आवश्यकताएं व्यक्ति के परिश्रम से ही पूरी होनी होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने-अपने गुण-कर्म के अनुसार समाज की सेवा करते बने, उसमें जो श्रेष्ठ गुण हैं उनकी अभिव्यक्ति एवं विकास हो और इस प्रक्रिया के चलते समाज भी आगे बढ़े, इस दृष्टिकोण से समाज के अंदर की गई व्यावहारिक व्यवस्था को ही वर्ण व्यवस्था का नाम दिया गया है। इस व्यवस्था के कारण व्यक्ति को अपने जीवन के कार्य एवं निर्वाह के साधन उपलब्ध होते थे और समाज की विविध आवश्यकताएं भी पूरी होती थीं।

जिनमें साहस, पौरुष पराक्रम आदि बातें थीं, वे समाज की सुरक्षा के लिए अग्रसर हुए। जिनका रुझान ज्ञान-साधना की ओर था उन्होंने ज्ञान-विज्ञान में प्रगति करने तथा पठन-पाठन करने का क्षेत्र चुना। कला विद्या वाणिज्य व्यापार, गौ-पालन आदि बातों में निपुण रहे लोगों ने समाज के भरण पोषण का दायित्व अपने ऊपर लिया। जिनके लिए इनमें से कुछ भी करना संभव नहीं था उन्होंने समाज की छोटी-मोटी आवश्यकताओं को पूरा करने का दायित्व स्वीकार किया।

वर्ण व्यवस्था में जो लोग ऊँच-नीच का भेद देखते हैं वे वास्तव में

अंधे हैं। वर्ण व्यवस्था विभेदकारी न होकर एक एकात्म व्यवस्था है। एक व्यक्ति में जैसी एकात्मता होती है वैसी ही एकात्मता इस समाज-पुरुष में भी हो ऐसी भावना से इस व्यवस्था का निर्माण किया गया। समूचे समाज को सभी प्रकार के भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख सुलभता से प्राप्त करा देने वाली यह व्यवस्था है।”

हिन्दू विचार की अंतःसलिला

दीनदयाल जी ने भारतीय समाज की अंतर्वस्तु को समझते हुए कहा कि हरेक बात का कोई-न-कोई केन्द्र-बिन्दु होता है। हमारी अवस्था कुछ ऐसी है कि हमारे पास पैसा है विद्या है बुद्धि भी है शरीर में शक्ति है; किंतु ये सब किस बात के लिए हैं यह बताने वाला केन्द्रीय सिद्धांत नहीं है। हमारे जीवन का केन्द्रीय तत्त्व क्या है? किसी को पता नहीं। हम सबको जोड़ने वाला तत्त्व क्या है? हरेक देश के लिए वह होता है। वह केन्द्र-बिन्दु राष्ट्र है। हमारे यहाँ राष्ट्र को केन्द्र-बिन्दु मानने के बजाय लोगों के सामने व्यक्ति को केन्द्र-बिन्दु के रूप में रखा गया। यहीं सब गड़बड़ हो गयी। लोग व्यक्तिगत विचार करने लगे। फिर यह भी कहा गया कि हमें आर्थिक विकास के लिए काम करना है। आर्थिक विकास किसका करना है? व्यक्ति का। इसलिए उसके रहन-सहन का स्तर उठाने का विचार सामने आया। राष्ट्र का रहन-सहन ऊँचा उठे तो व्यक्ति का अपने आप उठेगा यह विचार किसी ने नहीं रखा।

आज आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने जीवन का ध्येय-बिन्दु निश्चित करें। एक बार यह भली-भांति समझ में आ गया कि यह ध्येय-बिन्दु क्या है तो सब लोग उसी दिशा में चलने लगेंगे। उस ध्येय की ओर जाने के मार्ग अलग-अलग हो सकते हैं किंतु यह राष्ट्र हमारा है यह देश हमारा है यह विचार आज सबसे महत्त्व का है। एक बार यह निश्चय हो जाने पर कि राष्ट्र-देवता के मंदिर की ओर जाना है, बाकी सब बातें उस ध्येय-साधना के लिए अपने आप सुसंगत हो जाएंगी।

राष्ट्र क्या है? क्या भारत यहाँ की केवल नदियाँ या पर्वत हैं? हम लोग भारत के विचार को यहाँ के समाज का विचार मानते हैं। किंतु हम जब कहते हैं कि सब लोग राष्ट्र के लिए विचार करें तब यह भावना करें तब

यह भावना अतिरेक होती है। हम अंग्रेजों के विरुद्ध लड़ रहे थे इसी अतिरेक के कारण। अंग्रेजी के चले जाने के बाद यहाँ का राज्य चलाने का दायित्व हम लोगों पर आया। किंतु हम पर कहने का ठीक-ठीक अभिप्राय क्या है? किस पर? इसका गंभीर विचार उन दिनों नहीं किया गया।

अंग्रेजों के जाने के बाद हमें राज्य मिला। किंतु 'हमारा' राज्य माने किसका राज्य? इस देश का वंश-वृक्ष कौन-सा है? इस देश में राष्ट्र जीवन का निर्माण किसने किया? हमें एक सत्य को स्वीकारना पड़ेगा कि हमारा राष्ट्र जीवन हिन्दू राष्ट्र जीवन है। और कोई यहाँ आता है तो उसे यहाँ हिन्दू राष्ट्र जीवन के साथ तालमेल रखकर चलना होगा। ऐसा करने के लिए मूल मानदण्ड क्या हो यह निश्चित करना होगा। उसके बाद ही धन तथा की गणना की जा सकती है। ज्वर देखते समय हम तापमापी (थर्मामीटर) में देखते हैं। उसमें सामान्य की रेखा होती है। प्रत्यक्ष ताप उस रेखा के ऊपर है या नीचे? ऐसी गणना हम करते हैं। उसी प्रकार भारत की मानक रेखा हिन्दू राष्ट्र ही है। यह सत्य सबको विदित है। कोई इसे प्रत्यक्ष रूप में कहे न कहे हमारा राष्ट्रसूत्र हिन्दूसूत्र है। इस समूचे देश को जोड़ने वाला यह सूत्र प्राचीन काल से यहाँ विद्यमान है।" व्यक्ति और समाज के बारे में बात करते हुए उन्होंने भारतीय समाज की गहराइयों तक जाकर जाँच पड़ताल की है तभी जाकर हम कह सकते हैं कि दीनदयाल जी समाज की सामाजिक संरचना और व्यक्ति के सम्बन्ध को अच्छी तरह से समझते थे। इसी कारण उनको सामाजिक वैज्ञानिक भी मन जाता है।

गाय और दीनदयाल जी

अवसरवादिता ने राजनीति में लोगों के विश्वास को हिला दिया है।

दीनदयाल जी के विचार विभिन्न विषयों पर देखे गये हैं. उन्होंने भारतीय समाज में अपनी अलग जगह बना चुकी गाय पर भी अपने विचार रखे हैं. इसी से आप अंदाजा लगा सकते हैं कि वे कितनी गहराई से समाज से जुड़े हुए थे . भारत में गाय को देवी का दर्जा प्राप्त है। ऐसा मन जाता है कि गाय के भीतर देवताओं का वास माना गया है। इसी कारण गोवध न पूजा के अवसर पर गायों की विशेष पूजा की जाती है और उनका मोर पंखों आदि से श्रृंगार किया जाता है।

पुराणों के अनुसार भी गाय में सभी देवताओं का वास माना गया है। गाय को किसी भी रूप में सताना घोर पाप माना गया है। उसकी हत्या करना तो नर्क के द्वार को खोलने के समान है, जहां कई जन्मों तक दुख भोगना होता है।

अथर्ववेद में भी “धेनु सदानाम रईनाम” अर्थात् गाय समृद्धि का मूल स्रोत है। गाय समृद्धि व प्रचुरता की द्योतक है। वह सृष्टि के पोषण का स्रोत है। वह जननी है। गाय के दूध से कई तरह के प्रॉडक्ट (उत्पाद) बनते हैं। गोबर से ईंधन व खाद मिलती है। इसके मूत्र से दवाएं व उर्वरक बनते हैं।

गाय का रहस्य- गाय इसलिए पूजनीय नहीं है कि वह दूध देती है और इसके होने से हमारी सामाजिक पूर्ति होती है, दरअसल मान्यता के अनुसार 84 लाख योनियों का सफर करके आत्मा अंतिम योनि के रूप में गाय बनती है। गाय लाखों योनियों का वह पड़ाव है, जहां आत्मा विश्राम करके आगे की यात्रा शुरू करती है।

वैज्ञानिक कहते हैं कि गाय एकमात्र ऐसा प्राणी है, जो ऑक्सीजन ग्रहण करता है और ऑक्सीजन ही छोड़ता है, जबकि मनुष्य सहित सभी प्राणी ऑक्सीजन लेते और कार्बन डाई ऑक्साइड छोड़ते हैं। पेड़-पौधे इसका ठीक उल्टा करते हैं

दीनदयाल जी का मानना था कि शरीर मन बुद्धि आत्मा का समेकित निवास है व्यक्ति। उसके सुख का अर्थ है इन सबका सुख। इनमें से किसी एक का ही विचार करें तो वह अपूर्ण विचार होगा। हमारे यहाँ तो पूर्व जन्म का भी विचार किया जाता है। अकेले व्यक्ति के सुख का विचार करते समय हम इन चारों घटकों का विचार करते हैं। उसी प्रकार समाज के सुख का विचार करते समय भी इन चारों बातों का भी विचार करना चाहिए। व्यक्ति के जन्म से ही उसका सुख गाय के सुख पर निर्भर करता है।”

जब भारत की सारी विचारधारा सहयोग एवं परस्पर पूरकता को प्रधानता देती है। पश्चिमी लोगों की सारी विचारधारा संघर्ष पर आधारित है। भारत में जीवन ही आधारभूत तत्व है। हमारी प्रत्येक सामाजिक संकल्पना में प्रत्येक प्राणी पर विचार किया जाता है। उनमें से सबसे महत्वपूर्ण गाय है। पाश्चात्य विचारधारा में इस प्रकार की मान्यता कम देखी जाती है कि वे किसी पशु को ईश्वर का दर्जा दे सके। भारतीय विचारधारा में मनुष्य और पशु ईश्वर की सन्तान है और वह बौद्धिक मानसिक एवं आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। जिस मानवता धर्म में यह अवस्था स्वाभाविक नहीं होती अपवादस्वरूप होती है। वह धर्म नहीं विकृति है।

दीनदयाल जी इसी विचार से दल का संगठन और संरचना के बारे में बार बार आग्रह कर रहे थे कि गाय हमारी पूजनीय है। यही कारण था कि घोषणापत्र करी कि गौ हत्या बंदी अखंड भारत एकात्म शासन प्रणाली खेती के लिए सेवा-सहकारी संस्था (सहकारी खेती नहीं) नागरिकों को हथियार रखने का मौलिक अधिकार आदि विशेषताओं को शीघ्र लागू करना चाहिए . घोषणापत्र में यह आश्वासन दिया गया था कि गौ हत्या का आयात बंद कर तथा अन्य दक्षिण पूर्व एशियाई देशों से भी इस विषय पर प्रतिबंध लगाने का अनुबंध किया जाना चाहिए। इससे इस बात का संकेत मिलता है कि दीनदयाल की नीति ही नहीं विदेश नीति में भी गाय को लेकर चिंता थी। आज भारत में गौ हत्या बड़े पैमाने पर हो रही है। हमें दीनदयाल जी के विचारों की रोशनी में इस मुद्दे को समझने और सुलझाने की आवश्यकता है।

सामाजिक सक्रियता एवं विचार

सिद्धांतहीन अवसरवादी लोगों ने हमारे देश की राजनीति का बागडोर संभाल रखा है।

दीनदयाल जी ने अपना पूरा जीवन देश हित में समर्पित कर दिया और राष्ट्र चिंतन के द्वारा लोगों को नया रास्ता दिखाया, उनकी सामाजिक सक्रियता राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ता के नाते ही रही है। संघ के अनेक कार्यकर्ता समाज के विविध क्षेत्रों में भेजे गए थे। उसी क्रम में दीनदयाल उपाध्याय को राजनीतिक क्षेत्र का दायित्व मिला था; लेकिन उन्होंने कभी भी अपने आप पर राजनीति को हावी नहीं होने दिया। इसके अलावा वे लेखन के माध्यम से भी अपनी सक्रियता और सामाजिक भूमिका अदा करते थे। वे पत्रकार भी थे। वस्तुतः दीनदयाल उपाध्याय राजनीतिक क्षेत्र में सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टिपथ के प्रतिनिधि थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक प्रशिक्षण शिविर में भाषण करते हुए उन्होंने कहा, संघ के स्वयंसेवकों को राजनीति से दूर रहना चाहिए जैसे कि मैं हूँ। एक राजनीतिक दल के महामंत्री का यह कथन पहली सरीखा था। अतः स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने कहा, “संघ का स्वयंसेवक समाज के हर क्षेत्र में सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यकर्ता के नाते ही जाता है।

विभिन्न राजनीतिक-आर्थिक संस्थाओं में सक्रिय काम करते हुए भी वह उन संस्थाओं व क्षेत्र की एकांगिता को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। राजनीति में जाते ही आज जो सत्तावाद एवं दलवाद व्यक्ति पर हावी होता है, इसको राजनीतिक क्षेत्र की मजबूरी माना जाता है। वे एक स्वयंसेवक के रूप में इन सब से दूर रहे ।

राष्ट्रव्यापी सामाजिक आंदोलन

दीनदयाल जी ने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को सर्वव्यापी बनाने के लिए लोक संस्कार, लोकचेतना एवं लोक संग्रह का भी कार्य किया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ को एक राष्ट्रव्यापी आंदोलन बनाने में जिन कुछ लोगों का योगदान है, दीनदयाल उपाध्याय उनमें से एक थे। जिस सांस्कृतिक संगठन को गोलवलकर ने संघ को एक व्यापक आंदोलन बनाया, अनुशासित कार्यकर्ताओं की देश भर में एक उल्लेखनीय शक्ति उत्पन्न की, दीनदयाल उपाध्याय इस कार्यकर्ता-निर्माण के कार्य में उतने ही महत्त्वपूर्ण थे जितने कि गोलवलकर, एकनाथ रानाडे या बाबासाहब आपटे आदि थे। उन्होंने संगठन के मस्तिष्क का काम किया।

पुस्तकों द्वारा सामाजिक परिवर्तन

दीनदयाल जी साहित्य के क्षेत्र में बहुत सक्रिय थे उसी की बदौलत उन्हें एक बौद्धिक व्यक्ति के रूप में पहचान मिली। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के प्रारंभिक काल एवं उसके संस्थापक के विषय में प्रथम शोध कार्य के नाते नारायणहरि पालकर ने डॉ. हेडगेवार का जीवनचरित लिखा। यह मूल रचना मराठी में थी। दीनदयाल उपाध्याय ने ही उसको हिंदी पाठकों को उपलब्ध करवाया। उन्होंने सहज ही पुस्तक का हिंदी अनुवाद कर दिया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में जो साहित्य उपलब्ध है वह मुख्यतः मास. गोलवलकर, उमाकांत केशव उपाख्य बाबासाहब आपटे, एकनाथ रानाडे, दीनदयाल उपाध्याय व दत्तोपंत ठेंगडी का ही है।

अखिल भारतीय दल के महामंत्री के रूप में सक्रिय होते हुए भी उन्होंने संघ कार्य के समक्ष राजनीति को गौण समझते थे। वे प्रतिवर्ष देश भर में लगभग तीस-चालीस दिन संघ-शिक्षा वर्ग के लिए प्रवास करते थे। संघ की प्रत्येक बैठक में अवश्य उपस्थित होते थे। इस संदर्भ में यादवराव जोशी एक घटना का वर्णन करते हैं- “गत वर्ष (1967) विभिन्न राष्ट्रीय कार्य में भाग लेने वाले कुछ स्वयंसेवक नागपुर में एकत्र थे। ठीक उसी समय उत्तर प्रदेश में कांग्रेस मंत्रिमंडल का पतन हुआ था। साझा मंत्रिमंडल गठित करने हेतु विपक्षी दलों की सरगर्मियाँ तेज हो गई थीं। कुछ कार्यकर्ता, जिन्हें नागपुर पहुँचना था, इस भँवर में फँस गए और नागपुर न पहुँच सके। इस

बात का पता लगने पर दीनदयाल उपाध्याय उद्विग्न हो उठे। वे बोले- “हम पहले स्वयंसेवक हैं, और कुछ बाद में। तब भी संघ द्वारा कोई आह्वान दिया जाता है तो हमारा कर्तव्य हो जाता है कि अन्य सभी बातों को एक ओर फेंककर संघ की पुकार पर चलें।”

अर्थात् उपाध्याय संघ कार्य के समक्ष अन्य कार्य की प्राथमिकता नहीं मानते थे। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने समाज-जीवन में जो राष्ट्रहित, अनुशासनबद्धता तथा संगठन कौशल उत्पन्न करने का कार्य किया है, उनमें दीनदयाल उपाध्याय की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

सामाजिक सुधार

सामाजिक बुराइयों पर दीनदयाल जी सक्रिय रूप से प्रहार करते रहे हैं पर, उनका लहजा बहुत ही सदहर्षण रहता है। समाज में दलितों व महिलाओं की स्थिति के बारे में हिंदू के नाम पर राजनीति करने वाले सामान्यतः अनुदार माने जाते हैं। मध्यवर्गीय सनातन हिंदू मानसिकता एवं रामराज्य परिषद् जैसी संस्थाओं के साथ जनसंघ का नाम जुड़ जाने के कारण जनसंघ तथा दीनदयाल भी इन विषयों में अनुदार होंगे, ऐसी सामान्यतः धारणा रहती थी; लेकिन दीनदयाल उपाध्याय सामाजिक एवं ऐतिहासिक बुराइयों के खिलाफ संवैधानिक संरक्षणों के पक्षधर थे।

दीनदयाल जी ने आग्रहपूर्वक जनसंघ के संविधान में मंडल समितियों के गठन में महिलाओं तथा अनुसूचित जाति व जनजाति के सदस्यों के लिए दो-दो स्थान आरक्षित करवाए। इसी प्रकार ‘परिवार नियोजन’ के लिए कृत्रिम उपायों के उपयोग के बारे में भी काल्पनिक छरेष्टता व पवित्रता के आवरण में विरोधी तथा अनुदार दृष्टिकोण यत्र-तत्र दिखाई देता है। जनसंघ की नागपुर अ. भा. प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन के समय मध्य प्रदेश के एक प्रतिनिधि ने ‘परिवार नियोजन’ के लिए केवल ब्रह्मचर्यपूर्वक संयमी जीवन को स्वीकार करना चाहिए भारतीय जनसंघ कृत्रिम उपायों के उपयोग का विरोध करे, ऐसा प्रस्ताव रखा। उपाध्याय ने समझाया कि कल्पना लोक में रहने का लाभ नहीं है। हमें व्यावहारिक बनना चाहिए तथा उस प्रस्ताव को बहुमत से अस्वीकृत कर दिया गया। ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं था जहां पर उनकी कोई सक्रिय भूमिका नहीं हो। वे जहां जाते वही पार अपनी अमिट

छाप छोड़ते चलते थे. दीनदयाल जी ने सर्वैधानिक संस्थाओं के विषय पार भी लगातार काम किया और अपने विचार प्रस्तुत करते रहे उन्होंने एक बार कहा था कि कानून का पालन न करना, कर-अदायगी न करना “तथा अवैधानिक आचरण कर समाज में भ्रष्टाचार फैलाना आदि लोकतांत्रिक व संविधानवादी समाज की भयानक बुराइयाँ हैं जो कि लोकतंत्र की जड़ें ही खोखली करती हैं। उपाध्याय ने इन विषयों पर लोक जागरण के लिए संगठन के कार्यकर्ताओं को शिक्षित करने का महती प्रयत्न किया। लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा ने समाज में कर्मचारियों का एक बहुत बड़ा वर्ग उत्पन्न कर दिया है। राजनीतिक आर्थिक जीवन में अधिक लोगों की सहभागिता की अच्छाई के साथ जो अनेक बुराइयाँ आई हैं उनमें एक बड़ी बुराई है ‘रिश्वतखोरी।’ दीनदयाल उपाध्याय ने एक शिक्षाप्रद ललित लेख लिखा। रिश्वतखोरी के समाजशास्त्र व मनोविज्ञान का विशद् विवेचन करते हुए इसके निवारण हेतु उपाध्याय कहते हैं- “हम इस पाप को यदि जड़मूल से मिटाना चाहते हैं तो इस पर चारों ओर से हमला करना होगा। प्रथम तो यह भाव व्यापक रूप से समाज में उत्पन्न करना होगा कि रिश्वत लेना और देना कानून की दृष्टि से ही दंडनीय नहीं, सामाजिक रूप से भी पाप है। जो इस पाप के दोषी हैं वे समाज में अधिकाधिक निंदनीय हों, इसका यत्न करना होगा। ऐसे लोग मताधिकार से वंचित किए जाने चाहिए। उनको जो दंड दिया जाए वह जेल की चारदीवारी तक सीमित नहीं रखा जाए; किंतु वह समाज को भी दिखाई दे।” सामाजिक बुराई से बचने का तरीका सामाजिक संस्कार व शिक्षा ही है। विविधायामी संगठनों व प्रयत्नों से जुड़कर दीनदयाल उपाध्याय ने इस संदर्भ में सतत सक्रिय प्रयत्न किए।

लोकमत-परिष्कार

दीनदयाल जी लोकजीवन से गहराई से जुड़े हुए थे इसी कारण उनका मत था कि लोकतांत्रिक समाज की समस्याओं की जड़ अपरिष्कृत लोकमत है। लोकमत को विवेकवान बनाना सामाजिक समस्याओं के निदान की गारंटी है। लोकमत को परिष्कृत करने के सरकारवादी प्रयत्नों को उपाध्याय अन्य सामाजिक बुराइयों की तुलना में एक बड़ी बुराई मानते हैं। अतः वे सांस्कृतिक प्रयत्नों से लोकमत-परिष्कार के हामी हैं। ‘लोकमत’ के समाज-विज्ञान को

विश्लेषण करते हुए वे अपना मत प्रकट करते हैं- “...लोकमत परिष्कार का काम कौन करे? रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों में यह काम राज्य के द्वारा किया जाता है। मार्क्स के सिद्धांतों के अनुसार मजदूरों की क्रांति के पश्चात प्रतिक्रांति की संभावना है। उसे रोकने के लिए कठोर उपायों के अवलंबन की आवश्यकता है। साथ ही अभी तक जीवन के जो मूल्य स्थापित हुए हैं, वे पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पर आधारित हैं।

उन्हें हटाकर नए प्रगतिवादी मूल्यों की लाना होगा। यह कार्य लेनिन ने राज्य को, जो कि उसके अनुसार सर्वहारा के प्रतिनिधियों एवं क्रांतिदर्शी महानुभावों द्वारा चलाया जाता है, सौंपा। किंतु उसका परिणाम यह हुआ कि वहाँ लोकमत-परिष्कार के नाम पर व्यक्ति की सभी स्वतंत्रताएं समाप्त कर दी गईं तथा कुछ व्यक्तियों की तानाशाही ही संपूर्ण जनता की इच्छा के नाम पर चलने लगी। जो दवा दी गई उससे मर्ज तो ठीक नहीं हुआ; ही, मरीज अवश्य चल बसे। अर्थात् समस्याएँ दोनों ओर हैं। एक ओर अपरिष्कृत लोकमत, जिसकी दिशा कभी सोच-विचार कर निश्चित नहीं होती। शेक्सपियर ने अपने नाटक ‘जूलियस सीजर’ में उसका बड़ी स्पष्टता से चित्रण किया है। जो जनता बूटस के साथ होकर जूलियस सीजर का वध कर हर्ष मना रही थी, वही थोड़ी देर में, एंटोनियो के भाषण के उपरांत बूटस का वध करने को उद्यत हो गई। माँबोक्रेसी और ऑटोक्रेसी, दो पाटों के बीच से, डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है।

“अतः जनता को सुसंस्कृत करने का सबसे अधिक महत्व है। जब तक इस काम को करने वाले राज्य के मोह से दूर, भय से मुक्त, उदार पुरुष एवं संगठक रहेंगे, लोकमत सही दिशा में चलता जाएगा। ‘दीनदयाल राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ’ के कार्य को ऐसा ही मानते थे। इसी कार्य के पोषण हेतु उन्होंने अपना जीवन सर्वस्व लगाया। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का इस दृष्टि से मूल्यांकन अभी यहाँ संभव नहीं है। भारत के विविध सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों, जिनमें राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ भी एक है, के प्रभाव का इस दृष्टि से अनुसंधान होना चाहिए। समाजशास्त्र के अध्येताओं के लिए यह बहुत उपादेय सिद्ध होगा। दीनदयाल जी ने अपने समय की प्रचलित धारणाओं का अध्ययन ही नहीं किया बल्कि उनकी भारतीय जरूरत के अनुसार व्याख्या भी करी . यह उनकी वैचारिक सक्रियता का ही नतीजा था.

सामाजिक विचार

दीनदयाल उपाध्याय का वैचारिक पक्ष सामाजिक व सांस्कृतिक था। इस सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि के प्रकाश में उन्होंने राजनीतिक व आर्थिक विषयों का विवेचन किया। राजनीतिक जीवन के अलावा सामाजिक जीवन, जिसमें परिवार, विवाह, स्त्री-पुरुष संबंध, जाति, पंथ व लोकाचार आदि विषय आते हैं, पर उपाध्याय ने ज्यादा बोला या लिखा नहीं है। वे जिस सामाजिक चेतना की बात करते थे वह मुख्यतः समाज की राजनैतिक-सांस्कृतिक चेतना थी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यक्रमों में संपन्न हुए बौद्धिक वर्ग में यथा प्रसंग सभी विषय आते थे; लेकिन उससे कोई क्रमबद्ध सामाजिक विचार नहीं उभरता।

उपाध्याय पश्चिम के तकनीकी अर्थ में समाजवाद का प्रबल विरोध करते हैं; लेकिन उनका एकात्मवाद वस्तुतः 'समष्टि' ही है। समष्टि का हित ही व्यक्तिगत आचरण के धर्म-अधर्म का निर्णय करता है। इस संदर्भ में उपाध्याय ने महाभारत के धर्मयुद्ध का बड़ा रोचक वर्णन किया है। महाभारत में पांडवों का पक्ष इसलिए धर्मपक्ष था क्योंकि पांडवपक्ष में हर महारथी ने सामूहिक हित के लिए व्यक्तिगत धर्म-अधर्म की चिंता नहीं की; जबकि कौरवपक्ष में सभी लोग अपनी वैयक्तिक धर्म की मर्यादा के सम्मुख सामूहिक धर्म की अवहेलना करते हैं। सामूहिक धर्म की अवहेलना के कारण कौरवपक्ष अधर्मपक्ष था तथा सामूहिक धर्म के लिए व्यक्तिगत लोकापवाद की चिंता न करते हुए कार्य करने के कारण पांडवपक्ष धर्मपक्ष था। वे लिखते हैं- "(कौरव पक्ष में) सबका मिलकर कोई एक कार्य संचालन नहीं था। सबको अपनी-अपनी ही चिंता थी। भीष्म को प्रतिज्ञा की चिंता थी। द्रोणाचार्य को पुत्र का मोह था। दुर्योधन को मात्र अपने राज्य की चिंता थी। उधर पांडवों के पक्ष में सबका मिलकर कार्य था। उनमें से प्रत्येक ने अपने-अपने व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को छोड़ा। भगवान् कृष्ण के नेतृत्व में एकजुट होकर जो भी कार्य आया, निभाया। कर्ण से भीख माँगना था, माँगी; बोलने का क्षण आया, बोला; निजी गुप्त रहस्य का उद्घाटन कर स्वयं लाञ्छित होने का प्रश्न आया, तो भी चिंता नहीं की। जैसा कृष्ण ने कहा, सब करते रहे। अपना-अपना आग्रह छोड़कर समष्टि के लिए ही कार्यरत हुए। उनका समष्टि का विचार करते हुए कार्य करने का ढंग ही

धर्म हुआ और व्यक्तिवादी आधार पर सोचने के कारण कौरव पक्ष अधर्म का पक्ष गिना गया। जीत धर्म की हुई, अधर्म की नहीं; यानी समष्टि ही धर्म है। व्यक्तिवाद अधर्म है।” अपने इसी भाषण में उपाध्याय आगे कहते हैं, “सच-झूठ सबकी कसौटी समष्टि का हित है।”

उनका तर्क है- “जैसे किसी की हत्या करना पाप है, किंतु युद्ध में लड़ने वाले सैनिक को कोई हत्यारा नहीं कहता। शत्रु पर वार करना, यह सैनिक का धर्म है। युद्ध में सैनिक रोज हिंसा करता है, उसे परमवीर चक्र देकर हम सम्मानित करते हैं; क्योंकि इस कार्य में वह व्यक्तिवादी ढंग से नहीं सोच रहा। राष्ट्र का विचार कर उसने आचरण किया है। इसलिए वह अभिनंदनीय है। यही आचरण यदि कोई व्यक्तिगत जीवन में करे तो उसे फाँसी की सजा होगी; किंतु युद्ध में शत्रु का विनाश करना राष्ट्र रक्षा का पुनीत कर्तव्य बन जाता है। शत्रुपक्ष में जाकर जासूसी करते समय कितने ही कार्य करने पड़ते हैं जिन्हें व्यक्तिगत जीवन में अनुचित ही कहा जाएगा। झूठ बोलना, चोरी करना तथा कितने ही प्रकार के कर्म करके शत्रु पक्ष के भेद लेने होते हैं। राष्ट्र के हित में की गई चोरी चोरी नहीं रहती; यानी कर्म का महत्त्व इस बात पर है कि वह किस विचार से किया गया। ‘इन विचारों में उपाध्याय ने समष्टि का कुछ अधिक ही उत्साही वर्णन किया है अन्यथा महाभारत में ‘धर्म’ पक्ष की इतनी सरल व्याख्या न की जाती; क्योंकि कौरव पक्ष यदि संगठित होकर भी कार्य करता तो भी यदि राज्याधिकार-विषयक एवं द्रौपदी के साथ किया गया उनका व्यवहार ‘अधर्म’ था तो संगठित होने से वह ‘धर्म’ नहीं बन जाता।

संगठित ‘अधर्म-गिरोहों’ को भला धर्मसम्मत कैसे कहा जा सकता है तथा कोई अच्छा प्रयत्न विशेष असंगठित होने मात्र से बुरा नहीं माना जा सकता। लेकिन, उपाध्याय ने वैयक्तिक मान-अपमान को भूल सामूहिक हित के लिए व्यक्ति की उदात्त भावनाओं के पोषण के लिए ही उपर्युक्त वर्णन किया है। बहुधा ऐसे उदाहरण अपने संपूर्ण अर्थ में सटीक नहीं होते हैं। सामाजिक जीवन में भी साध्य-साधन की पवित्रता का विवेक आवश्यक है। उपर्युक्त उदाहरण में उसका भी उल्लंघन हुआ है। संसार के विभिन्न समुदायों द्वारा यदि ‘स्वहित’ की कसौटी पर ही सत्य को कसा जाने लगा तो विश्व बड़ा अन्यायी व बर्बर बन जाएगा। तब ‘एकात्म मानव’ की कल्पना भी असंभव होगी।

तत्कालीन समाज की सामुदायिक विभक्ति की सच्चाइयों को उदाहरणार्थ प्रस्तुत करते हुए उपाध्याय ने व्यक्तिवाद के निषेध तथा समष्टि के पोषण के लिए ये विचार प्रस्तुत किए हैं। इस सीमित अर्थ में ही उपर्युक्त दृष्टिकोण का समर्थन संभव है। अन्यथा उपाध्याय द्वारा दिया गया उदाहरण एक खतरनाक संसार का निर्माण करेगा जो 'शत्रुवाद' पर आधारित होगा, 'एकात्मवाद' पर नहीं।

भारतीय सामाजिक जीवन विषयक उपाध्याय की दृष्टि सनातनी थी। वे विकृतियों के परिष्कार की बात करते हैं, लेकिन विकृतियों को ठीक करने के उग्र प्रयत्नों को, वे समाज के लिए अहितकर मानते हैं। उदाहरणार्थ वे 'जातिवाद' के विरोधी हैं लेकिन वर्ण-व्यवस्था के प्रखर समर्थक हैं। कुल मिलकर दीनदयाल जी की विभिन्न सक्रियताओं के चलते उनके विचार सामाजिक रूप से भारतीयों के लिए अनमोल ही है जिन्हें आज सुरक्षित और संरक्षित करने की आवश्यकता है।

समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया

उपाध्याय समाज जीवन के सहज विकास के पक्षपाती थे। वे परिवर्तन के लिए परिवर्तन एवं क्रांति की भाषा बोलने वालों से भी असहमत थे। वे सामाजिक सनातनता के समर्थक हैं एवं परंपरा को अपरिवर्तनीय नहीं वरन् प्रवाह के रूप में परिभाषित करते थे- "परंपरा का अर्थ अपरिवर्तनीय नहीं। हमारी परंपरा सनातन है। परिवर्तन प्रकृति का नियम है। परिवर्तन विपरीत भी होता है। घाव में परिवर्तन होता है, वह सड़ता है। जीवित शरीर का परिवर्तन विकास की ओर जाता है। परिवर्तन जीवित समाज का द्योतक है। जहाँ परिवर्तन नहीं, वहाँ सनातन नहीं; किंतु परिवर्तन जड़ से परंपरा के प्रवाह से संबंधित होना चाहिए।"

इस विकास प्रक्रिया को ही वे संस्कृति कहते हैं, "यही विकास है। इसी को संस्कृति कहते हैं। जिस परंपरा में परिवर्तन की योग्य क्षमता होती है उसे ही संस्कृति का सम्मानित पद दिया जाता है।"

"जहाँ परिवर्तन नहीं होते, तो उसे 'तमस' का लक्षण माना जाता है। तमसू अथवा तमोगुण का मतलब है 'आलस।' यथास्थिति में स्वतः विकार होने लगते हैं।"

दीनदयाल जी आगे कहा कि गतिशीलता विकास की प्रक्रिया है। यथास्थिति जीवनहीन का परिचायक है। अतः निष्क्रियता से सामाजिक जीवन में यथास्थिति आती है। उपाध्याय इस संदर्भ में कहते हैं, “उदास व सुस्त बच्चे से नटखट श्रेष्ठ है, कहीं अच्छा है। उदास बच्चा बीमार है, नटखट चैतन्य युक्त है। वह तोड़-फोड़ करता है, तो आनंद की बात नहीं पर वह अकर्मण्य नहीं। यह सत्य है। वह जोड़ते-तोड़ते ही निर्माण कर लेगा। तमसपूर्ण आलसी वृत्ति से कर्मण्य राजसी वृत्ति भली है। समाज में चैतन्यपूर्ण जागरूकता है तो वह राजसी वृत्ति सात्विक बन जाएगी। उसे संस्कृति का पाठ पढ़ाएं वही राष्ट्रनिर्माण करेगा।

उनका मानना था कि यथास्थिति कभी नहीं रह सकती। आगे बढ़ना या पीछे हटना, दोनों में से एक अवश्य होगा। इसलिए आगे बढ़ो। विकास के समाजशास्त्र व मनोविज्ञान की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि विकास का स्वाभाविक परिणाम होगा समाज-जीवन में विभिन्नता व विविधताओं का उत्कर्ष। इन विविधताओं में ‘एक स्वरलहरी’ उत्पन्न करना। जैसे, विविध रेखाओं के समन्वय से एक सुंदर चित्र बनता है, वैसे ही सामाजिक विविधताओं का समायोजन व समन्वय करना, यह ‘धर्म’ का कार्य है।

इस प्रकार समाज में उत्पन्न ठहराव की स्थिति में उपाध्याय वाल्टेयरी गतिशीलता के प्रवक्ता थे। उनकी दृष्टि में समाजव्यापी ठहराव का मुख्य कारण था समाज-जीवन की परंपरा के ‘आंतरिक भाव में क्षीणता आ जाना। केवल ऊपरी कर्मकांड को ही हम संस्कृति समझ बैठे। वे उदाहरण देते हैं कि कर्मकांड के रूप में ‘कुंभ का विराट मेला’ होता है; लेकिन उसमें जो ‘अखिल भारत दृष्टि उत्पन्न होने का आंतरिक भाव है, वह समाप्त हो गया है परिणामतः हमारी अच्छी बातें ही हमारी आंतरिक दुर्बलताएँ बन गईं। इस दृष्टि से भारतीय जनसंघ की स्थापना के समय उन्होंने जो ‘सांस्कृतिक पुनरुत्थान’ नामक वैचारिक प्रस्ताव प्रस्तुत किया उसमें हिंदू समाज को सचेत करते हुए कहा- “(हिंदू समाज) अपनी इतिहास सिद्ध अंतरंग सामाजिक दुर्बलताओं का शीघ्रता से निराकरण करे। विशेषकर जातिभेद के कारण उत्पन्न ऊँच-नीच और विभिन्नताओं को तत्काल दूर किया जाए और पिछड़े हुए वर्ग तथा अन्य हिंदुओं के बीच पूर्ण साम्य की स्थापना की जाए। साथ ही समाज हेतु धार्मिक पर्व और उत्सवों को सामूहिक, संगठित तथा अनुशासित

रूप से मनाया जाए।” सामाजिक सक्रियता एवं विचार अपने परिवर्तनाकांक्षी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उपाध्याय ने कार्यकर्ताओं को उद्बोधन दिया कि “यद्यपि हमें अपने उज्ज्वल अतीत का अभिमान है और हम उसमें जो कुछ अच्छा है उससे स्फूर्ति भी लेते हैं; परंतु दूसरी ओर हम यह भी मानते हैं कि आज हम उस अति प्राचीन युग में नहीं रह सकते। हम तो अब उससे भी अधिक उज्ज्वल भविष्य निर्माण करने के लिए बद्धपरिकर हैं। इसलिए हमें बहुत सी पुरानी रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों को छोड़ना होगा।”

सामाजिक यथास्थितिवाद के विरोधी होते हुए भी उपाध्याय में परिवर्तन की उग्रता का अभाव होने के कारण कुछ लोगों ने संघ व उपाध्याय के समाज दर्शन को यथास्थितिवादी माना। वास्तव में विकास की प्रक्रिया का संयोजन एवं समाज को संस्कारित करने का कार्य मंदगति एवं बहुत परिश्रम से साध्य होता है। इससे तत्काल चमत्कार नहीं होते। जो व्यक्ति ‘समाज सुधारक’ की भूमिका में रहते हैं उनमें बहुधा परिवर्तन की व्यग्रता रहती है। वे समाज की विकृतियों पर सीधी चोट करते हैं। ‘क्रांतिवादी’ तो समाज को समूल उलट देने की मानसिकता वाले होते हैं। अतः दोनों ही प्रकार के लोगों को उपाध्याय का सौम्य वाल्टेयर बहुत रंजक न लगा हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

समाज-परिवर्तन की इस वाल्टेयरी प्रक्रिया को गति देने में ‘शिक्षा’ को उपाध्याय निर्णायक मानते हैं। औपचारिक शालेय शिक्षा तथा अनौपचारिक संस्कार-व्यवस्था के माध्यम से समाज के सब ‘पुरुषार्थ’ को प्राप्त करने की वे कामना करते हैं। सामाजिक विषयों में उन्होंने ‘शिक्षा’ पर तुलनात्मक रूप से अधिक क्रमबद्ध विचारों का प्रणयन किया है।

दीनदयाल जी आधुनिक भारत के चाणक्य कहे जाते हैं। उन्होंने बदलती हुई परिस्थितियों का मूल्यांकन बहुत ही वैज्ञानिक और सनातन तरीके से किया है। वे परिवर्तन होने वाली नवीनता के पक्षधर जरूर थे किन्तु उन्होंने भारत की परचिंता को हमेशा अपने विचारों में शामिल किया है। यही कारन है कि आज भी उनके परिवर्तन शील विचारों को आज भी मार्गदर्शन हेतु प्रयोग में लाया जाता है।

नींव के पत्थर

जब अंग्रेज हम पर राज कर रहे थे, तब हमने उनके विरोध में गर्व का अनुभव किया, लेकिन हैरत की बात है कि अब जबकि अंग्रेजों चले गए हैं, पश्चिमीकरण प्रगति का पर्याय बन गया है

प्रतिभा एवं नेतृत्व क्षमता के बल पर पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने अपने कदम राजनीति में बड़ी ही मजबूती के साथ रखे थे। उन्होंने प्रारंभ से ही नींव का पत्थर बनकर संघ व भारत की सेवा की। यह वह समय था जब भारत पर काँग्रेस का साम्राज्य था। देश में वह एकमात्र राजनीतिक दल था। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात काँग्रेस की ही सरकार थी। किंतु उसकी नीतियों के चलते एक अन्य राजनीतिक दल की आवश्यकता की आवाज उठने लगी थी। इसके लिए वर्ष 1951 में श्यामा प्रसाद मुखर्जी की अगुवाई में भारतीय जनसंघ नामक राजनीतिक दल के गठन पर विचार विमर्श किया।

21 सितम्बर 1951 को पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी ने लखनऊ में उत्तर प्रदेश का प्रादेशिक सम्मेलन किया और इसी सम्मेलन में उन्होंने प्रादेशिक जनसंघ स्थापित कर दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रस्ताव भी रखा कि जनसंघ को अखिल भारतीय बनाना चाहिए। सभी ने इनके इस प्रस्ताव पर स्वीकृति प्रदान कर दी। 21 अक्टूबर 1951 को डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में दिल्ली में अखिल भारतीय सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें यह संगठन 'अखिल भारतीय जनसंघ' के रूप में उभरा। इस प्रकार अखिल भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई।

दिसम्बर 1952 में कानपुर में 'अखिल भारतीय जनसंघ' का प्रथम अधिवेशन आयोजित किया गया। पं. दीनदयाल उपाध्याय जी की क्षमता से

सभी भली- भाति परिचित थे। पत्रकारिता का क्षेत्र हो साहित्य का क्षेत्र हो अथवा राष्ट्रीय सेवक संघ के प्रचारक का क्षेत्र हो; प्रत्येक क्षेत्र में उन्होंने अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ी थी। उनकी इसी क्षमता को ध्यान में रख कर डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने उन्हें जनसंघ का महामंत्री नियुक्त किया। अब पं. दीनदयाल जी के कंधों पर यह नई जिम्मेदारी आ गई।

डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने दीनदयाल जी के विषय में कहा था- “जैसा मैं चाहता था वैसा ही साथी मुझे मिल गया।” और “मुझे ऐसे दो दीनदयाल और दे दीजिए मैं सारे देश का नक्शा बदल दूँगा।” पं दीनदयाल जी ने जनसंघ का महामंत्री पद पंद्रह वर्ष तक संभाला एवं जिम्मेदारी से कार्य किया।

जिस समय दीनदयाल जी ने महामंत्री का पद संभाला उस समय शेख अचूल्ला द्वारा देश के सरताज कश्मीर को हड़पने का प्रयास किया जा रहा था और काँग्रेस सरकार मूक दर्शक बनी बैठी थी। तब जनसंघ ने इसके विरोध में खड़े होने का निर्णय लिया। डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने भी संसद में आवाज उठाई लेकिन कुछ न हो सका। तब जनसंघ ने सत्याग्रह द्वारा आगे आने का उपाय सोचा। इस सत्याग्रह में डी. श्यामा प्रसाद जी ने अपना बलिदान दिया। जनसंघ ने इसके अंतर्गत अपना लक्ष्य रखा था- “एक देश में एक प्रधान एक विधान एवं एक निशान।” जिसमें दीनदयाल जी की महत्वपूर्ण भूमिका थी जिसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है।

डॉ. श्यामा प्रसाद जी की मृत्यु के बाद जनसंघ में संकट छा गया। इसके अध्यक्ष पं. मौलिचन्द्र शर्मा के समय जनसंघ में मतभेद भी हुआ। एकनाथ राणाडे (केंद्रीय अधिकारी) के कारण जनसंघ में गृह-कलह बढ़ गई। जिसको दीनदयाल जी अच्छी तरह से देख रहे थे।

श्री वसंत राव ओक ने अनेक प्रदेशों के अतिरिक्त राजे-रजवाड़ों को जनसंघ के साथ लिया था। लेकिन गृह-कलह के कारण उन्हें जनसंघ से हटना पड़ा। जनसंघ टूटता गया कार्यकर्ता इधर-उधर हो गए। लेकिन इस समय पंडित दीनदयाल जी ने अपनी प्रतिभा अनुरूप कार्य किया और जनसंघ को पुनः प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया और उसमें वे सफल भी हुए। जनसंघ की अध्यक्षता डॉ. रघुवीर ने संभाली पं. दीनदयाल उपाध्याय जो कि अनेक भाषाओं के ज्ञाता एवं ख्याति प्राप्त विद्वान थे। लेकिन दुर्भाग्य से

जनसंघ को पुनः झटका लगा। वर्ष 1962 में एक दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। पुनः जनसंघ संकट में आ गया। लेकिन दीनदयाल जी ने पुनः सूझबूझ से कार्य किया। इसलिए वे जनसंघ को देश के कोने-कोने में पहुँचाने के काम में लग गए क्योंकि जनसंघ अभी तक नगरों तक ही सीमित था। दीनदयाल जी ने स्थान-स्थान पर जाकर जनसंघ को बढ़ावा दिया साथ ही अनेक प्रांतों गाँवों एवं नगरों के लोगों से मिलकर उनकी परेशानियों को समझा और उनको संघ से जोड़ने का काम किया।

दीनदयाल जी की सामाजिक और राजनैतिक सक्रियता को देखते हुए उनको लोक सभा चुनाव में उतरने का फैसला किया और वर्ष 1963 में लोकसभा के चुनावों में दीनदयाल उपाध्याय जी ने भी जौनपुर से अपनी उम्मीदवारी प्रस्तुत की लेकिन वहाँ पर उनका विरोध किया गया और वे चुनाव में जीत न सके, वे राजनीति में आना नहीं चाहते थे। अंत में उन्हें गुरुजी (श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर) से भी कहना पड़ा कि “आपने मुझे किस झमेले में डाल दिया। मुझे प्रचारक का काम ही करने दें।”

लेकिन गुरुजी बोले- “भई तुम्हारे अतिरिक्त इस झमेले में किसको डालें। संगठन के कार्य पर जिसके मन में इतनी अविचल श्रद्धा है वह ही उस झमेले में रहकर कीचड़ में भी कीचड़ से अस्पृश्य रहता हुआ सुचारू रूप से वहाँ की सफाई कर सकेगा।” वर्ष 1967 में जनसंघ का चौदहवाँ अधिवेशन कालीकट में हुआ। वहाँ पं. दीनदयाल जी को एक और बड़ी जिम्मेदारी सौंपी गई। उन्हें जनसंघ का अध्यक्ष बना दिया गया। इस प्रकार आप देखते हैं कि उनके अन्दर सिर्फ और सिर्फ नींव का पत्थर ही बने रहने की आकांक्षा थी न कि कोई महत्त्वाकांक्षा .

दीनदयाल जी ने आपने सामाजिक सरोकारों की बदौलत ही उन्हें संगठनात्मक कार्य में लगाया गया और देखते ही देखते संगठन स्तर पर जनसंघ बहुत मजबूत होकर सबके सामने आ गया। दीनदयाल जी के बारे में ‘जनसंघ आइडियोलॉजी एंड आर्गनाइजेशन इन पार्टी बिहेवियर’ शीर्षक से अपने सुदीर्घ अंग्रेजी निबंध में वाल्टर के. एंडरसन ने लिखा है- “पंडित दीनदयाल उपाध्याय जी के 1967 में जनसंघ का अध्यक्ष पद स्वीकार करने का यही अर्थ था कि दल की संगठनात्मक नींव डालने का काम पूरा हो गया

है और राष्ट्रीय स्तर पर एक प्रबल प्रतिस्पर्धी के नाते सत्ता की प्रतियोगिता में उतरने का उसका संकल्प है।”

पं. दीनदयाल उपाध्याय जी के बारे में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरसंघ संचालक श्री गोलवलकर गुरुजी ने उनके राजनीतिक कार्य के विषय में एक बार कहा था कि बिलकुल नींव के पत्थर से प्रारम्भ कर जनसंघ के कार्य को इतना नाम और इतना रूप देने का ष्टरेय यदि किसी एक व्यक्ति को देना हो तो वह दीनदयाल जी को ही देना होगा। इस प्रकार दीनदयाल जी ने राजनीति के क्षेत्र में भी अपनी भूमिका को पूर्ण रूप से निभाया। उन्होंने सिद्ध किया कि वे प्रत्येक क्षेत्र में अपनी प्रतिभा दिखाने की क्षमता रखते हैं।

दीनदयाल उपाध्याय ने अपनी इंग्लैंड यात्रा के समय वहाँ रहने वाले भारतीयों एवं अध्ययनशील विद्यार्थियों के दिलों में जनसंघ की छाप स्थापित करने का विचार किया और भारतीयता के उचित प्रसार-प्रचार के लिए कार्य प्रारम्भ किया। इंग्लैंड में भारतीय दूतावास भी जनसंघ को ‘एक हिन्दू सम्प्रदायवादी’ संस्था के रूप में मानता था। पंडित दीनदयाल जी ने इन सभी शंकाओं का समाधान किया और लंदन में जनसंघ फोरम की स्थापना की। आज भारत में उनके जैसे विचारकों और समाज सुधारों की आवश्यकता है जो बिना स्वार्थ के देश के लिए अपना पूरा जीवन अर्पित कर सके. उनको जितनी बार स्मरण किया जाता है उतनी ही बार उनका चमकता हुआ व्यक्तित्व राष्ट्र के प्रति अपनी जिम्मेदारी का अहसास दिलाता है.

आज भारत में जिस प्रकार की राजनीतिक नेता पैदा हो रहे हैं वे सिर्फ और सिर्फ अपनी स्वार्थ सिद्धी के लिए आ रहे हैं और जल्दी से जल्दी अपनी महत्वाकांक्षा को पूरा करना चाहता है. ऐसे कठिन समय में दीनदयाल जी हमारे पथ प्रदर्शक के रूप में हमारे सामने जीवंत उदाहरण पेश करते हैं. अब यह हमारी जिम्मेदारी है कि हम उनके विचारों को जन जन तक पहुंचाये ताकि समाज में उनके जैसे महान लोग पैदा होते रहे.

राजनीतिक विचार

पश्चिमी विज्ञान और पश्चिमी जीवन शैली दो अलग अलग चीजें हैं। चूँकि पश्चिमी विज्ञान सार्वभौमिक है और हम आगे बढ़ने के लिए इसे अपनाना चाहिए, लेकिन पश्चिमी जीवनशैली और मूल्यों के सन्दर्भ में यह सच नहीं है।

अभी हमने उपाध्याय जी के सामाजिक विचारों की रोशनी में वर्तमान समाज को समझने का प्रयास किया है। अब हम उनके राजनीतिक विचारों को रेखांकित करने की कोशिश करेंगे। वैसे तो उनके सामाजिक और राजनीतिक विचारों को अलग-अलग करना काफी कठिन कार्य है, क्योंकि उपाध्याय राजनीति व राज्य-व्यवस्था को समाज की प्रतिनिधि व्यवस्था नहीं मानते। अतः उनके राजनीतिक विचार भी सामाजिक ज्यादा व राजनीतिक कम हैं। उनको 'धर्म' व 'संस्कृति' तत्त्व इतना प्रभावित करते हैं कि चाहे वे सामाजिक विषयों का प्रतिपादन करें चाहे राजनीतिक, वे उन्हें सांस्कृतिक आयाम दे देते हैं। यथा, लोकतंत्रात्मक शासन पद्धति व प्रक्रिया से अधिक उनकी रुचि लोकतांत्रिक सामाजिक संस्कृति में है। राज्य-व्यवस्था से अधिक उनकी रुचि समाज की 'धर्मचेतना' में है। अतः उनके सामाजिक व राजनीतिक विचार परस्पर गुँथे हुए से लगते हैं।

राजनीति के अंतर्गत माने जानेवाले तत्त्वों को बिंदु बद्ध करते हुए उनके विचारों का हम राजनीतिक विचारों के नाते विवेचन करेंगे, इन बिंदुओं में से किसी पर भी उपाध्याय ने कोई स्वतंत्र लेखन या विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया है। उनके विचारों में यथा प्रसंग ये विषय आए राजनीतिक विचार को ही हम यहाँ रेखांकित करने का प्रयत्न करेंगे।

राज्य की उत्पत्ति

दीनदयाल उपाध्याय की मान्यता है कि समाज स्वयंभू इकाई है तथा 'राज्य' की उत्पत्ति समाज की एक आवश्यकता की पूर्ति के लिए हुई। वे समाज व राज्य की उत्पत्ति एक साथ हुई नहीं मानते; वरन् समाज पहले उत्पन्न हुआ तथा राज्य बाद में। समाज का सहोदर 'धर्म' है। 'धर्म' के आधार पर समाज चलता था। उपाध्याय इस भारतीय मान्यता से सहमत हैं कि कृतयुग में राज्य व दंड-व्यवस्था नहीं थी। धर्म के आधार पर संचालित स्वायत्त समाज था। कालांतर में समाज में विकृति आई। उस विकृति से 'धर्म' का संरक्षण करने के लिए राज्य की उत्पत्ति हुई। इस संदर्भ में दीनदयाल कहते हैं- "राज्य का निर्माण हमारे यहाँ सामाजिक समझौते के अनुसार हुआ। पहले राजा नहीं था। महाभारत में वर्णन है कि कृत युग में न राज्य था, न राजा था, न दंड था, न दंड देने वाला था; सब प्रजा धर्म के आधार पर एक-दूसरे की रक्षा करती थी।

"बाद में अव्यवस्था आई, लोभ आया, क्रोध आया, धर्म की ग्लानि हुई और 'माक्य न्याय' प्रारंभ हो गया। सारे ऋषि घबराए कि कैसे काम चलेगा? सभी ब्रह्मा के पास गए। ब्रह्माजी ने स्वयं रचा हुआ एक ग्रंथ इन ऋषियों को दिया जो 'दंडनीति' या 'राज्यशास्त्र' के संबंध का ग्रंथ था। उन्होंने साथ-साथ आकर मनु से कहा कि तुम राजा हो जाओ। मनु ने कहा, 'मैं राजा नहीं होता; क्योंकि राजा बनने के बाद मुझे दंड करना पड़ेगा और कुछ लोगों को मारना होगा, कुछ को पीटना होगा, कुछ को कारागार में डालना होगा व अन्य कई कठोर कर्म करने पड़ेंगे। मैं यह पाप क्यों करूँ?' इस पर ब्रह्माजी ने कहा, 'ऐसी कुछ बात नहीं है। यह पाप नहीं; बल्कि अन्य लोग धर्म का काम करें इसके लिए तुम यह काम करोगे।' अतः यह भी धर्म ही गिना जाएगा। इतना ही नहीं, प्रजा के जितने कर्म होंगे, उन कर्म का एक भाग तुम्हें मिल जाएगा और इसलिए ये जितना धर्म करेंगे उसका एक भाग स्वयं मिल जाएगा। इसमें बताया तो नहीं है, पर मैं समझता हूँ कि यदि प्रजा पाप या अधर्म करेगी और राजा उसे रोक नहीं सके, तो उस पाप का भाग भी राजा को मिलना चाहिए। ऐसा नहीं हो सकता कि 'मीठा-मीठा गप्य और कडुवा-कडुवा धूप' दोनों ही मिलने चाहिए।

"यह 'समझौता-सिद्धांत' राज्य पर लागू हो सकता है, राष्ट्र के ऊपर नहीं। परंतु पश्चिम में कुछ उल्टा हुआ। समाज तो उनकी दृष्टि से समझौते

में से पैदा हुआ; परंतु राजा दैवी अधिकार के आधार पर सीधा ईश्वर का प्रतिनिधि बन गया। यह उलटी बात है। हमारे यहाँ राजा को चाहे आदि-समय से पैदा हुआ माना गया; परंतु समाज को तो 'स्वयंभू माना है तथा राज्य एक संस्था के नाते है।'

उपर्युक्त उद्धरण में मुख्यतः तीन बातों पर उपाध्याय ने अपना मत प्रस्तुत किया है (1) राज्योत्पत्ति पूर्व समाज की स्थिति, (2) राज्य की उत्पत्ति तथा (3) पश्चिम की तत्संबंधी अवधारणा। प्रथम दो बातों में से निम्न निष्पत्तियाँ निकाली जा सकती हैं- 'राज्य की उत्पत्ति समाज के बाद हुई।'

राज्योत्पत्ति पूर्व समाज सहजधर्म का पालक था; धर्मविधायक ऋषि व प्रजापति ब्रह्मा स्वयं राजा नहीं थे। राज्य मानवी विकारों की उत्पत्ति है। वह प्रजा में उत्पन्न हुए लोभ, क्रोध आदि धर्म को हानि पहुँचाने वाले तत्त्वों के खिलाफ निरूपित हुआ। अतः राज्य का प्रारंभिक स्वरूप नकारात्मक था, 'दंड-नीति' के रूप में। भारतीय राज्य कल्पना वैधानिक राज्य कल्पना है। प्रजा के प्रतिनिधि ब्रह्मा द्वारा राजा मनु को स्वनिर्मित 'विधान' प्रदान किया गया।

राज्य, राजा और प्रजा के दोहरे समझौते में से उत्पन्न हुआ। धर्म स्थापना का कार्य ऋषियों का तथा धर्म संरक्षण का कार्य राजा का माना गया (विधायिका व कार्यपालिका में पृथक्करण)। प्रजा के 'धर्म' का एक भाग राजा को मिलेगा; यह विचार, प्रजा द्वारा स्वीकृत राज्य-व्यवस्था तथा कराधान की जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है। पाप का भाग भी राजा को मिलेगा; अर्थात् धर्मरक्षण में असमर्थ राजा को हटाने का अधिकार प्रजा एवं उनके प्रतिनिधि ऋषियों को रहेगा।

राज्य समाज की एक संस्था है, संपूर्ण समाज नहीं

राज्योत्पत्ति की यह कल्पना आधुनिक लोकतंत्रात्मक संवैधानिक शासन के बहुत निकट है। संभवतः इसी परंपरा के कारण तृतीय विश्व में केवल भारत ही ऐसा देश है जहाँ आधुनिक संवैधानिक लोकतंत्र सहज रूप में अपनी जड़ें जमा सका।

पश्चिम के विचारों के बारे में दीनदयाल उपाध्याय ने अपने राजनीतिक विचार रखते रहे हैं। हॉब्स, लॉक तथा रूसो द्वारा प्रतिपादित सामाजिक समझौते का सिद्धांत, समाजोत्पत्ति का नहीं वरन् राज्योत्पत्ति का ही सिद्धांत है। इस

सिद्धांत को सामाजिक समझौते का सिद्धांत कहते अवश्य हैं; लेकिन यह वस्तुतः 'राज्य स्थापना के लिए समाज द्वारा किए गए समझौते का सिद्धांत है।' द्वितीयतः पश्चिम के 'सामाजिक समझौता सिद्धांत' के प्रतिपादकों ने इस सिद्धांत को 'राजा की ईश्वरीय सत्ता' के खिलाफ ही प्रतिपादित किया था। अतः यह उलटी बात नहीं वरन् सीधी बात हुई कि पश्चिम के ये विचारक भी प्राचीन भारतीय कल्पना के 'समझौता-सिद्धांत' की सत्यता का साक्षात्कार कर सके। अतः इस समझौता-सिद्धांत के प्रतिपादकों को उपालंभ देने के बजाय उनका साधुवाद करना चाहिए कि उन्होंने पश्चिम की एक गलत अवधारणा को ठीक करने का प्रयास किया। उन्होंने भारतीयता के मंडन के साथ-साथ पश्चिम के खंडन की प्रवृत्ति को भी सहज भाव से प्रस्तुत किया है।

धर्मराज्य

दीनदयाल जी ने 'धर्म' की अवधारणा के संदर्भ में धर्मराज्य, धर्मनिरपेक्ष राज्य तथा 'थियोक्रैटिक स्टेट' के विषय में विस्तार से चर्चा की थी। प्रथम है, समाज की 'राज्यविहीन धर्मव्यवस्था' तथा द्वितीय, समाज की 'धर्मराज्य व्यवस्था।' समाज में 'राज्यविहीन धर्मव्यवस्था' का तात्पर्य है, समाज स्वेच्छा से नियमों का पालन करता है। नियमों के पालन के लिए किसी बाहरी सत्ता की जरूरत नहीं होती।

समाज की शिक्षा व संस्कार-व्यवस्था इतनी सबल होती है कि सामान्य परिवार एवं पंचायत-व्यवस्था से उसका काम सहज ही चलता रहता है। नियमों के उल्लंघन की प्रवृत्ति नहीं होती। सहज रूप से 'नियमों' के पालन की इस व्यवस्था को 'राज्यविहीन धर्मव्यवस्था' कहा जा सकता है। यह व्यवस्था इतनी अनौपचारिक होती है कि 'धर्म' के नियमन की किसी औपचारिक व्यवस्था का भी विधान नहीं रहता। समाज के ऋषि व्यक्तित्व जीवन के सत्यों का साक्षात्कार करते हैं। सुखी वैयक्तिक व सामाजिक जीवन के नियमों को ढूँढ़ते हैं। ये बूढ़े हुए नियम ही 'धर्म' कहे जाते हैं। उनकी मूल प्रवृत्ति एक ही होती है। व्याख्या में फर्क के कारण 'धर्मविवेचन' के अनेक संप्रदाय बन जाते हैं; लेकिन समाज संचालन में कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती। समाज एक अनौपचारिक सर्वानुमतिवाला नीतिशास्त्र विकसित कर लेता है।

यह 'राज्यविहीन सामाजिक धर्म व्यवस्था' दुनिया के बहुत से दार्शनिकों

का अत्यंत प्रिय विषय रही है। दुनिया के सभी 'अराज्यवादी' अराजकतावादी नहीं होते, 'धर्मवादी' होते हैं। उपाध्याय भी मूलतः धर्मवादी थे।

शिक्षा एवं संस्कार-व्यवस्था के माध्यम से समाज में धर्म व्यवस्था का प्रणयन होता है। किसी भी समाज के लिए अभी तक यह असंभव रहा है कि उत्पन्न होनेवाली हर संतान के लिए शिक्षा व संस्कार की योग्य व्यवस्था कर सके। समुदायों का परस्पर संक्रमण जनसंख्या का वर्धन एवं निहित स्वार्थ का सृजन समाज की शिक्षा व संस्कार-व्यवस्था को चुनौती देते रहते हैं। तब समाज को एक औपचारिक व्यवस्था की जरूरत होती है जो 'अनीतिमान' लोगों से बलपूर्वकनीति का पालन करवाए तथा 'नीतिमान' लोगों के नीतिपालन में किसी को बाधा उत्पन्न न करने दे। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए 'नीतिशास्त्र' का 'राजनीतिशास्त्र' में परिवर्द्धन होता है। 'राज' समाज में 'नीतिशास्त्र' के संरक्षण के लिए है, यह 'धर्मराज्य' की मान्यता है। दीनदयाल उपाध्याय 'धर्मवादी' होने के साथ ही 'धर्मराज्यवादी' भी थे। उपाध्याय मानते थे कि हमारी राज्यविहीन धर्मव्यवस्था एवं पंचायत पद्धति श्रेष्ठ मानवीय जीवन की प्रतिपादक थीं; लेकिन क्योंकि हमने 'राज्य' तत्त्व की अवहेलना की, इसी कारण विदेशी ताकतों को भारत में घुसने का अवसर मिला, और इसीलिए बाद में हमें 'स्वराज्य' को ही अपना 'स्वधर्म' घोषित करना पड़ा।

अवधारणतः उपाध्याय के विचार उचित लगते हैं; लेकिन एक बार औपचारिक 'राज्य' व्यवस्था को स्वीकारने के बाद औपचारिक 'विधान जो कि सामाजिक धर्म का प्रतिनिधि है, की भी व्यवस्था करनी होगी। औपचारिक विधान के लिए औपचारिक विधि निर्माता भी चाहिए। अनौपचारिक ऋषि-व्यवस्था मात्र से यह कार्य नहीं हो सकता लेकिन उपाध्याय अपने संपूर्ण विवेचन में इस औपचारिक 'धर्म व्यवस्था' के नियमन की कहीं विवेचना नहीं करते; लेकिन धर्म की सत्ता का प्रखरता पूर्वक मंडन करते हैं।

धर्म की नियामक न प्रजा है, न कोई संस्था है, न राजा है; लेकिन धर्म संप्रभु है। दुर्योग से आजकल लोग 'धार्मिक संप्रदाय' तथा 'धर्मशास्त्र'

राज्यवाद

राज्य के विषय में दुनिया के बहुत से लोगों ने अपनी राय समय समय पर रखी है। भारत के चाणक्य कहे जाने वाले दीनदयाल जी ने भी अपने मत

प्रस्तुत किये थे उन्होंने कहा कि 'राज्य' का सामाजिक जीवन में क्या स्थान है? राजनीतिशास्त्र में यह विषय बहुत विवादास्पद रहा है। राज्यविहीनता से लेकर सर्वसत्तावादी राज्यवाद तक की अतिवादी मान्यताएँ इस संदर्भ में राजनीतिक विद्वानों में है। 'राज्य समाज की एक सहज आवश्यकता है 'राज्य एक बुराई है 'राज्य एक आवश्यक बुराई है 'राज्य एक अनावष्टयक बुराई है 'राज्य समाज का पूरी तौर पर प्रतिनिधि है' तथा 'राज्य समाज का आशिक प्रतिनिधि है 'राज्य, समाज तथा राष्ट्र समानार्थी है 'आदि परस्पर विरोधी व भिन्नतामूलक अवधारणाएँ प्रचलित हैं। दीनदयाल उपाध्याय न तो 'राज्यवादी' थे, न 'राज्यविरोधी'। 'राज्यसंस्था को समाज की महत्त्वपूर्ण व व्यावहारिक आवश्यकता मानते हैं। अराज्यवाद उन्हें प्रिय है; लेकिन उसे वे आज के संसार में अव्यावहारिक मानते हैं।

वे 'राज्य' को न तो समाज व राष्ट्र के समानार्थी मानते हैं, न समाज का पूर्ण प्रतिनिधि। वे मानते हैं कि राज्य, समाज द्वारा अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए बनाई गई, एक संस्था है। वे कहते हैं, "पहरेदार खजाने से बड़ा नहीं हो सकता, कोष की तुलना में कोषाध्यक्ष छोटा ही माना जाएगा। 'लेकिन इस कथन में उपाध्याय राज्य व सरकार को एक ही मानते से लगते हैं, जबकि सरकार राज्य का एक अंग मात्र है।

सर्वसत्तावादी राज्य के वे नितांत खिलाफ हैं। वे इस मत से सहमत हैं कि 'राज्य' समाज जीवन की बाधाओं की बाधा है तथा 'शासन वह अच्छा जो कम-से-कम शासन करे।' केवल औपचारिक कानून के बल पर शासन का चलना वे समाज की अस्वस्थता की निशानी मानते हैं। समाज जितनी स्वायत्तता से चले, समाज का जितना नियमन लोक-शिक्षा, लोक-संस्कार व लोकमत-परिष्कार से हो उतना ही अच्छा है। वे इसी को धर्म की सत्ता की स्थापना एवं सांस्कृतिक कार्य मानते हैं।

वे पश्चिम के 'व्यवस्थावाद' से असहमत हैं। व्यवस्थाओं के बंधे-बंधाए चौखटों में मानव को फिट करने के प्रयत्न को वे 'मनुष्य' के प्रति किया गया अपराध मानते हैं। विवेक संगत व्यवस्था के हिमायती होते हुए भी उनकी यह मान्यता है कि 'मनुष्य तत्त्व' निर्णायक होना चाहिए। व्यवस्था की अंतर्निहित तर्कसंगतता की कितनी भी महत्ता हो, वह मनुष्य तल से ऊपर नहीं है। अतः राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माध्यम से 'मनुष्य निर्माण' का कार्य वे अपने जीवन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य मानते थे तथा इसीलिए भारतीय जनसंघ को

‘संस्कृतिवादी’ राजनीतिक दल बताते थे। वे मनुष्य को ‘राजनीतिक प्राणी’ की बजाय ‘संस्कारों का पुतला’ मानते थे। समाज व राष्ट्र संज्ञा राजनीतिक नहीं वरन् ‘सांस्कृतिक’ है, यह उनकी अभिधारणा थी।

इस प्रकार उपाध्याय ‘राज्यविरोधी’ तथा ‘राज्यवादी’ दोनों अतिवादी खेमों से अपने को मुक्त रखते हैं। वे प्रतिपादित करते हैं, “राजा को बताया है कि न तो उसे ‘क्षीणदंड’ होना चाहिए न ‘उग्रदंड’; अपितु उसे मृदुदंड होना चाहिए। यदि शासक दंडनीति का अत्यधिक सहारा लेता है तो प्रजा में विद्रोह की भावना पैदा हो जाती है। जब ‘धर्मभाव’ के स्थान पर ‘दंड’ ही प्रजा के आचरण का नियामक बन जाए तो दंडनीति का प्रभाव हो जाता है तथा धर्म का हास होने लगता है। निरंकुश राजाओं के शासन में धर्म की ग्लानि का यही प्रमुख कारण है। राज्य के प्रभाव का निषेध करते हुए वे आगे कहते हैं, “राज्य जब सब प्रकार की विभूतियों को अपने अधीन कर लेता है, तब भी उसका प्रभाव पैदा होकर धर्म की हानि होती है। राज्य की शक्ति और क्षेत्र अमर्यादित हो जाए तो संपूर्ण जनता राज्यमुखापेक्षी बन जाती है। वहाँ राज्य का प्रभाव हो जाता है। इन अवस्थाओं में धर्म को धक्का लगता है।” ‘दीनदयाल उपाध्याय ‘व्यवस्था से व्यक्ति’ या ‘व्यक्ति से व्यवस्था’ की खंडात्मक पहेलियों से दूर रहते हुए चाहते थे कि व्यक्ति एवं व्यवस्था, दोनों को धर्म का पालन करने वाली होनी चाहिए। व्यवस्था के नाम पर ‘तव्यवाद’ के पोषण के वे विरोधी थे; लेकिन ‘राज्य’ की व्यावहारिक आवश्यकता को व्यक्ति व समाज का ‘धर्म’ मानते थे।

प्रजातंत्र

प्रजातंत्र किसी भी देश समाज व्यक्ति के लिए एक आकर्षक विचार है, जिसके कारण बहुत लोग प्रभावित ही नहीं होते बल्कि इस विचार के लिए जीने मरने तक की बात करते हैं। दीनदयाल उपाध्याय ने प्रजातंत्र की अवधारणा को उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। हालांकि आजादी के तुरंत बाद जब लोकतंत्र की स्थापना व वयस्क मताधिकार की संवैधानिक व्यवस्था हुई, भारतीय जन की दीर्घकालीन गुलामी, अशिक्षा व गरीबी के कारण वे एकदम दिए गए वयस्क मताधिकार के बारे में कुछ शंकित थे। लेकिन बहुत जल्दी वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गए कि सहभागिता का अवसर ही शिक्षा का भी सबसे बड़ा माध्यम है। अतः वे वयस्क मताधिकार के प्रबल पक्षधर बन गए थे। उपाध्याय की मान्यता है कि लोकतंत्र भारत को पश्चिम की देन नहीं है। भारत की राज्यावधारणा प्राकृतिक और लोकतंत्रवादी है। वे लिखते हैं, ‘वैदिकसभा’ और ‘समिति’ का

गठन जनतंत्रीय आधार पर ही होता था तथा मध्यकालीन अनेक गणराज्य पूर्णतः जनतंत्रीय थे। राजतंत्रीय व्यवस्था में भी हमने राजा को मर्यादाओं में जकड़कर प्रजानुरागी ही नहीं, प्रजा (जन) अनुगामी भी माना है। इन मर्यादाओं का अतिक्रमण करनेवाले नृपतियों के उदाहरण अवश्य मिल सकते हैं; किंतु उनके विरुद्ध जनता का विद्रोह तथा उनको आदर्श शासक न मानकर, हीनता की श्रेणी में गिनने के प्रयत्नों से ही हमारी मौलिक जनतंत्रीय भावना की पुष्टि होती है।

दीनदयाल लिखते हैं कि “लोकतंत्र की एक व्याख्या की गई है कि वह वाद-विवाद से चलनेवाला राज्य है। ‘वाद वादे जायते तत्त्वबोधाः’ यह हमारे यहाँ की पुरानी उक्ति है। किंतु यदि दूसरे का दृष्टिकोण समझने का प्रयत्न न करते हुए अपने ही दृष्टिकोण का आग्रह करते जाएँ तो ‘वाद वादे जायते कंठशोषाः’ की उक्ति चरितार्थ होगी। वाल्टेयर ने जब कहा कि ‘मैं तुम्हारी बात सत्य नहीं मानता; किंतु अपनी बात कहने के तुम्हारे अधिकार के लिए मैं पूरी शक्ति से लड़ूंगा -तो उसने मनुष्य के केवल ‘कंठशोषा’ के अधिकार को ही स्वीकार किया। कि- संस्कृति इससे आगे बढ़कर ‘वाद-विवाद’ को ‘तत्त्वबोध’ के साधन के रूप में देखती है।”

दोनों ही उद्धरणों में दीनदयाल जी ने भारतीय पक्ष का योग्य प्रस्तुतीकरण किया है। पश्चिम में प्रजातंत्र के उदय की प्रक्रिया, उसके पूँजीवाद के रूप में विकृत हो जाने एवं कार्ल मार्क्स की तानाशाहीपरक प्रतिक्रिया आदि का विवेचन करते हुए उपाध्याय कहते हैं- “राष्ट्रवाद के बाद दूसरी क्रांतिकारी कल्पना प्रजातंत्र की है जिसका यूरोप की राजनीति पर महत्वपूर्ण प्रभाव हुआ है। प्रारंभ में तो जितने राष्ट्र बने उनमें राजा ही शासनकर्ता रहा; किंतु राजा की निरंकुशता के विरुद्ध जनता में भी धीरे-धीरे जागरण हुआ। औद्योगिक क्रांति के कारण तथा अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के परिणामस्वरूप सभी देशों में एक मध्यवर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। स्वभावतः इनका पुराने सामंतों तथा राजाओं से संघर्ष आया। इस संघर्ष ने ‘प्रजातंत्र’ की तात्त्विक भूमिका ग्रहण की। यूनान के नगर-राज्यों से इस विचारधारा का उद्गम हुआ। प्रत्येक नागरिक की समानता, बंधुता और स्वतंत्रता के आदर्श के सहारे जनसाधारण को इस तत्त्व के प्रति आकृष्ट किया गया। फ्रांस में बड़ी भारी राज्य क्रांति हुई। इंग्लैंड में भी समय-समय पर आंदोलन हुए।

प्रजातंत्र की जन-मन पर पकड़ हुई। राजवंश या तो समाप्त कर दिए गए अथवा उसके अधिकार मर्यादित कर वैधानिक राजपद्धति की नींव डाली गई। आज प्रजातंत्र यूरोप की मान्य पद्धति है। जिन्होंने प्रजातंत्र की अवहेलना की, वे

भी प्रजातंत्र के प्रति निष्ठा व्यक्त करने में कमी नहीं करते हिटलर, मुसोलिनी तथा स्टालिन जैसे तानाशाहों ने भी प्रजातंत्र को अमान्य नहीं किया। “पश्चिम में लोकतंत्र का विकास एक आदर्शवादी लोकप्रिय अवधारणा के रूप में हुआ था; लेकिन नवोदित औद्योगिक क्रांति ने उसे पूँजीवादी शोषण का औजार बना दिया। दीनदयाल जी लिखते हैं कि “प्रजातंत्र ने यद्यपि प्रत्येक नागरिक को मतदान का अधिकार दिया; किंतु जिन लोगों ने प्रजातंत्र का नेतृत्व किया था, शक्ति उन्हीं के हाथ में रही। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप उत्पादन की नई पद्धति का विकास हो गया था। स्वतंत्र रहकर घर में काम करने वाला श्रमिक, अब कारखानेदार का नौकर बनकर काम करने लगा था। अपना गाँव छोड़कर नगरों में आ बसा था। वहाँ उसके आवास की व्यवस्था बहुत अधूरी थी। कारखानों में जिस ढंग से काम होता था, उसके कोई नियम नहीं थे। मजदूर असंगठित और दुर्बल था। वह शोषण, उत्पीड़न व अन्याय का शिकार हो गया था। राज्य की शक्ति जिनके हाथ में थी, वे भी उसी वर्ग में से थे, जो उनका शोषण कर रहे थे। अतः राज्य से भी कोई आशा न थी।

“इस अन्यायपूर्ण व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह तथा स्थिति सुधार की भावना लेकर अनेक महापुरुष खड़े हुए। उन्होंने अपने आपको समाजवादी कहा। कार्ल मार्क्स भी उन समाजवादियों में से एक हैं। उन्होंने विद्यमान अन्याय का विरोध करने के प्रयत्न में अर्थव्यवस्था तथा इतिहास का एक विश्लेषण प्रस्तुत किया। कार्ल मार्क्स की विवेचना के बाद समाजवाद एक वैज्ञानिक आधार पर खड़ा हो गया। बाद के समाजवादियों ने मार्क्स को माना हो या नहीं, किंतु उनके विचारों पर उसकी गहरी छाप है।

लोकतंत्र का भारतीयकरण

पिछले 1000 वर्षों में जबरदस्ती या अपनी इच्छा से, चाहे जो कुछ भी हमने ग्रहण किया है- अब उसे खारिज नहीं किया जा सकता।

दीनदयाल उपाध्याय लोकतंत्र की तात्विक अवधारणा से सहमत होते हुए भी, पाश्चात्य निरंकुश राजशाही की प्रतिक्रिया से उत्पन्न, पूँजीवाद से पोषित व सर्वसत्तावादी राज्यवाद की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने वाले लोकतंत्र को, भारतीय-कृत करना चाहते हैं। लोकतंत्र का भारतीयकरण करने का उन्होंने आह्वान किया।

दीनदयाल का विचार था कि पश्चिम ने लोकतंत्र को निर्वाचन की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया प्रदान की है। संविधानवादी कार्यपालिका, विधायिका व न्यायपालिका का सृजन किया है; लेकिन यह केवल लोकतंत्र का औपचारिक स्वरूप है। लोकतंत्र की असली आत्मा उसके स्वरूप में नहीं, वरन् जनाकांक्षा को सही रूप से प्रतिबिंबित करने की भावना में है: “जनतंत्र किसी बाहरी ढाँचे पर निर्भर नहीं रहता। बालिग मताधिकार तथा निर्वाचन पद्धति जनतंत्र के बहुत बड़े अंग हैं; किंतु इनसे ही जनतंत्र की स्थापना नहीं हो जाती। रूस में दोनों ही विद्यमान हैं, किंतु राजनीति विशारद उसे जनतंत्र मानने को तैयार नहीं। मताधिकार तथा निर्वाचन के साथ एक भावना भी जनतंत्र के लिए आवश्यक है। केवल बहुमत का शासन ही जनतंत्र नहीं है। ऐसे तंत्र में तो जनता का एक वर्ग सदैव ऐसा रहेगा जिसकी आवाज चाहे वह सही ही क्यों न हो, दबा दी जाएगी। जनतंत्र का यह स्वरूप ‘सर्वजनसुखाय सर्वजनहिताय’ नहीं हो सकता।... अतः भारतीय जनतंत्र की कल्पना में निर्वाचन, बहुमत, अल्पमत आदि बाहरी व्यवस्थाओं के स्थान पर सभी मतों के सामंजस्य और

समन्वय पर ही बल दिया गया है। विरुद्ध मत रखने वाला एक व्यक्ति ही क्यों न हो, हमें उसके मत का आदर ही नहीं, बल्कि उसका योग्य समावेश अपनी कार्यपद्धति में करना चाहिए। इंग्लैंड में, जहाँ आज की जनतंत्रीय पद्धति ने सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है, विरोधी दल के नेता को सरकारी खजाने से वेतन दिया जाता है और खेल के लिए जैसे दो दलों का होना आवश्यक है, वैसे ही संसद में दो दलों का होना आवश्यक समझा जाता है। शासन की नीतियों पर विरोधी दल सतत प्रकाश डालता रहता है।”

लोकमत-परिष्कार एवं सामान्य इच्छा

लोकमत के विषय पर भी दीनदयाल जी का मत दूसरों से अलग था उन्होंने इस विषय में कहा कि लोकमत का तात्कालिक निर्णय चाहे बहुमत से हो, लेकिन लोकमत केवल बहुमत के शासन व अल्पमतों की वैचारिक स्वतंत्रता से अपने को ठीक प्रकार से अभिव्यक्त नहीं कर पाता। इससे दलीय कटुता व समाज में अखंड कलह का निर्माण होता है, अतः लोकतंत्र न बहुमत का शासन है, न अल्पमत का; वह जनता की ‘सामान्य इच्छा’ का शासन है। जनता अपनी सामान्य इच्छा को औपचारिक रूप से अभिव्यक्त नहीं कर पाती। जब ‘सामान्य इच्छा’ के बारे में सामाजिक संभ्रम हो तो ‘लोकतंत्र’ भीड़तंत्र में बदल जाता है। वाचाल लोग उसका दुरुपयोग कर सकते हैं। दीनदयाल जी शेक्सपियर के नाटक ‘जूलियस सीजर’ का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि “जो जनता बूटस के साथ होकर जूलियस सीजर के वध पर हर्ष मना रही थी, वही थोड़ी देर में एंटोनियो के भाषण के उपरांत बूटस का वध करने को उद्यत हो गई। मोबोक्रेसी और आटोक्रेसी के दोनो पाटों के बीच से डेमोक्रेसी को जीवित रखना एक कठिन समस्या है।”

दीनदयाल जी का मानना था कि लोकचेतना के संतुलित विकास की आवश्यकता रहती है। इसी को उपाध्याय प्राचीन भारत की ‘लोकमत-परिष्कार’ पद्धति कहते हैं। लोकमत-परिष्कार एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। जहाँ साम्यवादी तानाशाही देशों में सत्ता द्वारा ‘ब्रेनवाशिंग’ अथवा ‘असहमतों के नागरिक अधिकारों से वंचन’ की प्रक्रियाएँ अमानवीय हैं; वहीं तथाकथित लोकतंत्रों में इस विषय में या तो अराजकता है या सरकारी प्रचार तंत्र को इसका माध्यम बनाया जाता है। दीनदयाल के मतानुसार, “भारत ने इस समस्या का समाध

न राज्य के हाथ से लोकमत निर्माण के साधन छीन कर किया है।

लोकमत-परिष्कार का कार्य है वीतराग द्वंद्वतीत संन्यासियों का। लोकमत के अनुरूप चलने का काम है राज्य का। संन्यासी सदैव धर्मतत्त्वों के अनुसार जनता के ऐहिक एवं आध्यात्मिक उत्कर्ष की कामना लेकर अपने वचनों एवं निरीह आचरण से जनजीवन के ऊपर संस्कार डालते रहते हैं। उन्हें धर्म की मर्यादाओं का ज्ञान करवाते रहते हैं। उनके समक्ष कोई लोभ और मोह न होने के कारण वे सत्य का उच्चारण सहज ही कर सकते हैं। शिक्षा और संस्कार से ही समाज के जीवन मूल्य बनते और सुदृढ़ होते हैं। इन मूल्यों का बाँध रहने के बाद, लोकेच्छा की नदी कभी अपने तटों का अतिक्रमण करके संकट का कारण नहीं बनेगी।”

दीनदयाल जी का ‘लोकमत-परिष्कार’ विचार वैसा ही है जैसा कि लोकतंत्रात्मक जनचेतना के निर्माण के लिए कुछ लोगों ने पश्चिम में ‘वी एज्यूकेट अवर मास्टर्स’ का आंदोलन चलाया था। लोकतंत्र की सफलता के लिए सहिष्णुता और संयम, अनासक्त भाव तथा कानून के प्रति आदर की भावना की जरूरत होती है।

अच्छा उम्मीदवार

लोकतंत्र या प्रजा तंत्र को स्थापित करने के लिए जनता के एक अच्छे प्रतिनिधि की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में प्रजातंत्र को स्थापित किया ही नहीं जा सकता है। दीनदयाल जी का इस विषय में कहना है कि “एक समुचित उम्मीदवार वह है जो विधान मंडलों में अपने दल के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करने के साथ ही अपने क्षेत्र के मतदाताओं की नब्ज को पहचानता है। एक व्यक्ति के नाते उसे अपने मतदाताओं के प्रति वफादार होना चाहिए और एक दल का सदस्य होने के नाते, जिस दृष्टिकोण का वह प्रतिनिधित्व करता है, उस दल के अनुशासन का पालन करने के साथ उसके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मन में समर्पण का भाव भी रखना चाहिए।” दल व जन के प्रति समन्वित अच्छे उम्मीदवार की कसौटी है; लेकिन वर्तमान भारतीय दलों द्वारा उम्मीदवार चयन की कसौटी पर अपना असंतोष प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि उन्हें अच्छे उम्मीदवार की बजाय सदा जीतने वाले घोड़े की चिंता रहती है- “...दुर्भाग्यवश यह कहना पड़ता

है कि भारत में शायद ही कोई राजनीतिक दल इन सब बातों की चिन्ता करता हो, और इस कारण उनके मस्तिष्क में केवल यही बात चक्कर काटा करती है कि किसी भी रीति से उसका प्रत्याशी विजयी होना चाहिए। ...वह किसी भी ऐसे उम्मीदवार को अपने टिकट से खड़ा करने का प्रयास करते हैं जिसमें जीत के लक्षण अधिक प्रतीत होते हों।”

दीनदयाल जनता को समय समय पर सावधान करते रहे हैं कि- “हमें स्मरण रखना होगा कि एक अयोग्य उम्मीदवार इस आधार पर हमारा मत प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है क्योंकि उसका संबंध एक अच्छे दल से है। यह संभव है कि ऐसे अयोग्य व्यक्ति को अपना टिकट प्रदान करते समय उस दल ने संस्था के लाभ से प्रभावित होकर ऐसा निर्णय लिया हो या ऐसी मंशा न होने के बाद भी उससे निर्णय की भूल हुई हो। अतः उत्तरदायी मतदाता का अब यह कार्य हो जाता है कि वह अपनी जागरूकता का परिचय देकर उक्त गलती को दुरुस्त कर दे।”

अच्छा दल

दीनदयाल जी का मत था कि लोकतांत्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों की बहुत निर्णायक भूमिका होती है। कोई समाज कितना लोकतांत्रिक है यह उसके दलों का चरित्र देखकर जाना जा सकता है। उपाध्याय के अनुसार श्रेष्ठ दल के लक्षण हैं, जो सत्ता पर अधिकार प्राप्त करने के इच्छुक व्यक्तियों का झुंड न होकर एक जीवमान संगठन हो, जिसका सत्ता प्राप्त करने के अतिरिक्त अपना अलग वशिष्ट हो। ऐसे दल की दृष्टि में सत्ता पर अधिकार करने का उद्देश्य न होकर, अपने सिद्धांतों एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने का एक साधन होना चाहिए और इसलिए उस दल के सर्वोच्च पदाधिकारियों से लेकर साधारण-से-साधारण सदस्य तक में अपने इस आदर्शवाद स्थापित कर सके। हमें स्मरण रखना चाहिए कि यह निष्ठा ही अनुशासन और आत्मसमर्पण की भावना उत्पन्न करती है। यदि अनुशासन ऊपर से थोपा जाता है तो वह किसी भी दल की आन्तरिक शक्तिहीनता को ही प्रकट करता है।

दीनदयाल उपाध्याय दुख पूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि भारत के राजनीतिक दल केवल नाम के लिए ही दल हैं। दलों की आंतरिक

शक्तिहीनता उन्हें समाज की अवांछनीय शक्तियों का अवलंब ग्रहण करने को मजबूर करती है। दीनदयाल जी कुछ मजबूरियों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि- “भारत के राजनीतिक दल अभी अपनी गहरी जड़ें जनता में जमा नहीं सके हैं। राजनीतिक दलों को विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रमों को एक ओर रखकर चुनाव के लिए सिद्ध होना पड़ता है। यही कारण है कि आज भी पुराने राजे-महाराजाओं, नवाबों और जागीरदारों को अपने-अपने दल में घसीटने का प्रयत्न किया जाता है। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस पुराने वर्ग को भी देश के राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय बनाना चाहिए; परंतु उनको टिकट देने का आधार तो राजवंश में उनका जन्म न होकर, उनकी योग्यता ही होना चाहिए।”

दीनदयाल जी प्रजातंत्र को स्थापित करने में दूसरी अड़चन जातिवाद को मानते हैं उनका कहना है कि “जाति और संप्रदाय का विचार भी प्रत्याशियों के चयन को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। भारत में प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी जाति का अंग है। अतः दूसरे दलों पर जातीयता एवं संकीर्णता का आरोप लगाने से अनजाने में ही देश में इस भावना को अप्रत्यक्ष रीति से और अधिक बल मिलता है। यदि परिस्थिति यहाँ तक बिगड़ती है कि डी. राममनोहर लोहिया जैसे व्यक्ति को चुनाव मैदान से इसलिए हटना पड़े कि वह उक्त निर्वाचन क्षेत्र में निवास करने वाले मतदाताओं की बहुसंख्य जाति के नहीं हैं तो यह एक गंभीर बात होगी; परंतु इसके निराकरण का उपाय तो यही है कि दल के संगठन को दृढ़ बनाया जाए न कि जाति के आधार पर मतदाताओं से अपील की जाए।”

दीनदयाल जी लोकतंत्र को स्थापित करने की तीसरी अड़चन पूंजीपतियों को मन है क्योंकि “प्रत्याशियों का चयन करने में प्रत्याशी की आर्थिक स्थिति और निर्वाचन में धन व्यय करने की क्षमता, दूसरा प्रमुख आधार रहा करता है, जो इसे प्रभावित करता है। बहुत से व्यक्तियों को टिकट प्रदान करने का कारण उनके धन व्यय करने की क्षमता ही रहा करती है। वास्तव में वे जनता और राजनीतिक दलों से उनके मत और टिकट प्राप्त करने नहीं आते वरन् उन्हें खरीदने आते हैं। संसद की सदस्यता तो उनके लिए अपनी चर्बी बढ़ाने एवं अधिक मोटा होने का साधन होने के कारण व्यापार है। कांग्रेस सहित सभी राजनीतिक दल धनाभाव से इतने परेशान हैं कि वे

अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए इनका सहयोग प्राप्त करने को आतुर रहते हैं।”

लोकतंत्र को स्थापित करने के लिए उन्होंने मतदाताओं को ही सबसे अधिक उपयोगी मन है।

दीनदयाल का मानना था कि कि मतदाता की बुद्धिमत्ता ही इसका इलाज है, “ये सब ऐसे तथ्य हैं कि जो देश की राजनीति को गलत दिशा में ले जा रहे हैं। राजनीतिक दलों को, जो देश की राजनीति में प्रमुख दल के रूप में विकसित होना चाहते हैं, इन खतरों से सचेत रहकर अपने सिद्धांत की हत्या नहीं करनी चाहिए। इसी भांति जनता का यह कर्तव्य है कि वह

दीनदयाल जी मतदाता के लिए सुझाव

- अपने मताधिकार का प्रयोग पार्टी के लिए न कर सिद्धांत के लिए व्यक्ति के लिए न कर पार्टी के लिए और धन के लिए न कर व्यक्ति के लिए (करना) है।
- प्रचार के शिकार होकर किसी भी व्यक्ति को केवल इस आधार पर अपना मत दे आते हैं कि वह विजयी होने वाला है तो चुनाव परिणाम कुछ भी हो, वह आपकी हार ही कही जाएगी।
- मतदान का अधिकार आपके सद्विचार और आपके सद्विवेक की कसौटी है। अतः उस ओर से उदासीन न हों, उसे बेचे नहीं और न उसे नष्ट होने दें।
- मतदान का अधिकार प्रत्येक नागरिक की स्वाधीनता का प्रतीक है और इस कारण एक लोकतंत्रवादी होने से आपको इसका उपयोग किसी के निर्देश पर न कर, स्वयं के सद्विवेक एवं आत्मा की पुकार पर करना चाहिए।
- जनता को यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि वह ही राजनीतिक दलों की निर्माता है।”

जागरूक रहकर बुद्धिमत्ता के साथ हंस के समान अपने नीर-क्षीर-विवेक का परिचय दे जिससे देश के राजनीतिक दलों के गलत दृष्टिकोण को सुधारा जा सके।”

दीनदयाल जी एक राजनीतिक दल के महामंत्री थे; लेकिन उनके उपर्युक्त विचार, दलवाद से ऊपर उठकर एक शुद्ध लोकतंत्रवादी के नाते व्यक्त किए गए विचार हैं। भारत का बहुल चरित्र अपनी राष्ट्रीय एकता को तभी बनाए रख सकता है जब देश में लोकतंत्र रहे। उनके राष्ट्रवाद ने ही उन्हें प्रखर लोकतंत्रवादी बनाया था।

प्रजातंत्र ही राष्ट्रीय एकता को बचा सकता है

दीनदयाल जी का मत था कि भारत की परिस्थिति में प्रजातंत्र का राष्ट्रीय एकता से गहरा संबंध है। यदि यहाँ प्रजातंत्र समाप्त हो गया तो एकता को भी नष्ट होते देर न लगेगी। जो प्रजातंत्रीय पद्धति का अनुसरण करेंगे वे शनैः शनैः राष्ट्रवाद की ओर बढ़ते जाएँगे। चुनावों में जातिवाद व क्षेत्रवाद का सहारा लेने वाले भी जब जीतकर आएँगे तो सबको साथ लिए बिना अकेले नहीं बैठ सकेंगे। यही कारण है कि द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम के रूप में धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। प्रजातंत्र के रहते हुए किसी प्रांत विशेष में किसी दल विशेष का प्रभुत्व भी आ गया तो वह अलग नहीं हो सकता; किंतु यदि प्रजातंत्र समाप्त हुआ तो एकता पहले समाप्त हो जाएगी। भारत की एकता के लिए प्रजातंत्र जरूरी है।”

साझे मोरचा एक अवसरवादी राजनीति

दीनदयाल जी के समय में ही साझे मोर्चे की राजनीति राष्ट्रीय फलक पर आ चुकी थी अतः उसका मूल्यांकन करते हुए उन्होंने कहा था कि सत्ता प्राप्ति के लिए लोकतंत्र का अवसरवादी उपयोग हमारे प्रजातंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती है। संयुक्त मोर्चे भी अपने देश में बनाए जाते रहे हैं, जिन समझौतों व संयुक्त मोर्चा का आधार यही रहा करता है कि विभिन्न राजनीतिक दल पृथक-पृथक रूप से लड़कर सत्तारूढ़ दल को पराजित न कर सकेंगे, और इसलिए सभी को मिलकर कांग्रेस के विरुद्ध एक प्रत्याशी खड़ा करना चाहिए। ये समझौते और संयुक्त मोर्चे जनता में निषेधात्मक वृत्ति पैदा करते हैं जो कभी भी उचित नहीं है। ऐसे समझौते करने वाले तत्त्व

संयुक्त मोर्चे बनाते समय सिद्धांतों में भी सौदेबाजी करते हैं। जिससे देश में अवसरवादी तत्त्वों को प्रष्टरय मिलता है।

दीनदयाल जी का लोकतंत्र पाश्चात्य व भारतीय अवधारणा से प्रारंभ होकर उसके भारतीयकरण अर्थात् 'लोकमत-परिष्कार' की विवेचना करते हुए भारतीय लोकतंत्र के विश्लेषण के साथ आया है। इसीलिए उनका प्रजातंत्र का चिंतन आदर्शवादी है। वे अपने विचारों में समाजशास्त्रीय व मनोवैज्ञानिक तत्त्वों के साथ साथ नीतिशास्त्र को भी शामिल करते हैं। किसी दल को नीतिशास्त्रीय नेता उपलब्ध होना बड़े सौभाग्य की बात होती है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जो आदर्श का आचरण करता है वही 'नीतिशास्त्र' की महत्ता को भी सिद्ध कर पाता है। समझौतावादी लोग आदर्श व नीति को तात्कालिक परिणामों के भय से त्याग देते हैं। उनकी व्यवहार नीति के नाम पर अवसरवाद पनपता है। जिस 'अवसरवाद' के बारे में दीनदयाल उपाध्याय ने चेताया था, उसका जब भयानक दौर आज आधुनिक भारत की राजनीति में देखा जा सकता है। दीनदयाल जी लोकतांत्रिक प्रणाली के अध्ययन से हमें यही महसूस होता है की वे प्रजातंत्र में विश्वास करने वाले थे और जीवन भर उन्होंने अपने इस सिद्धांत के लिए लोगों से आवाहन करते रहे।

भारत के राजनीतिक दल अभी अपनी गहरी जड़ें जनता में जमा नहीं सके हैं। राजनीतिक दलों को विभिन्न राजनीतिक कार्यक्रमों को एक ओर रखकर चुनाव के लिए सिद्ध होना पड़ता है। यही कारण है कि आज भी पुराने राजे-महाराजाओं, नवाबों और जागीरदारों को अपने-अपने दल में घसीटने का प्रयत्न किया जाता है। हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस पुराने वर्ग को भी देश के राजनीतिक क्षेत्र में सक्रिय बनाना चाहिए; परंतु उनको टिकट देने का आधार तो राजवंश में उनका जन्म न होकर, उनकी योग्यता ही होना चाहिए।

उच्च राजनीतिक चिंतन

मानवीय ज्ञान आम संपत्ति है।

दीनदयाल जी के बारे में हम यही कह सकते हैं यदि उनको जानना और समझना हो तो उस समय की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को समझना जरूरी है। तभी हम उनके राजनीतिक विचारों को गहराई से समझ सकते हैं। उनका उच्च राजनीतिक चिंतन भारतीय समाज को आज भी दिशा दे रहा है उन्होंने कहा था कि हम जानते हैं की कई पुरातन राष्ट्र मिट गए। पुरातन ग्रीक राष्ट्र का अंत हुआ। ईजिप्ट की सभ्यता भी मटियामेट हो गई। बेबिलोनिया तथा सीरिया की सभ्यताएं इतिहास का विषय बन कर ही रह गईं। क्या वहाँ कभी ऐसा समय था जब लोगों ने साथ रहना छोड़ दिया? तथ्य तो यह है कि लोगों के बीच गहरे अंतर आए जिस कारण इन राष्ट्र का पतन हो गया। ग्रीस ने एलेक्जेंडर तथा हेरेडोटस जैसे शासक दिए। उलाइसिस, अरस्तू, सुकरात तथा प्लेटो जैसे दार्शनिकों का देश आज भी उन्हीं की विरासत है। उनके अनुवांशिक लक्षणों में कोई अंतर नहीं आया क्योंकि ग्रीस में पूरी जनसंख्या अपनी संस्कृति से अलग-थलग हो गई। पिता और पुत्र की संस्कृति वहाँ हमेशा जीवंत रही।

यह संभव है कि पुरातन 250 से लेकर 500 पीढ़ियों पुराना ग्रीस आज भी वहाँ विद्यमान है वह कैसे समाप्त हो सकता है। पुरानी सभ्यता वहाँ आज भी देखने को मिलती है। पुराना ग्रीस, और पुराना ईजिप्ट आज नहीं रहे और उनके स्थान पर नए राष्ट्र अस्तित्व में आए। ऐसा कैसे हुआ, यह प्रश्न विचारणीय है। यह सामान्य तथा विवाद-रहित है कि राष्ट्रों का अस्तित्व केवल साथ में रहने से नहीं होता। इजराइल के यहूदी सदियों से तमाम

इधर-उधर से आए। यह स्पष्ट है कि राष्ट्रीय भावना का स्रोत किसी स्थान विशेष में रहने के कारण नहीं है वरन् यह कुछ और ही है। दरअसल राष्ट्रीय भावना समाज की सुदृढ़ता के लिए मूलमंत्र की तरह है जिसमें रच बस कर वह सम्प्रदाय फल फूल सकता है।

राष्ट्र क्या है?

समकालीन राजनीति में राष्ट्र को लेकर वाद विवाद होता रहता है और इसमें मीडिया की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण बन जाती है कभी कभी ऐसा देखने को मिला है की भरत की जनता इस मुद्दे पर बंट जाती है। हमारा मानना है कि राष्ट्र का उदय समाज की एक खास अवस्था में हुआ था और और उसने समाज को आगे बढ़ाने का काम किया है इसी लिए आज दीनदयाल जी के राष्ट्र सम्बन्धी विचारों को जानना बहुत जरूरी है ताकि समाज से मत भिन्नता दूर हो सके उन्होंने खा था कि जनता के सामने लक्ष्य का स्रोत राष्ट्र ही है। जब जनसमूह एक लक्ष्य और एक आदर्श के सामने नतमस्तक हो जाता है और एक विशेष भू-भाग की मातृभूमि मानने लगता है तो ऐसे समूह को हम एक राष्ट्र की संज्ञा दे सकते हैं। शरीर में एक "आत्मा" है जो किसी भी व्यक्ति की चिति शक्ति की तरह है। यह शक्ति ही उसकी प्राणशक्ति है जिसके बिना जीवन का कोई अस्तित्व नहीं है। यह माना जाता है कि मानव बार-बार जन्म लेता है लेकिन दूसरे जन्म में वह दूसरा ही व्यक्ति कहलाएगा और अलग ही व्यक्ति माना जाएगा। वही आत्मा जब दूसरा शरीर धारण करती है तो पहले से विभिन्न व्यक्तित्व की जन्मदात्री बन जाती है। आदमी की मृत्यु कुछ नहीं वरन् शरीर से आत्मा का बहिर्गमन मात्र ही है। बचपन से लेकर बुढ़ापे तक व्यक्ति में काफी परिवर्तन होते हैं। जीव वैज्ञानिक हमें बताते हैं कि इस दौरान व्यक्ति में अनन्त परिवर्तन होते हैं। चूंकि शरीर में आत्मा का निवास होता है, अतः शरीर तब तक जीवित माना जाता है जब तक उसमें आत्मा अथवा प्राणशक्ति है। शरीर और आत्मा का संबंध एक नाई के उस्तरे की तरह का है।

दीनदयाल जी अपनी बात को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एक कहानी सुनते हैं कि एक बार एक ग्राहक की दाढ़ी बनाते हुए नाई ने ग्राहक को अपना उस्तरा दिखाते हुए कहा कि यह 60 वर्ष पुराना उस्तरा है। मेरे

पिता भी इसी उस्तरे से अपने ग्राहकों की दाढ़ी बनाते थे। ग्राहक काफी आश्चर्य चकित था क्योंकि उस्तरे का हैंडिल काफी चमकदार था और लगता था जैसे कि नया हो। आश्चर्य चकित ग्राहक बोला कि “यह हैंडिल इतना चमकदार कैसे है?” आपने इन 60 सालों में इसकी चमक को कैसे बरकरार रखा। नाई ने चुटकी लेते हुए कहा कि इस हैंडिल को 60 वर्ष तक चमकदार रखना कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं है। हमने 6 महीने पहले ही इसे बदलवाया था, बड़ी सहजता से उसने जवाब दिया। ग्राहक ने फिर उत्सुकतावश प्रश्न किया कि स्टील कितना पुराना है?

उत्तर में वह बोला कि स्टील तीन वर्ष पुराना है। वास्तव में हैंडिल बदल दिया गया था, स्टील बदल दिया गया था लेकिन रेजर (उस्तरे) पुराना ही रहा और उसकी पहचान बनी रही। इसी तरह एक राष्ट्र की अपनी आत्मा है। दीनदयाल जी ने इसे “चिति” का नाम दिया। अर्थात् राष्ट्र की चिति शक्ति ही उसकी आत्मा का स्वरूप है। मैकडुगल के अनुसार यह शक्ति ही अंतरंग प्रकृति की शक्ति है। व्यक्तियों का हर समूह इसी प्रकृति की इसी शक्ति से प्रभावित और प्रवाहित होता है। इसी तरह हर समाज की अंतरंग शक्ति अजन्मा होती है जो ऐतिहासिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न नहीं होती।

दीनदयाल जी का कहना है कि एक मानव का जन्म आत्मा के साथ होता है जो उसकी प्राण शक्ति भी है। आत्मा और चरित्र अलग अलग हैं। व्यक्तित्व व्यक्ति के गुणों का गतिशील संगठन है और एक व्यक्ति के चिंतन और उसके प्रभाव का चित्रांकन है। लेकिन आत्मा का इससे कोई सरोकार नहीं है। उसी तरह राष्ट्रीय चरित्र निरंतर बदलता रहता है और ऐतिहासिक कारणों और परिस्थितियों के वशीभूत होता है। संस्कृति संस्थाओं, प्रयासों एवं समाज के इतिहास से बनती है और पनपती है जिसका समावेश राष्ट्रीय चरित्र में होता ही होता है। लेकिन इन सभी बातों का समावेश “चिति” में नहीं होता। “चिति” तो सार्वभौम है जो राष्ट्र की अंतरंग शक्ति है। “चिति” किसी राष्ट्र के सांस्कृतिक उत्थान की पथ प्रदर्शक होती है। चिति के अनुरूप ही संस्कृति का उत्थान होता है।

दीनदयाल जी के अनुसार एक राष्ट्र उन लोगों की बंदौलत होता है जो उसमें रहते हैं और उसका सृजन किसी समूह के द्वारा नहीं किया जाता और

जबर्दस्ती उसे बनाया भी नहीं जा सकता। राष्ट्र की आवश्यकतानुसार कई प्रकार की संस्थाएं अस्तित्व में आती हैं जो उसे मौलिक व्यवस्था प्रदान करती हैं। राज्य इन संस्थाओं में से ही एक है और निःसंदेह उसकी अहम भूमिका है लेकिन वह सर्वोपरि नहीं है। हमारे साहित्य में जहाँ-राजा के कर्तव्यों का वर्णन है, उसके महत्व के दिग्दर्शन होते हैं। संभवतः इसीलिए उसके उत्तरदायित्वों का भी उल्लेख किया जाता है ताकि उसे इसका एहसास हो। अपनी प्रजा के जीवन एवं चरित्र पर राजा का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। अतः उसे अपने व्यवहार में बेहद कुशलता का निर्वाह करना पड़ता है।

दीनदयाल जी अपनी बात को ऐतिहासिक पत्रों के माध्यम से कहने की कोशिश करते हैं कि महाभारत में भीष्म यही कहते हैं जब उनसे राजा के कर्तव्यों के बारे में पूछा जाता है कि क्या परिस्थितियों के वशीभूत राजा बनता है अथवा राजा परिस्थितियों का सृजन करता है? वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि परिस्थितियों को आकार देने में राजा की ही भूमिका होती है। इस तथ्य का अर्थ कई लोग इस तरह लगाते हैं कि राजा सबसे बड़ा है और सर्वोपरि है जो कि सत्य नहीं है।

भीष्म ने यह नहीं कहा कि राजा धर्म से भी परे है। यह कथन सत्य है कि राष्ट्रीय विकास और समृद्धि में राजा की अहम भूमिका होती है लेकिन सही मायने में वह तो धर्म का ही रक्षक है। उसे केवल यही देखना है कि उसकी प्रजा धर्म के अनुरूप जीवन यापन कर रही है या नहीं लेकिन राजा यह निर्णय लेने का अधिकारी नहीं है कि धर्म में उसकी इच्छा को भी शामिल किया जाए। आज के इस युग में राजा की अहमियत आज की कार्यकारिणी की तरह ही है।

आज के संदर्भ में राज्य के अंतर्गत कानूनों के विधिवत रूप से निष्पादन का दायित्व कार्यकारिणी का है लेकिन कानून बनाने का उसका अधिकार नहीं है। जब कार्यकारिणी ईमानदारी और दक्षता पूर्ण ढंग से कार्य नहीं करती तो नियमों अर्थात् कानून की धज्जियाँ उड़ जाती हैं। यह सब हम अपने चारों तरफ देखते आए हैं। आज हम पूरे विश्वास के साथ यह बात कह सकते हैं कि “कार्यकारिणी ही आज के ताण्डव के लिए उत्तरदायी है।” आखिर निषेधाज्ञा पर अमल क्यों नहीं होता? कौन इस कमी के लिए उत्तरदायी है? एक संस्था और एक निकाय को जब इसका दायित्व सौंप दिया गया है तो

इसके असफल होने का क्या कारण है? क्यों इसका ठीक कार्यान्वयन नहीं होता? जब आप इतने गिर जाते हैं कि एक दलाल से भी मासिक लेने की सोचते हैं, तो कैसे इसका अनुपालन हो पाएगा? कार्यकारिणी ही वास्तव में इसके अनुपालन के लिए उत्तरदायी है।

दीनदयाल जी कहते हैं कि यही भीष्म का कथन था महाभारत में कि राजा के सर्वोपरि होने पर भी धर्म-विरुद्ध कार्य करने का कोई औचित्य नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो ऋषि क्रूर राजा वेणु को हरा कर उसके स्थान पर पृथु को राजा क्यों बनवाते। इतिहास में ऋषियों के इस कार्य पर किसी ने अंगुली नहीं उठाई वरन् इसके विपरीत इस कार्य की प्रशंसा की गई। जब धर्म के महत्व को सर्वोपरि रख कर कर्म किया जाता है तो ऋषि तो धर्म के ही संरक्षक थे जिनके कार्य को कभी भी गलत नहीं ठहराया जा सका और राजा की गलतियों के लिए उसे हटा कर दूसरे धर्मात्मा व्यक्ति को उन्होंने राजगद्दी सौंप दी। अन्यथा राजा को हराना अवैध होता और ऋषियों के कार्यक्षेत्र का विषय नहीं माना जाता। इससे इस बात की पुष्टि होती है कि धर्म की राह पर कभी न चलने वाले राजा को उसकी गद्दी से हटाना सभी के दायित्व के अन्तर्गत आता है। पाश्चात्य देशों में किसी राजा को या तो किसी दूसरे राजा ने हटाया अथवा जनता ने राजा की सार्वभौमिक सत्ता छीन ली। वहाँ राजा को भगवान का प्रतिनिधि माना जाता रहा और परिस्थितियों और सिद्धांतों के आधार पर उसे नहीं हटाया जा सका।

राजा और राज्य

दीनदयाल जी ने राज्य की अवधारणा को समाज के सामने इस प्रकार स्पष्ट किया है कि हमारे सामाजिक-राजनैतिक स्थापना में राजा और राज्य कभी भी सर्वोपरि नहीं माने गए। इतना ही नहीं कई और भी संस्थाएं रहीं जिनकी स्थापना सामाजिक जीवन की व्यवस्था के लिए की गई। ये संस्थाएं प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से शासन की सहभागी रहीं। हमने पंचायतें और जनपद सभाएं विकसित कीं। राजा ने सर्वाधिकार-सम्पन्न होते हुए भी इनका कभी विरोध नहीं किया। व्यापार के आधार पर भी ऐसी संस्थाएं अस्तित्व में आईं। इनकी भी राज्य ने कभी अनदेखी नहीं की और उनकी व्यवस्था को मान्यता दी जाती रही। अपने-अपने क्षेत्रों के सफल संचालन के लिए उन्होंने

अपने नियम तथा विनियम बनाए। विभिन्न समुदायों की पंचायतों, जनपद सभाओं और ऐसे अन्य संगठनों ने अपनी नियमावली बनाई। राज्य का कार्य यह देखना था कि इन नियमों को संबंधित व्यक्तियों ने देख लिया है जिन पर इन्हें लागू होना है। राज्य ने कभी भी इन नियमों में दखल नहीं दिया उसका कार्य तो समाज की सुव्यवस्था के विशेष पहलुओं पर ही केन्द्रित था।

राजनीतिक एकात्मक राज्य

दीनदयाल जी के उच्च राजनीतिक विचारों में एक राजनीतिक एकात्मक राज्य की अवधारणा भी आती है। उनका मत था कि दुनिया के सामने सबसे बड़ी समस्या यही होती है की एक राज्य राजनीतिक रूप से सक्षम तो हो जाता है लेकिन राजनीतिक एकात्मकता के अभाव में वह ज्यादा दिन तक विश्व पटल पर टिक नहीं सकता इस विषय पर दीनदयाल का विचार है कि इस प्रकार एक एकात्मक राज्य एक अत्यधिक निरंकुश केंद्र मतलब यह नहीं है और न ही यह प्रांतों के उन्मूलन आवश्यक है। प्रांतों विभिन्न कार्यकारी अधिकार होगा। इस तरह जनपद के रूप में प्रांतीय स्तर से नीचे तक कि विभिन्न संस्थाओं, उपयुक्त अधिकार होगा। पंचायतों भी शक्तियां होनी चाहिए। परंपरागत रूप से पंचायतों में एक बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान था। कोई भी पंचायतों को भंग कर सकता है। आज, लेकिन, हमारे ब्बदेजसजनपद इन पंचायतों के लिए कोई जगह नहीं है। अपने आप में इन पंचायतों को कोई अधिकार नहीं है। वे केवल सौंप अधिकारियों के रूप में राज्यों की दया पर मौजूद हैं। यह उनकी शक्तियों मौलिक विचार किया जाना आवश्यक है। इस रास्ते में सत्ता के विकेन्द्रीकरण पूरा किया जाएगा। प्राधिकरण निम्नतम स्तर को वितरित किया जाएगा, और पूरी तरह विकेंद्रीकृत किया जाएगा। एक ही समय में बिजली की उन सभी संस्थाओं एकात्मक राज्य के चारों ओर केन्द्रित किया जाएगा।

संघ के खतरों

भारतीय राज्य की अवधारणा को समझने के लिए हमें दीनदयाल जी के भारतीय संघ संबंधी विचारों को आत्मसात करना पड़ेगा, अपनी संप्रभुता की रक्षा के लिए एक संप्रभु राज्य लेकिन पर्याप्त व्यवस्था घोषित किया गया है। एक प्रयास पूरे देश में और केंद्र सरकार को पर्याप्त बिजली देने के द्वारा एक

एकल नागरिकता की स्थापना से देश की एकता को मजबूत करने के लिए बनाया गया है, लेकिन एक झटका देश अलग से एक महासंघ पर विचार करके अपनी एकता के आधार पर मारा गया है अमेरिका। शरीर दूसरी तरफ अंग शरीर के अभिन्न हिस्से हैं, विभिन्न अंगों का एक संग्रह नहीं है। एक संघ के विचार निश्चित रूप से सहायक होता है कि भारत और राष्ट्र विरोधी भावनाओं की एकता के लिए हानिकारक साबित हो सकता है। राष्ट्रवाद की भावना के अभाव में सत्ता के लिए विभिन्न राज्यों के संघर्ष उग्र हो सकता है। भाषाई राज्यों के लिए वर्तमान की मांग एक ऐसी बुराई दृष्टिकोण का एक स्पष्ट उदाहरण है। एक संघ के रूप में भारत की अवधारणा किसी भी परिस्थिति में वकालत नहीं किया जा सकता है, जो एक बुनियादी गलती है।

धर्मनिरपेक्ष राज्य एक पश्चिमी अवधारणा

दीनदयाल जी ने कोई भी विषय ऐसा नहीं छोड़ा जिस पर अपने समय में उन्होंने जवाब नहीं दिया था ऐसा ही मसला था धर्मनिरपेक्ष राज्य का। उनका मत था कि एक मजहबी राज्य के लिए विरोध के रूप में अब एक वाक्यांश “धर्मनिरपेक्ष राज्य ‘का इस्तेमाल किया जा रहा है। यह शब्द पश्चिमी सोच का पैटर्न और मात्र नकली है। हमें इसे आयात करने की कोई जरूरत नहीं थी। हमने इसे एक धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में पुकारा, धर्म से उत्पन्न कुछ गलतफहमी और एक धर्मनिरपेक्ष राज्य धर्म के बिना एक राज्य होना चाहिए था , यह धर्म के बिना एक अवस्था है और यह बेहतर शब्द लग सकता है। यह धर्म के प्रति उदासीन राज्य कहा जा जाता है लेकिन इन सभी शब्दों मौलिक गलती यह है कि राज्य का निर्माण न तो धर्म के बिना किया जा सकता है और न ही इसे धर्म के प्रति उदासीन हो सकता है। राज्य धर्म बनाए रखने के लिए मौलिक रूप से मौजूद है, जो कि राज्य और कानून-व्यवस्था है, न तो धर्म के प्रति उदासीन धर्म है और न ही बिना हो सकता है। यह धर्म के बिना है, तो यह एक अधर्म राज्य हो सकता है, और अराजकता है, जहां होगा, जहां किसी भी राज्य के अस्तित्व का सवाल है? दूसरे शब्दों में धर्म के प्रति उदासीनता, और राज्य की अवधारणाओं आत्म विरोधाभासी हैं। राज्य केवल धर्म का एक नियम है, और कुछ नहीं हो सकता है। किसी भी अन्य परिभाषा अपने अस्तित्व के लिए कारण के

साथ संघर्ष करेंगे।

भारत में पार्टी राजनीति
आजादी सार्थक तभी हो सकती है जब यह हमारी संस्कृति
की अभिव्यक्ति का साधन बन जाए।

भारतीय राजनीति इस देश के जीवन की संस्कृति और दर्शन से अलग सोचा नहीं जा सकता है। भारतीय संस्कृति है। दुनिया के विभिन्न भागों में सतही मतभेदों को स्वीकार करने के लिए और जीवन के विभिन्न पहलुओं में बावजूद यह उनके आंतरिक एकता चाहता है। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों वर्ग संघर्ष के परिणाम हैं। दोनों का उद्देश्य इस संघर्ष को समाप्त करने और एकता वे इस उद्देश्य के लिए अपनाया है जिस तरह से स्थापित करने के लिए है, इन कक्षाओं के फार्म नहीं बदल उन्हें समाप्त हो गया है, और इसलिए इस संघर्ष को और अधिक तीव्र हो गया है केवल गया है। लोकतंत्र राजा और प्रजा के बीच संघर्ष शाष्टवत है कि आयोजन किया है और इसलिए यह राजा को खत्म कर दें। लेकिन लोगों के विभिन्न वर्ग के बीच एक संघर्ष स्थायी रूप से लोकतंत्र द्वारा स्वीकार किया गया है। समाजवाद अमीर और वंचितों इसके आधार के बीच संघर्ष बनाया है। क्योंकि सभी प्रणालियों योग्यतम की उत्तरजीविता के डार्विन का सिद्धांत से पश्चिम वसंत के बारे में सोचा की, कक्षाओं बदल गया है लेकिन संघर्ष खत्म नहीं हुई। दुनिया नहीं है क्योंकि संघर्ष की पर है, लेकिन क्योंकि संश्लेषण और सहयोग के लिए चला जाता है। दुनिया बनाया है और क्योंकि 'पुरुष' और 'प्रकृति' के बीच, बल्कि इसलिए कि उनके अंतर-निर्भरता के टकराव का नहीं जारी किया जाता है। अतः सभी कार्य पर चर्चा की और वर्ग संघर्ष और वर्ग के विरोध के आधार पर लेकिन अन्योऽन्याष्टरित और आपसी सहयोग

के आधार पर नहीं विश्लेषण किया जाना चाहिए।

दीनदयाल जी कहते हैं कि आप कर रहे हैं एक डेमोक्रेट किसी को भी, लेकिन अपने विवेक से तय नहीं कर सकता है। लोगों के लिए खड़ा है कि राजनीतिक दलों को भी लोगों के बल पर खड़े हो जाओ। लोगों कि कोई भी उन्हें झुकना चाहिए चाहते हैं लोग उन्हें अपनी ताकत उधार दे देना चाहिए। यह राजनीतिक दलों के आर्किटेक्ट हैं, जो लोगों को है, और उनके राजनीतिक भाग्य का उन के माध्यम से।

दीनदयाल जी का मत है कि एक अच्छा पार्टी कौन सी है? बस व्यक्तियों का एक संग्रह नहीं है, लेकिन सत्ता पर कब्जा करने के लिए अपनी इच्छा से अलग एक विशिष्ट उद्देश्यपूर्ण अस्तित्व के साथ एक निगमित निकाय है कि जाहिर है। राजनीतिक सत्ता के लिए एक साधन के बजाय एक ऐसी पार्टी के सदस्यों के लिए एक अंत होना चाहिए। पार्टी के बैंक और फाइल में एक कारण के प्रति समर्पण होना चाहिए। भक्ति समर्पण और अनुशासन की ओर जाता है। अनुशासन निश्चित क्या है और न के लिए बस जावक अनुरूप मतलब नहीं है। अधिक आप कम ऊपर से अनुशासन लागू पार्टी की आंतरिक शक्ति है। अनुशासन धर्म एक समाज के लिए क्या एक पार्टी के लिए है।

दीनदयाल जी राजनीतिक दलों के बारे में भी अपनी स्पष्ट राय रखते हुए कहते हैं कि विभिन्न राजनीतिक दलों को खुद के लिए एक दर्शन विकसित करने के लिए कोशिश करते हैं। व्यक्तियों कुछ स्वार्थ के लिए एक साथ शामिल की उन्हें मात्र समूहों से होना नहीं है। यह एक वाणिज्यिक उपक्रम या एक संयुक्त स्टॉक कंपनी से कुछ अलग होना चाहिए। यह पार्टी के दर्शन पार्टी के घोषणा पत्र के पत्रों तक ही सीमित नहीं रखा है कि यह भी आवश्यक है। सदस्यों को यह समझने के लिए और कार्रवाई में अनुवाद करने के लिए खुद को समर्पित करना चाहिए।

अनुशासन के विषय में दीनदयाल का विचार तदा दूसरों से अलग है .उनका कहना है कि एक पार्टी के बैंक में अनुशासन का सवाल उत्तम स्वास्थ्य में बल्कि इसलिए भी कि आम लोगों के आचरण पर इसके असर की पार्टी रखने के लिए ही महत्वपूर्ण नहीं है। एक सरकारी मुख्य रूप से एक संरक्षण और सुरक्षा के साधन नहीं है और विनाश, या परिवर्तन की है।

लोगों में कानून के लिए एक श्रद्धा पैदा करने के लिए कानून के संरक्षक बनने की ख्वाहिश दलों जो खुद को इस दिशा में एक उदाहरण स्थापित करना चाहिए कि मांग। लोकतंत्र का सार, स्व-शासन के लिए एक की भावना, और क्षमता है। दलों वे समुदाय में स्व-शासन के लिए एक इच्छा पैदा करने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं खुद को नियंत्रित नहीं कर सकते हैं? समुदाय की गारंटी और व्यक्तिगत खुशी से सामान्य इच्छा को प्रस्तुत करने के लिए यह, दूसरे हाथ पर वांछनीय है व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए एक हाथ पर है, जबकि यह आवश्यक है। कम अधिक से अधिक इस प्रस्तुत राज्य के बलपूर्वक सत्ता हो जाएगा। जिसका मामलों में किसी भी राज्य के कानून से नहीं बल्कि स्वेच्छा से पार्टी इकाइयों द्वारा स्वीकार फैसले से नहीं विनियमित रहे हैं एक पार्टी में, एक सबसे अच्छा व्यक्तिगत स्वतंत्रता और सामाजिक जिम्मेदारी संतुलित किया जा सकता है की एक मिसाल कायम कर सकते हैं। दलों ने अपने सदस्यों के लिए आचार संहिता निर्धारित करने के लिए और इसे सख्ती से पालन करने के लिए यह इसलिए आवश्यक है।

दीनदयाल जी का स्पष्ट मानना था कि जो राजनीतिक दल या पार्टी भारत के अधिक से अधिक जनता का ख्याल नहीं रखती या उसके एजेंडे में नहीं आती, तो उसके अनुयाई पार्टी के हित के लिए काम करते नजर आये और अपना उल्लू सीधा करने की कोशिश करेंगे इसीलिए भारत के प्रत्येक जागरूक प्रतिनिधि को पार्टी से ऊपर उठकर काम करना चाहिए तभी आप देश की जनता के साथ न्याय कर सकते है।

दीनदयाल जी के विचार आज भी भारतीय राजनीति के लिए एक आदर्श वाक्य ही नहीं है बल्कि उनके अनुभव से निकले सिद्धांत है जिसे लागू कने के लिए हमें सदैव प्रयत्नशील रहना पड़ेगा तभी हम उनको सच्ची श्रद्धांजलि दे सकते है।

समाजवाद बनाम हिंदू धर्म

मानवीय और राष्ट्रीय दोनों तरह से, यह आवश्यक हो गया है कि हम भारतीय संस्कृति के सिद्धांतों के बारे में सोचें।

भारतीय राजनीति में सदैव समाजवादी विचारों का बोलबाला रहा है। किसी भी पार्टी राजनीति में कभी हिम्मत नहीं रही की वे समाजवाद के पीछे छिपे नकली लोगों का सच उजागर कर सके। यह काम दीनदयाल जी ने अपने समय में बखूबी किया। आज उनके विचारों की रोशनी में हम समाजवाद और हिन्दू धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने की कोशिश करेंगे

ऐसा मन जाता है कि दुनिया की समस्याओं का जवाब समाजवाद लेकिन हिंदू धर्म नहीं है। यह डिब्बों के रूप में जीवन समझता है, जो जीवन का केवल दर्शन है। यह माना जाता है कि एक समय में हिंदू धर्म आधुनिक वैज्ञानिक प्रगति के खिलाफ था एक बहुत बड़ी गलती है। विज्ञान और मशीन दोनों हमें सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन के अनुसार प्रयोग किया जाना चाहिए।

समाजवाद आज संघर्ष स्वीकार

समाजवाद को सभी हलकों में लोगों के लिए सबसे अधिक लाभकारी प्रणाली माना जा रहा है। समाजवाद का अर्थ है उत्पादन और वितरण के सभी साधनों को राज्य के नियंत्रण से है। ऐसी स्थिति में लोगों और मजदूरों की स्थिति को कम कर रहे हैं। इसमें कोई स्वतंत्र स्वामित्व नहीं है। समाजवाद को स्थापित करने के लिए वर्ग संघर्ष और खूनी क्रांति लागू करते हैं। इसमें कभी कभी शांतिपूर्ण तरीके से समाजवाद लाने के लिए किया

जाता है। लेकिन इस प्रणाली के रूप में व्यक्ति और समाज के बीच एक संघर्ष स्वीकार करता है और यह आदमी एक मशीन का केवल एक हिस्सा बन जाता है, के तहत व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करता है। इस तरह के एक समाजवाद के तहत व्यक्ति और समाज के बीच संबंध भारतीय संस्कृति और परंपरा के साथ समझौते नहीं करता। हम इस प्रकार के समाजवादियों में से नहीं हैं, और न ही हम पश्चिमी अर्थ में व्यक्तिवादी हैं। हमारे उपनिषद व्यक्ति पर केंद्रित है, जो वह अंधेरे समय में उपलब्ध हो जाता है।

समाजवाद के विषय में उपाध्याय के विचारों का सरल रेखीय विवेचन संभव नहीं है। एक समय उपाध्याय 'समाजवाद' के समर्थक थे। यह समय सन् 1952-53 का था। उसके बाद उनके द्वारा 'समाजवाद' शब्द का उपयोग किए बिना समतावादी आर्थिक दृष्टिकोण का प्रतिपादन तथा आर्थिक क्षेत्र में राज्याधिकार का विरोध चलता रहा। यह काल सन् 1954-56 तक का है। सन् 1957 के जनसंघ-घोषणापत्र में पहली बार 'समाजवाद' की, राज्य के हाथों में शक्ति के केंद्रीकरण के संदर्भ में, आलोचना की गई। सन् 1958 के जनसंघ के सातवें बेंगलोर अधिवेशन में 'समाजवाद' तथा 'पूँजीवाद' पर तीव्र प्रहार किए गए; लेकिन उपाध्याय का संपूर्ण आर्थिक विवेचन समाज परक एवं समतावादी है। वे संपत्ति पर व्यक्ति का समाज निरपेक्ष अधिकार स्वीकार नहीं करते। मुनाफावादी कर्मप्रेरणा तथा यांत्रिक उद्योगवाद के भी वे प्रबल विरोधी हैं। 'समाजवाद' का वे निम्न कारणों से विरोध करते हैं।

- समाजवाद सत्ता व वित्त का राज्य में केंद्रीकरण करता है।
- समाजवाद सर्वग्रासी राज्य का हिमायती है।
- समाजवाद लोकतंत्र विरोधी तानाशाही शासन का पोषक है।
- समाजवाद वर्ग संघर्षवादी, भौतिकवादी व अमानवीय दर्शन है।
- समाजवाद भारतीयता के प्रतिकूल विदेशी विचार है।

इस विरोध के बावजूद उनके प्रतिपादन में समाजवाद के प्रति एक भावनात्मक लगाव है। वे समाजवादी प्रवृत्ति, समाजवादी दृष्टिकोण तथा समाजवादी आर्थिक राजनीतिक व्यवस्था, इस प्रकार समाजवाद की त्रि-आयामी व्याख्या करते हैं। समाजवादी प्रवृत्ति को वे आवश्यक बताते हैं, समाजवादी दृष्टि जो समतावादी है उसे वांछनीय मानते हैं; लेकिन 'समाजवादी राज्य-व्यवस्था'

का प्रबल विरोध करते हैं। पूँजीवादी व समाजवादी अर्थव्यवस्था को मूलतः समान प्रवृत्ति की घोषित करते हैं। कार्ल मार्क्स की वैज्ञानिक समाजवाद की व्याख्या से वे असहमत हैं। मार्क्स के भावात्मक रूप से प्रशंसक है; लेकिन तर्क में उसका शिष्यत्व स्वीकार नहीं करते।

इस संदर्भ में उपाध्याय के ये शब्द उल्लेखनीय हैं, “बुभुक्षितों के प्रति हार्दिक सहानुभूति और समाज में उन्हें समान स्तर और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करा देने की इच्छा, आज भी प्रत्येक समाजवादी को प्रेरणा देती है। उनकी सदृच्छा सराहनीय है। इस दुःख से परिपूर्ण विश्व में असमानता, अन्याय, दुःख, कष्ट, उत्पीड़न, प्रताड़ित, दासत्व, शोषण, क्षुधा और अभाव को देखकर कोई भी व्यक्ति जिसे मानवीय अंतःकरण प्राप्त है, समाजवादी वृत्ति अपनाए बिना नहीं रह सकता।

परंतु समाजवाद यहीं तक सीमित नहीं है। यह ठीक है कि वह एक दुखपूर्ण स्थिति का अंत चाहता है। उसने स्थिति का विश्लेषण किया है, रोग का निदान किया और उसके लिये औषधि की योजना भी की है। यहाँ पर उन्हें मार्क्स का शिष्यत्व स्वीकार करना पड़ता है। उसने अपने समकालीन समाजवादी विचारों को एकत्रित कर एक ऐसी विस्तृत विचार सारणी प्रस्तुत की जो आगे आने वाली पीढ़ियों को आकर्षित करने की क्षमता रखती है। मार्क्स से विचार भिन्नता रखनेवाले समाजवादी भी उसके अकाट्य तर्क का खंडन नहीं कर पाते। उसने एक करणीय योजना प्रस्तुत की और बोल्योविकों ने उस स्वप्न को साकार करने हेतु सफलतापूर्वक रूस की सत्ता पर अधि कार कर लिया। बोल्शेविक क्रांति से लेकर आज तक का रूस का इतिहास विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सफलताओं के बावजूद, इस पद्धति की अपूर्णता का ही द्योतक रहा है।”

दिसंबर 1958 में हुए जनसंघ के सातवें अधिवेशन के बाद अपनी दलीय नीतियों के संदर्भ में दीनदयाल उपाध्याय ने एक विशेष लेख लिखा जिसमें ‘समाजवाद’ के विरोध को एक साहसी व सुविचारित नीति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। वे लिखते हैं, “समाजवाद हमारे देश व प्रकृति के लिए विदेशी है। कभी-कभी इसे सामाजिक कल्याण व सामाजिक न्याय का नाम दिया जाता है। वास्तव में समाजवाद जिसका अर्थ राज्य के हाथ में (व्यावहारिक रूप में जिसका अर्थ सत्तारूढ़ दल के हाथ में) समस्त शक्ति

का केंद्रीकरण है। कांग्रेस अपने प्रस्ताव में 'जनतांत्रिक समाजवाद' तक पहुँची है; किंतु समाजवाद और जनतंत्र आज तक कभी साथ-साथ नहीं चले हैं। ब्रिटेन के मजदूर दल ने उन दोनों को साथ-साथ चलाने का प्रयास किया; किंतु उसे जनतांत्रिक परंपराओं के पक्ष में समाजवादी सनकों को त्याग देना पड़ा। उपाध्याय आगे लिखते हैं, "दिल्ली के एक प्रतिनिधि ने इच्छा व्यक्त की कि जनसंघ के प्रस्ताव से 'ऐसी समाजवादी नीति जिसके कारण राज्य के हाथ में अधिक शक्ति केंद्रीभूत होती है, जनतांत्रिक आदर्श के अनुकूल नहीं है। 'ये शब्द निकाल दिए जाने चाहिए। स्पष्ट है कि उनकी धारणा थी कि समाजवाद का विरोध राजनीतिक पूँजी के संचय में सहायक नहीं है, विशेष रूप में ऐसे समय में जबकि देश के नवयुवक समाजवाद के नारे के पीछे लट्टू हैं; किंतु ऐसे समय में जबकि सभी लोग मृगमरीचिका के पीछे अंधे होकर दौड़ रहे हैं, कुछ लोग ऐसे चाहिए जो दोनों हाथों में साहस का संबल धारण कर सत्य उद्घोष कर सके। यदि राष्ट्रीय रूप में इसका लाभ होता है तो अंततोगत्वा राजनीतिक रूप से भी उसका लाभ मिलेगा ही।"

अपने एक आलेख में उपाध्याय स्पष्ट करते हैं कि जनसंघ समाजवाद का विरोध कर रहा है, इसका यह अर्थ नहीं कि जनसंघ पूँजीवाद का समर्थक है, वरन् जनसंघ पूँजीवाद का भी पूरी उग्रता के साथ विरोधी है। वे लिखते हैं- क्योंकि वहाँ (पूँजीवाद में) समस्त शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथ में केंद्रित हो जाती है। यथार्थ में समाजवाद और पूँजीवाद एक ही राग के दो रूप हैं। यूरोप में औद्योगिक क्रांति ने स्वावलंबी कर्मियों को ही समाप्त कर दिया। यदि औद्योगिक कार्यक्रम अपनाते समय सचेत रहे तो हम सिद्धांततः 'विकेंद्रीकरण' स्वीकार कर भारत को पूँजीवाद व समाजवाद दोनों के दुर्गुणों से बचा सकते हैं। हमारा सिद्धांत होना चाहिए छोटी इकाइयों द्वारा उत्पादन। - उपाध्याय सामान्यतः अपने विवेचन में 'समाजवाद' का विश्लेषण 'पूँजीवाद' की प्रतिक्रिया में उत्पन्न विचार के ही रूप में करते हैं तथा दोनों को मानव की भ्रमपूर्ण कल्पनाओं पर आधारित मानते हैं, दोनों उनकी दृष्टि में समान रूप से अमानवीय हैं- "पूँजीवाद का आधार यदि आर्थिक मनुष्य है तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप समाजवाद ने 'सामूहिक-मनुष्य' की कल्पना की। उस सामूहिक-मनुष्य की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करने का लक्ष्य ही सामने रखा। उसके जीवन

की अन्य आवश्यकताओं की पूरी उपेक्षा कर दी। इन दोनों व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार नहीं। “दीनदयाल उपाध्याय ‘मानव्य’ एवं उसके स्वातंत्र्य के पक्षपाती हैं। लेकिन जब टाटा और बिरला ‘व्यक्ति-स्वातंत्र्य’ या ‘मुक्त प्रेरणा’ की बात करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है उनकी अपनी स्वतंत्रता, उनके कारखानों में गुलाम बने हुए लाखों-करोड़ों मजदूरों की स्वतंत्रता नहीं। हमें तो लाखों-करोड़ों मानवों की स्वतंत्रता का विचार करना है। शक्ति चाहे राजनीतिक हो या आर्थिक, केंद्रीकरण से व्यक्ति-स्वातंत्र्य समाप्त होता है। पूँजीवाद व समाजवाद दोनों ही केंद्रीकरण के हामी हैं। दोनों ही व्यवस्थाओं में मनुष्य का विचार होता है परिमाणात्मक आधार पर, न कि गुणात्मक आधार पर दीनदयाल उपाध्याय समाजवाद व लोकतंत्र का सह-अस्तित्व असंभव मानते हैं- “यूरोपीय समाजवादियों के नए प्रयासों ने उस तत्त्व को जन्म दिया जिसे आज जनतांत्रिक समाजवाद का नाम दिया गया है। वे कम्युनिस्टों से मतभिन्नता रखते हुए यह प्रतिपादित करते रहे हैं कि समाजवाद का प्रादुर्भाव जनतांत्रिक ढंग से होना चाहिए। वे एक साथ समाजवाद तथा जनतंत्र दोनों की आराधना करना चाहते हैं। पर मूल प्रश्न तो यह है कि क्या समाजवाद और प्रजातंत्र एक साथ पनप भी सकते हैं? सिद्धांतवादी इस पर आशान्वित हैं, पर प्रगतिवादी इस पर विश्वास नहीं करते। समाजवाद इसका हामी है कि उत्पादन के समस्त स्रोत राज्य के अधीन होने चाहिए। चूंकि समाजवादी यह समझते हैं कि समाज का राजनीतिक, बौद्धिक और सामाजिक जीवन उसके उत्पादन के स्रोतों के साथ ही ढलता है, अतः समाजवादी व्यवस्था में राज्य का आर्थिक क्षेत्र के साथ-साथ राजनीतिक और अन्य क्षेत्रों में भी पूर्ण वर्चस्व रहना आवश्यक है। इससे एक स्थिति पैदा होगी, जब उन लोगों के विरुद्ध जो शासन में हैं, लोकतांत्रिक अधिकारों का प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करना संभव ही नहीं होगा। समाजवादी बंदूक और गोली का पहला शिकार निश्चित रूप से कोई लोकतंत्रवादी ही होगा। समाजवाद और लोकतंत्र दोनों साथ-साथ नहीं चल सकते। घेर-बकरी का एक ही घाट पर पानी पीना असंभव है।”

दीनदयाल जी समाजवाद व मार्क्सप्रणीत साम्यवाद में अंतर नहीं करते . वे कहते हैं कि वैचारिक क्षेत्र में अपेक्षित लचीलेपन के स्थान पर इसमें मजहबी कट्टरता है। लोकतंत्र में भूलों को सुधारने तथा नवीन बातों को

स्वीकारने की सिद्धता रहती है। पर समाजवादियों के समस्याओं के प्रति दृष्टिकोण में इस प्रकार के लचीलेपन का अभाव है। यह विचारधारा किसी प्रकार के नवीन चिंतन की प्रेरणा नहीं देती। मसीहावाद और अपरिवर्तनीय अंधविश्वासों पर आधारित मजहब के अनुयायी की तरह कट्टर समाजवादी, नए स्वतंत्र विचारों से दूर ही रहना पसंद करता है। यही कारण है कि कम्युनिस्ट के शब्दकोश में ऐसे विचारकों के लिए अनेक प्रकार की गालियाँ भी रहती हैं। 'इसी मसीहावाद के कारण इसने एक युद्ध पिपासु मानव को जन्म दिया। यह शुद्ध लोलुप मानव समाजवादी राज्य की ही देन है। उसे न विचार करने की स्वतंत्रता प्राप्त है, न स्वयं निर्णय करने की। इस व्यवस्था के अंतर्गत मानवजीवन का मूल्य एक निरीह पशु से अधिक नहीं का जाता।'

दीनदयाल जी ने कहा कि विचार व दर्शन के नाते 'समाजवाद' को मार्क्स प्रणीत साम्यवाद से इसलिए अलग नहीं करते, क्योंकि उनकी मान्यता है कि 'समाजवाद' मार्क्स के पहले कोई विचारधारा नहीं थी। वह केवल सामाजिक निष्ठा को प्रकट करने वाला एक शब्द मात्र था। मार्क्स ने उसे एक सुनिश्चित विचारधारा का रूप दिया। अतः 'समाजवाद' विचार से यदि मार्क्स को निकाल दें तो वह एक अस्पष्ट व अटपटी वृत्ति बन जाता है। बहुत से लोग फैशनवश भी समाजवाद का नाम लेते रहते हैं। उपाध्याय 'समाजवाद' के इतने विरोधी इसलिए भी बन गए कि 'समाजवाद' शब्द के सम्मोहन की आड़ में देश में 'साम्यवाद' के प्रति एक सम्मान पैदा किया जा रहा था। इसके लिए वे कांग्रेस व नेहरू को जिम्मेदार मानते थे। वे साम्यवादी तानाशाही के सख्त खिलाफ थे। नेहरू का पाष्ठचात्यवादी मानस भी उनके विचारों के अनुकूल न था। अतः नेहरू व कम्युनिस्ट दल जिस नारे के बल पर राजनीति कर रहे थे उसको देश में निर्विवाद रहने देना उन्हें गलत लगता था। अतः यह ज्ञात होते हुए भी कि दुनिया में समाजवादियों की बड़ी संख्या गैर-साम्यवादी है, उन्होंने समाजवाद व साम्यवाद में फर्क न करते हुए अपने विचारों का प्रतिपादन किया है।

दीनदयाल जी कहा कि विचार के पटल पर साम्यवाद व समाजवाद में अंतर करना जरूरी है। वास्तविकता तो यह है कि साम्यवाद के भी अनेक प्रकार हैं। रूसी-साम्यवाद, चीनी-साम्यवाद, युगोस्लाव-साम्यवाद एवं यूरो-साम्यवाद आदि। दीनदयाल जी का मत था कि पूंजीवाद तथा समाजवाद

तो पश्चिमी औद्योगिक क्रांति के 'जुड़वा बेटे' हैं। अतः वे कहते हैं कि समाजवादी भी मूलतः पूँजीवादी ही होते हैं। 'समाजवादी, फिर वह चाहे जिस रूपरंग के हों, पश्चिम की प्रौद्योगिकी में अमिट श्रद्धा रखते हैं। उनकी लड़ाई मशीन से नहीं, मशीन के मालिक से है। इसलिए उसकी मिलकियत राज्य को सौंपकर वे समाधान मान लेते हैं।'

दीनदयाल जी पाश्चात्य औद्योगिक क्रांति को ही अमानवीय पूँजीवाद एवं साम्राज्यवाद की उपज मानते हैं। 'मशीन' को 'मानव' से बड़ा दर्जा देने वाला यह औद्योगिक विस्तारवाद ही मानवता के प्रति अपराध है। उत्पादन के इन केंद्रीकृत तरीकों ने 'कर्मशील' मानव के हाथ ही काट लिए उसे असंवेदनशील तथा असांस्कृतिक बना दिया। उसे दो कृत्रिम संज्ञाओं में बाँट दिया। 'शोषित' और 'शोषक' या 'शासित' और 'शासक' -यह मानव का विकृतीकरण है।

दीनदयाल जी का मत था- "पूँजीवाद और समाजवाद, इन दोनों ही अवस्थाओं में मानव के सही और पूर्ण रूप को नहीं समझा गया। एक में उसे स्वार्थी अर्थपरायण, संघर्षशील एवं मात्म-न्याय-प्रवण प्राणी माना गया है, तो दूसरी में व्यवस्थाओं और परिस्थितियों का दास, अकिंचन एवं अनास्थामय। शक्तियों का केंद्रीकरण दोनों में अभिप्रेत है। फलतः दोनों का परिणाम 'अमानवीयकरण' में हो रहा है। भगवान् की सर्वश्रेष्ठ कृति मानव अपने को खोता जा रहा है। हमें मानव को पुनः अपने स्थान पर प्रतिशत करना होगा, उसकी गरिमा का उसे ज्ञान कराना होगा, उसकी शक्तियों को जगाना होगा तथा उसे देवत्व की प्राप्ति हेतु पुरुषार्थशील बनाना होगा। यह 'विकेंद्रित अर्थव्यवस्था' के द्वारा ही संभव है। हमें समाजवाद अथवा पूँजीवाद नहीं, मानव का उत्कर्ष और सुख चाहिए। "

दीनदयाल जी समाजवाद पर अपने विचारों को व्यक्त करते समय उसे भारतीय संदर्भ में ही विवेचित करते हैं, जो सैद्धांतिक के साथ-साथ राजनीतिक भी था। उनके विचारों के कुल स्वर को सुनकर कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि वे विधायक रूप से 'समष्टिवादी' थे। वे 'पूँजीवाद' व 'समाजवाद इन दो कठोर दायरों में विचारधाराओं को बाँटकर, किसी एक दायरे की तरफदारी के खिलाफ थे। पूँजीवाद के खिलाफ तो वे समाजवादी ही थे; लेकिन प्रतिक्रिया में उत्पन्न राज्यवादी 'समाजवाद' के खिलाफ वे

‘मानववादी’ थे। दीनदयाल जी का यह तकनीकी आधार पर ‘समाजवाद’ का विरोध लोगों को बहुत समझ में नहीं आया अतः लोगों ने उन्हें प्रचलित ‘समाजवादी’ खेमे के विरोधी अर्थात् ‘पूँजीवादी’ खेमे में धकेल दिया। आज के तकनीकी युग में उद्योगवाद के विरोधी को आधुनिकीकरण का विरोधी भी माना जाता है। यही कारण है कि हमें दीनदयाल जी विचार लोगों तक ठीक प्रकार से पहुंचने पड़ेंगे ।

दीनदयाल जी कहते हैं कि हम व्यक्तिवादी हैं, समाज के लिए खड़े हो जाओ। भारतीय दर्शन के अनुसार हम व्यक्तिगत अनदेखी नहीं करते हुए भी समाज के हित के लिए लग रही है। हमें समाज के लिए परवाह है क्योंकि हम उस अर्थ में ‘समाजवादी’ कर रहे हैं, हम भी कर रहे हैं और हमने अलग-अलग व्यक्तिवादी की अनदेखी नहीं है। हमें सर्वोच्च होने का व्यक्तिगत विचार नहीं है क्योंकि यह हमें व्यक्तिवादी नहीं कर रहे हैं।

इसलिए हम दोनों में से एक संश्लेषण चाहते हैं।

राजनीतिक चिंतन पर प्रभाव

भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है कि यह जीवन को एक एकीकृत रूप में देखती है।

कुछ इतिहासकारों के अनुसार भारतीय चिंतन पर विदेशी विचारों का प्रभाव मन जाता है। दीनदयाल जी ने इस विषय को बहुत ही गहराई और विस्तार से अध्ययन करके समाज के सामने रखा कि भारतीय चिंतन शुद्ध रूप से भारतीय है इसका अपना दर्शन और महत्व है जिसको समझना बहुत जरूरी है वर्ना देश की जनता को कभी भी हम उनके सर्वोच्च स्थान तक नहीं पहुंचा सकते हैं। दीनदयाल जी ने गूढ़ से गूढ़ विचारों पर अपनी बात रखते हुए एक उच्चकोटि का विद्वान् बनाती है।

दीनदयाल जी २० वीं सदी के उत्तरार्द्ध के महापुरुष हैं, जब विश्व में अनेक विचार परंपराएँ बहुत प्रखरता से प्रचलित थीं। १६वीं शताब्दी के यूरोपीय पुनर्जागरण के बाद की चार शताब्दियों में विचारों ने एक वैश्विक आयाम ग्रहण कर लिया था। अब दृष्ट्यमान विश्व कोई अबूझ पहली नहीं रह गया था। साहसिक विश्वयात्रियों ने भू-पटल की परिक्रमा कर डाली थी। विज्ञानवाद, भौतिकवाद एवं मानववाद ने ईश्वर की रहस्यमय सत्ता को एक चुनौती दे दी थी। रहस्यात्मकता पर विज्ञान ने चोट की, श्रद्धामूलक आस्थाओं को तर्क ने हिला दिया तथा भगवतकृपा के स्थान पर विवेक का भरोसा प्रभावी हो चला था। 'थियोक्रेसी' को चुनौती देते हुए सेक्यूलरिज्म, लोकतंत्रात्मक व्यक्तिवाद व समाजवाद की धारणाएँ प्रबल हो गई थीं। यूरोप का कायापलट हो गया था।

भगवतकृपा व भगवद्भय से मुक्त मानव ने प्रकृति विजय एवं विश्व

विजय के अभियान संयोजित किए। साहसपूर्वक खोज लिए गए। नए-नए भू-प्रदेशों पर यूरोपीय साम्राज्यों का निर्माण हुआ। 20 वीं सदी इन साम्राज्यों को चुनौती की सदी थी। राष्ट्रवाद साम्राज्यवाद पर प्रहारक बन गया था।

पश्चिम का ज्ञान-विज्ञान पश्चिम के साम्राज्यवाद के माध्यम से ही एशिया व अफ्रीका के महाद्वीपों में पहुँचा। पश्चिम के संपर्क से इन समाजों की चिंतनधारा निर्णायक रूप से प्रभावित हुई; लेकिन एशियाई राष्ट्रवादी मानस पश्चिमी साम्राज्यवाद के साथ-साथ पश्चिमी ज्ञान की प्रभुता को भी स्वीकार करना अपने स्वाभिमान पर चोट समझता था। अतः उसने पश्चिम के ज्ञान को नकारा। दीनदयाल उपाध्याय भारतीय राष्ट्रवाद की इसी धारा की उपज थे।

भारतीय पुनर्जागरण

दीनदयाल जी का मत है कि भारतीय पुनर्जागरण का काल सामान्यतः राजा राममोहन राय के नेतृत्व से प्रारंभ हुआ। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, प्रार्थनासमाज एवं रामकृष्ण मिशन आदि के माध्यम से यह जागरण प्रस्फुटित हो रहा था। स्वामी दयानंद, विवेकानंद, रामतीर्थ एवं रामकृष्ण परमहंस जैसे भारतीय मनीषियों ने भारतीय समाज के स्वत्व को झकझोरा। इस काल के कतिपय महापुरुषों पर अंग्रेजी प्रभाव भी पर्याप्त था। इस पुनर्जागरण की कोख से जो राजनीतिक आंदोलन उत्पन्न हुआ उस राजनीतिक आंदोलन का चरित्र अपने जन्मकाल से ही विभक्त था। राष्ट्रवाद की एक धारा अंग्रेजी साम्राज्य को उसके पश्चिमी ज्ञान व संस्थाओं के सहित संपूर्णतः नकारती थी तथा दूसरी धारा अंग्रेजी संस्थाओं व ज्ञान को आदर देते हुए केवल विदेशी प्रभुसत्ता के नाते अंग्रेजी साम्राज्य को अस्वीकार करती थी। प्रथम धारा के प्रवक्ता मुख्यतः लोकमान्य तिलक एवं महर्षि अरविंद थे, जो पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान से भारतीय ज्ञान परंपरा को श्रेष्ठ मानते थे। 'पुनश्च हरिओम' तथा 'वेदांतिक स्वराज्य' की बात करते थे। वे भारतीय परंपरा को ग्रीक ज्ञान परंपरा के समकक्ष मानते थे, जो आधुनिक यूरोप की ज्ञान परंपरा का आधार बनी है। ग्रीक परंपरा का सहोदर भारत अपनी ज्ञानराशि में स्वयं समर्थ है। उसे पाश्चात्य उच्छिष्ट नहीं चाहिए। 'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है' की घोषणा में 'स्वराज्य' का अर्थ 'स्वत्वपूर्ण राज्य' की स्थापना था। स्वत्व अर्थात् भारतीयत्व जो कि मुख्यतः हिंदू परंपरा के तत्त्वज्ञान, मूल्य दृष्टि एवं दर्शन पर आधारित था। तिलक परंपरा के स्वराज्यवादी इसी राष्ट्रवादी

विचारप्रवाह के प्रतिनिधि थे।

दूसरी धारा, जिसका प्रतिनिधित्व दादाभाई नौरोजी व गोपाल कृष्ण गोखले सरीखे महापुरुष करते थे, जो अंग्रेजी राज्य को भारत के लिए वरदान मानते थे, पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान एवं व्यवस्था को आधुनिक मानव की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि मानते थे। वे विदेशी अंग्रेजों को हटाकर भारतीय जन द्वारा संचालित पाश्चात्य व्यवस्थाओं वाला भारतीय सुराज्य चाहते थे। दादाभाई नौरोजी ने अपनी विख्यात पुस्तक लिखी, 'अनब्रिटिश रूल इन इंडिया।' वे भारत में भारतीयों द्वारा संचालित संसदीय लोकतंत्र की उस परंपरा को स्थापित करना चाहते थे जिसका विकास मुख्यतः इंग्लैंड में हुआ था। पाश्चात्य ज्ञान की ओर देखने की उनकी दृष्टि देशी-विदेशी की नहीं, वरन् आधुनिकता की थी। वे प्राचीन भारतीय जीवन दर्शन व पाश्चात्य आधुनिक जीवन दर्शन में मेल के हिमायती थे।

दीनदयाल उपाध्याय ने जिस विचारधारा से प्रभावित होकर सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया वह तिलकवादी भारतीय परंपरा की विचारधारा थी। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के संस्थापक डॉ. केशव बलीराम हेडगेवार तिलकवादी कांग्रेसी थे, जो तिलक की मृत्यु के बाद श्री अरविंद को भारतीय राजनीति का नेतृत्व सौंपना चाहते थे। श्री अरविंद ने यह स्वीकार नहीं किया। महात्मा गांधी के नेतृत्व वाली राजनीति मुख्यतः गोखले विचारों की अनुगामिनी थी। यद्यपि कुछ विचारक यह मानते हैं कि वे उद्देश्यों की दृष्टि से गोखले के निकट थे और साधनों में तिलक के अनुयायी थे। डॉ. हेडगेवार ने अपने को उससे अलग कर 'हिंदू राष्ट्र के संगठन' के लिए नए संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की स्थापना की। दीनदयाल उपाध्याय इसी हिंदूवादी राष्ट्रवाद के प्रवक्ता थे जो भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की विशुद्धता में विश्वास करता था। इसलिए यह स्वाभाविक है कि हम दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन को समझने से पूर्व इस परंपरा का कुछ विस्तार से परिचय प्राप्त करें।

दल-अवधारणा-

दीनदयाल की राजनीतिक चिंतन परम्परा विदेशी नहीं थी। उन्होंने देश की स्वभाविक राजनीतिक चरित्र को समझा और लोगों से साझा किया। उनका मानना था कि आज भारत में राजनीतिक दलों में बहुत सी त्रुटियाँ हैं। दल की दृष्टि से देखा जाए तो काँग्रेस सबसे निचले स्तर का दल है। आज राजनीतिक दलों का संगठन किसी भी लक्ष्य को सामने रखकर नहीं किया जाता। वह

एक व्यक्ति या गुट के आधार पर ही खड़ा होता है। केवल आदर्शवाद के होने से भी वह उपयोगी नहीं हो जाता। आदर्शवाद राष्ट्रहित के साथ जुड़ा हुआ होना चाहिए। कम्युनिस्टों के पास आदर्शवाद है किंतु वह जनतंत्र के मूल पर आघात करने वाला है। अनुशासनबद्ध दल एवं निष्ठावान नेतृत्व की आज नितांत आवश्यकता है। स्वतंत्र समाचार पत्र स्वतंत्र न्याय-प्रणाली और स्वच्छ तथा कार्यकुशल प्रशासन सफल जनतंत्र के लिए आवश्यक हैं। जनतंत्र में एक से अधिक दल तो होंगे ही किंतु इन दलों को एक आचार-संहिता का या तो पंचशील का पालन करना चाहिए। दल-बदल को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। तभी देश में स्थिर शासन आएगा और अनुत्तरदायी राजनीति नहीं चलेगी। हमें देश में शांतिपूर्ण मार्ग से आर्थिक एवं सामाजिक क्रांति करनी है। किंतु उसके लिए आज के पारिवारिक नेतृत्व को लगता है और वह समय के साथ आगे बढ़ने वाले आदर्शवाद के मार्ग से पीछे मुड़ जाता है। इसके अतिरिक्त ये सब नेता एक विशेष आयु के हो चले हैं। वास्तव में यह नयी और पुरानी पीढ़ी का संघर्ष है। सच पूछा जाए तो ऐसे संघर्ष से ही प्रगति हुआ करती है। हम यह भली-भांति जानते हैं कि आज का वृद्ध नेतृत्व क्रांति के लिए अपना समर्थन नहीं देगा। जनसंघ के कार्यकर्ता नए नेतृत्व का निर्माण करने के लिए उत्सुक हैं। जनसंघ इस देश को नया नेतृत्व देना चाहता है। किंतु नेतृत्व का निर्माण करने के पुराने मार्ग अब बदलने होंगे। उसके लिए प्रदर्शनात्मक राजनीति का मार्ग नहीं होगा। अतः गलत मार्ग छोड़कर लक्ष्य प्राप्त करने वाले सही मार्ग पर हमें आगे बढ़ना होगा। नारेबाजी जुलूस जय-जयकार आदि का भी एक नशा हुआ करता है। उनके द्वारा सच्चे राजनीतिक नेता का निर्माण नहीं होता। नेतृत्व को अपने आप उभरने दीजिए कृत्रिम उपायों से उसे ऊपर उठाना किसी काम का नहीं। इसलिए जनतंत्र की सफलता और अपने दल के हित के लिए सामान्य जन को ही हम अपना लक्ष्य बनाएँ। अनाड़ी प्रतीत होने वाला सामान्य व्यक्ति वास्तव में बुद्धिमान होता है। वह दरों से भी अधिक घूर होता है। भारतीय जनसंघ ऐसे सामान्य जन का संगठन बने यह मेरी धारणा है।

स्वदेशी चिंतन को प्रमुखता

दीनदयाल जी जनता से बहुत गहरे से जुड़े हुए थे इसी लिए किसी भी विषय पर अपनी बात रखते हुए बहुत विचार विमर्श करते थे। उन्होंने स्वदेशी चिंतन को प्रमुखता देते हुए समाज के बारे में सोचने की बात कही थी। उन्होंने

एकबार लिखा कि 1947 में हम स्वतंत्र हुए और अंग्रेज भारत छोड़कर चले गए। राष्ट्र निर्माण के प्रयासों में सबसे बड़ी बाधा हम उन्हें ही मानते थे। वह बाधा दूर हो गई। तब सबके सामने अकस्मात् प्रश्न उपस्थित हुए कि महा प्रयासों से प्राप्त इस स्वतंत्रता का आशय क्या है? हम यहाँ किस प्रकार का जीवन खड़ा करना चाहते हैं? राष्ट्र के नाते भारत के जीवनादर्श एवं जीवन के निष्कर्ष क्या हैं? किंतु राष्ट्र जीवन का विशुद्ध साक्षात्कार न होने के कारण हम इस स्वतंत्रता का उपयोग राष्ट्रीय आदर्श को अपने जीवन में उतारने के लिए नहीं कर सके। परायों का अनुसरण करने के चक्कर में ही हम पड़ गए। इतने कि संविधान बनाते समय भी हमने अपने स्वाभाविक राष्ट्रीय आदर्श को उसमें प्रतिबिंबित नहीं होने दिया। विदेशों में उद्धोषित सिद्धांतों का जोड़ तोड़ करने में ही हमने संतोष कर लिया। इसलिए आज तक हम इस मूल प्रश्न का कोई उत्तर नहीं दे पाए हैं कि आखिर हम यहाँ किस प्रकार का जीवन खड़ा करना चाहते हैं? स्वत्व का समुचित बोध न होने के कारण हम अपने पैरों पर खड़े नहीं हो सके हैं। राष्ट्रीय वैभव के लिए हमने जितने भी प्रयास किए उनमें इसका बोध कहीं भी नहीं पाया जाता कि राष्ट्रीय वैभव की हमारी अवधारणा क्या है तथा उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास कितने ही लोगों ने किया है, फिर भी यही एक बात उभर कर सामने आती है। इन लोगों द्वारा खोजे गए उत्तर प्रायः बाह्य जीवन-प्रणालियों के आधार पर ही होते हैं। कोई समाजवाद के आधार पर यहाँ समाज-रचना करना चाहते हैं तो कोई कम्युनिस्ट के आधार पर। कुछ अन्य लोग समाजवाद और व्यक्ति-स्वातंत्र्य में तालमेल बिठाने के प्रयास में यहाँ लोकतांत्रिक समाजवाद लाने की बात करते हैं। विदेशों से आयातित विचारधाराओं के आधार पर ही ये सारे प्रयास होते हैं। आर्थिक राजनीतिक सामाजिक आदि क्षेत्रों में चिंतन का आधार विदेशी विचार-प्रणाली ही रहा है। इससे तो ऐसा लगता है मानो हमारे यहाँ के अति प्राचीन राष्ट्र जीवन में इन सब बातों का कभी विचार ही नहीं किया गया हो या हमारा राष्ट्र जीवन मात्र थोड़े से वर्ष की ही निष्पत्ति हो। विदेशों से उधार ली गई विचार-प्रणालियों में हमारे राष्ट्र की सभ्यता एवं संस्कृति प्रकट नहीं हो सकी है। इसलिए राष्ट्र मानस को छूने में वे असफल रही हैं। इन विदेशी विचारों से हमारे लोगों को त्याग परिश्रम और बलिदान की प्रेरणा नहीं मिल सकती। यही कारण है कि आज देश में हताशा का वातावरण दिखाई देता है। राष्ट्र का आत्मविश्वास ढह गया है। कार्य की प्रेरणाएँ समाप्त हो गई हैं और करोड़ों लोगों का यह विशाल समाज परावलंबी बना जा रहा है।

मातृभूमि के प्रति श्रद्धा

जीवन में विविधता और बहुलता है लेकिन हमने हमेशा उनके पीछे छिपी एकता को खोजने का प्रयास किया है।

दीनदयाल जी का चिंतन राष्ट्रहित का चिंतन कहलाता है। उन्होंने अपने चिंतन में कहा कि राष्ट्र केवल एक भौतिक निकाय नहीं हुआ करता। देश में रहने वाले लोगों के अंतःकरण में अपनी भूमि के प्रति असीम श्रद्धा की भावना का होना राष्ट्रीयता की पहली आवश्यकता है। इस श्रद्धाभाव के कारण ही हम अपने देश को मातृभूमि कहते हैं। मातृभूमि के प्रति श्रद्धा का भी कोई आधार होता है। प्रदीर्घ समय तक एक देश में रहने के कारण सहचर्य से आत्मीयता का भाव जागता है। घनै : घनै : राष्ट्र का एक इतिहास बनता जाता है। कुछ बातें राष्ट्रीय गौरव की तो कुछ लज्जास्पद बन जाती हैं। गौरवास्पद बातों को स्मरण कर हम गौरव अनुभव करते हैं और लज्जास्पद बातों से लज्जा। मुहम्मद गौरी और मुहम्मद गजनवी द्वारा भारत पर किए गए आक्रमणों का विचार करते समय स्वाभाविक हमारा चित्त व्यथित होता है। पृथ्वीराज एवं अन्य देशभक्तों के बारे में हमें आत्मीयता अनुभव होने लगती है। किसी को अपने देश के प्रति आत्मीयता का अनुभव न होता हो और आक्रांता के प्रति उसके मन में प्रेम उभरता हो तो यही मानना पड़ेगा उस व्यक्ति में राष्ट्रीयता की भावना नहीं है। हम महाराणा प्रताप छत्रपति शिवाजी या गुरु गोविंद सिंह का स्मरण करते हैं तो हमारा मस्तक उनके सम्मुख आदर और श्रद्धा से झुक जाता है। इसके विपरीत औरंगजेब अल्लाउद्दीन क्लाइव या डलहौजी के नाम सामने आते ही हमारे मन में वही भाव जागता है जो विदेशी आक्रांताओं के प्रति स्वाभाविकतः उत्पन्न होना चाहिए। इस प्रकार एक विशिष्ट भूमि पर रहने वाले और मातृभूमि के प्रति विशुद्ध श्रद्धा की भावना हृदय में

जगाए रखने वाले ऐसे लोगों का एक राष्ट्र बनता है जिनकी जीवन की ओर देखने की दृष्टि समान होती है; जीवन के आदर्श समान होते हैं; शत्रु-मित्र समान होते हैं और ऐतिहासिक महापुरुषों की परंपरा भी समान होती है।

दीनदयाल जी के अनुसार धर्म वही है जो सबके लिए लाभकारी होता है और जो मोक्ष के मार्ग को प्रशस्त करता है। 'धारणात् धर्ममित्याहु, धर्मो धारयते प्रजाः' यह हमारे यहाँ धर्म की व्याख्या है। अर्थात् जिन बातों शक्तियों भावनाओं व्यवस्थाओं तथा नियमों के कारण समाज की धारणा होती है वही धर्म है। मनुष्य की धारणा जिन बातों से होती है वह मनुष्य धर्म शरीर की करे वह शरीर धर्म इसी प्रकार सारी प्रजा की एवं उसके भी परे जाकर समस्त जड़ चेतन संसार की धारणा जिसके कारण होती है उसके भी अपने निश्चित नियम होते हैं। धर्म ही सबकी धारणा करता रहता है। धर्म के बिना कोई बात टिक नहीं सकेगी। प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जाएगी। शरीर, मन, बुद्धि तथा आत्मा से युक्त मानव की धारणा जो कर सकेगा उसे ही धर्म कहा जाएगा। धर्म धारणा के साथ-साथ सामंजस्य स्थापित करने का काम भी करता है। इसलिए आचरण के नियम बनते हैं। ये नियम देश, काल, स्थिति एवं वस्तु के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

दीनदयाल जी का मत है कि विश्व-व्यवहार में विभिन्न राष्ट्र एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। उनमें विचार-प्रणाली का आदान-प्रदान भी होता है। विश्व-व्यवहार में आपस में ऐसा आदान-प्रदान होना एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। भिन्न परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार यह आदान-प्रदान न केवल आवश्यक अपितु अधिक बल देने वाला भी हो सकता है। किंतु कुछ गहराई में जाकर विचार करने पर दिखाई देता है कि जो राष्ट्र स्वस्थ एवं स्वाभिमान-संपन्न होते हैं वे किसी भी बात को स्वीकार ऐसे ढंग से किया करते हैं कि वह नयी बात उनकी राष्ट्रीय आकांक्षा एवं आदर्श के लिए पूरक सिद्ध हो। इस प्रक्रिया को भली-भाँति समझने के लिए हम मानव-शरीर का उदाहरण लें। प्रकृति का यह नियम सबको ज्ञात है कि विजातीय द्रव्य के शरीर में प्रवेश करते ही रोग एवं उपद्रव प्रारंभ हो जाते हैं। इसलिए स्वस्थ जीवन की पहचान यह मानी जाती है कि वह विजातीय द्रव्यों को आत्मसात् कर सकने की सीमा तक ही ग्रहण करता है। यही क्यों मनुष्य गेहूँ चावल आदि अनाज को भी ज्यों का त्यों मुँह में नहीं सूँघ लेता। भोजन के हर पदार्थ को

रक्त-वृद्धि के लिए सहायक बनने वाले रूप में ही वह ग्रहण करता है। यही बात विभिन्न परिवारों के व्यवहार में भी हम देखते हैं। हर परिवार का दूसरे परिवार के साथ लेन-देन का कुछ-न-कुछ व्यवहार चलता ही रहता है। उसके बिना किसी का काम नहीं चलता। विवाह-संबंध तो भिन्न परिवारों में ही किए जाते हैं। किंतु अन्य परिवार की कन्या को अपने परिवार में ग्रहण करते समय उसे सब प्रकार से अपना बनाना पड़ता है। राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यवहार में भी यही दक्षता बरतनी पड़ती है। राष्ट्र के जीवन-मूल्य जीवन-पद्धति आदर्श एवं जीवनधारा के अनुरूप जो भी स्वीकार किया जाता है एकरसता के लिए पोषक एवं राष्ट्र को बलिष्ठ बनाने वाला होता है। प्रत्युत इन बातों के साथ बेमेल एवं विरोधी बातों को स्वीकार करने से अशांति उपद्रव और रोगग्रस्तता के लिए निमित्त बन जाता है। उससे राष्ट्र का विनाश भी संभव होता है।

“दीनदयाल जी सम्पूर्ण विश्व को संबोधित करते हुए कहा कि यदि हम चाहते हैं कि मनुष्य में मनुष्यत्व की रक्षा की जाए तो उसे यंत्र की दासता से मुक्त करना होगा। आज मनुष्य यंत्रों का स्वामी नहीं बल्कि यंत्र ही मनुष्य पर हावी हो गए हैं। इस यंत्र प्रेम के मूल में मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की अधिकाधिक पूर्ति करने की भावना ही होती है। किंतु मात्र भौतिक समृद्धि प्राप्त करने से मनुष्य सुखी नहीं हो सकता इस बात को हमें भुलाना नहीं चाहिए। भौतिक साधनों से समृद्ध बने देशों के सामने क्या-क्या समस्याएँ खड़ी हैं हम देख ही रहे हैं। हमें तो समूचे मानव-जीवन का विचार करते हुए उत्पादन वितरण तथा उपभोग-तीनों को एक ही प्रक्रिया से परस्पर संबद्ध अंग मानना पड़ेगा। हमें यहाँ एक ऐसी व्यवस्था का निर्माण करना होगा जिसमें मनुष्य उत्पादन करते समय तथा भोग भोगते हुए एक सार्थक जीवन व्यतीत करने की ओर भी ध्यान देगा। मनुष्य मात्र भौतिक आवश्यकताओं की गठरी हैं तो होता नहीं। उसकी कुछ आध्यात्मिक आवश्यकताएँ भी होती हैं। मनुष्य की इन आध्यात्मिक आवश्यकताओं की उपेक्षा करने वाली व्यवस्था कदापि परिपूर्ण नहीं हो सकती। समाजवाद और लोकतंत्र-दोनों प्रणालियों ने एकांगी मार्ग का अवलंबन किया है। दोनों मार्ग में सामंजस्य स्थापित करते हुए मनुष्य का विकास करने के स्थान पर इन दोनों व्यवस्थाओं ने विचित्र भ्रम की अवस्था उत्पन्न की और विभिन्न शक्तियों में संघर्ष का अखाड़ा यहाँ बना दिया है।”

दीनदयाल जी ने भारतीय संस्थाओं के बारे में भी उच्च कोटि के विचार प्रस्तुत किये थे। उन्होंने लिखा कि ध्यान देने योग्य यह बात है कि हमारे भारत में प्राचीन काल में पंचायत-प्रणाली आज के समान शासन सत्ता की इच्छा के अनुसार चलने वाली नहीं थी। आज पंचायत-समितियों का निर्माण मंत्रिमंडल करते हैं। उनके अधिकार एवं कर्तव्य क्या हों विधायक तथा सांसद निर्धारित करते हैं। उनकी छानबीन के लिए सरकारी अधिकारी नियुक्त किए जाते हैं। पंचों को हटाने तथा नियुक्त करने के लिए तिकड़म में लगाई जाती हैं। चुनाव में तो इनके स्वरूप को ही बिगाड़ दिया जाता है। ग्राम-पंचायतों का ऐसा स्वरूप प्राचीन काल में कभी नहीं था। उन्हें समाज में स्वायत्त एवं स्वयंभू घटकों का स्थान प्राप्त था। राजा उन्हें कोई आदेश नहीं दे सकता था। राजा की एक समिति होती थी और ग्राम-पंचायतों के प्रतिनिधि इस समिति में हुआ करते थे। इस प्रकार ग्राम-पंचायतों की सम्मति राजा को माननी पड़ती थी। राजा की समिति विधान बनाने के लिए नहीं केवल कार्य चलाने के लिए होती थी। ग्राम-पंचायत राजा की कृपा पर निर्भर नहीं होती थीं प्रत्युत राजा ही उनके आधार पर खड़ा होता था यहाँ सिद्धांत था- 'विशि राजा प्रतिष्ठतिः' अर्थात् प्रजा के आधार से राजा रहता है। विकेंद्रित राष्ट्रनिकूल जीवन शिक्षण-व्यवस्था के रूप में भी कैसे प्रतिष्ठति हो चुका था इसे स्पष्ट करते हुए दीनदयाल जी ने लिखा है- शैक्षणिक केंद्रों का प्रमुख कुलपति होता था। वह सबके भोजन आवास तथा शिक्षा का प्रबंध देखता था। राजा का काम केवल यही होता था कि इन शिक्षण-संस्थाओं को धन और साधन सामग्री दे। छात्र गाँव में जाकर भिक्षा ले आते थे। सभी गृहस्थ उन्हें भिक्षा देते थे। इन छात्रों को खाली हाथ लौटना न पड़े इसकी चिंता सभी लोग करते थे। इस प्रकार समाज और शासन से साधन जुटाकर कुलपति ज्ञानदान का कार्य चलाते थे। स्वयं राजा भी शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाए तब भी इस व्यवस्था में कोई अंतर नहीं आता था। प्रत्येक क्षेत्र के लिए क्षेत्रानुसार स्वतंत्र व्यवस्था हुआ करती थी। राजा उसमें कोई हस्तक्षेप नहीं करता था। ऐसा करना राजधर्म की परिधि में ही नहीं आता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दीनदयाल जी के विचार पूर्णतः भारतीय चिन्तन परम्परा के वाहक के रूप में हमारे सामने आते हैं। उन्होंने सिर्फ भारतीय चिंतन परम्परा का ही अध्ययन ही नहीं किया बल्कि दुनिया की लगभग सभी चिंतन प्रणालियों का विश्लेषण कर भारतीय राजनीति को एक नई दिशा दी। यही चिंतन आज भारतीय राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण बनता जा रहा है।

राष्ट्र के लिए ही राजनीति

हेगेल ने थीसिस, एंटी थीसिस और संश्लेषण के सिद्धांतों को आगे रखा, कार्ल मार्क्स ने इस सिद्धांत को एक आधार के रूप में इस्तेमाल किया और इतिहास और अर्थशास्त्र के अपने विश्लेषण को प्रस्तुत किया, डार्विन ने योग्यतम की उत्तरजीविता के सिद्धांत को जीवन का एकमात्र आधार माना; लेकिन हमने इस देश में सभी जीवों की मूलभूत एकात्म देखा है।

दीनदयाल जी का जिस समय भारतीय राजनीति में उद्भव हुआ उस समय भारतीय राजनीति कई विचारधाराओं में बंटी हुई थी. राजनीति का अर्थ केवल पार्टी राजनीति से था .राष्ट्र के लिए राजनीति का सर्वथा अभाव देखा जा रहा था ऐसे कठिन समय में दीनदयाल जी के विचारों ने भारतीय राजनीति को नयी दिशा देने का काम किया. दीनदयाल जी ने कहा कि “सामर्थ्य-निर्माण का मार्ग राष्ट्रीयता ही है। व्यक्तिवादी लोग संगठित -शक्ति खड़ी नहीं कर सकते। हमारे अंदर का सामूहिक भाव ही राष्ट्रीयता है। यही वह निष्कर्ष है जिस पर परखा जाएगा कि हमारी प्रत्येक कृति एवं व्यवस्था सही है अथवा गलत। लोकतंत्र में प्राप्त नागरिक अधिकारों का ही उदाहरण लें। नागरिकों को मताधिकार प्राप्त है। मतदान करते समय राष्ट्र का विचार मन में हो तो मतदान एक धर्म कहलाएगा किंतु व्यक्तिगत स्वार्थ से प्रेरित होकर मतदान किया गया तो वह अधर्म हो जाएगा। राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर ही किसी व्यवस्था को गलत सिद्ध किया जा सकता है। राष्ट्रीयता की हँसी उड़ाकर तथा राष्ट्र के विचार को तिलांजलि देकर जो

लोग भांति-भांति के वाद एवं नारे देने में ही व्यस्त रहते हैं वे वास्तव में गलती करते हैं। उनसे कोई अच्छा कार्य होने की संभावना कभी नहीं होती। समाजवाद, पूँजीवाद, लोकतंत्रवाद या अन्य कोई भी वाद अंततोगत्वा एक मार्ग ही होता है। वह प्रगति का आधार नहीं होता। व्यक्ति दल या वाद पर आधारित विचार के शिकार होकर प्रगति नहीं की जा सकती।

राजनीति भी अंततः राष्ट्र के लिए ही होती है। राष्ट्र का विचार त्याग दिया अर्थात् राष्ट्र की अस्मिता इतिहास संस्कृति एवं सभ्यता का विचार ही नहीं किया तो राजनीति किस काम की? राष्ट्र का स्मरण रखते हुए काम किया तो सभी का मूल्य बढ़ेगा। राष्ट्र विचार के बिना सारे शून्यता हो जाएँगे। राष्ट्र का विचार करते हुए पैर आगे बढ़ाएं तो एक और एक मिलाकर दो नहीं ग्यारह होते हैं। राष्ट्र विचार के आधार पर संगठित होने का प्रयास किया तो एक एक एक मिलकर एक सौ ग्यारह हो जाते हैं। राष्ट्रीयता का त्याग करने पर दशमलव अपूर्णक लागू हो जाता है। उसके बाद जितने भी एक जुटाएं उत्तरोत्तर उनके मूल्य घटते ही जाएँगे। राष्ट्र के आधार पर ही व्यक्ति का मूल्य बढ़ता है। राष्ट्र -विचार का त्याग करने से व्यक्ति का भी मूल्य घटता है और राष्ट्र का भी। कई बार हम देखते हैं कि राष्ट्र के लिए प्राण न्यौछावर करने की भाषा मनुष्य बोलता तो है किंतु जीवन के सारे काम व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए ही करता रहता है। इसमें न व्यक्ति का कल्याण है न समष्टि का हित। “

विश्वकल्याण का मार्ग दीनदयाल जी ने पाश्चात्य विचारों का विरोध करते हुए कहा कि पाश्चात्य विचारधारा वाला राष्ट्रवाद का उदय मानव के पारस्परिक समन्वय से नहीं प्रत्युत संघर्ष से हुआ है। उसने घृणा विद्वेष एवं विनाश को ही जन्म दिया है। किंतु भारत के राष्ट्रवाद का मूल्यांकन इसी आधार पर करना गलत होगा। भारत में राष्ट्र भावना का उदय स्वार्थ के लिए नहीं हुआ। भारतीय राष्ट्रवाद का विचार केवल सौ-दो सौ वर्ष पुराना नहीं है। वह हजारों वर्ष से चला आ रहा है। उसका आधार आपसी संघर्ष नहीं समन्वय है; परस्पर अनुकूल है। पाश्चात्यों की भांति भारत में राष्ट्रीयता एक विशाल 'प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी' नहीं है जिसमें प्रत्येक नागरिक एक अंशदाता के नाते अपने स्वार्थ के लिए ही कम्पनी से चिपका होता है। स्वार्थ के लिए तो डकैत भी एकत्रित होकर एक-दूसरे से 'ईमानदारी' का व्यवहार

करने लग जाते हैं। गिरहकट भी एकत्रित होकर आपस में आचरण के कुछ नियमों का पालन करते हैं। स्वार्थ के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करते हुए निर्मित होने वाली ऐसी संस्थाओं एवं संगठनों की प्रेरणा ही अपने में भिन्न होती है।

भारतवर्ष में ऐसा कभी नहीं हुआ। यहाँ तो मानव-कल्याण का एक व्यापक एवं उदार जीवन दर्शन साकार हुआ है। जीवन के इस समग्र चिंतन के कारण सबने सामूहिक जीवन को समान रूप में अनुभव किया। इसी आधार पर भारत में राष्ट्र जीवन का विकास हुआ। मानव जीवन के श्रेष्ठ सद्गुणों की आराधना करने का भाव कण-कण में झंकृत हो उठा। भारत के अंतरतम से शब्द निनादित हुए कि सृष्टि की प्रत्येक घटना में संघर्ष नहीं परस्पर पूरकता है। एक ही तत्त्व विविध रूपों में प्रकट हुआ है। इसलिए इन सारी विविधताओं में भी एक ही आत्मतत्त्व को देखने वाला श्रेष्ठ है वही आर्य है मानव कहलाने के लिए पात्र है। ऐसे उन्नत व्यक्तियों के निर्माण में सहायक होने वाली व्यवस्था एवं नियम ही धर्म है। भारत में स्वार्थ को नहीं समर्पण को मान्यता मिली है। प्रतिक्रियात्मक विचारों के बजाए भावात्मक एवं रचनात्मक विचार ही यहाँ हुआ है। परस्पर विरोध के बजाए परस्पर पूरकता का मंत्र ही यहाँ गूँजा है। क्षमा दया अहिंसा अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य की महिमा यहाँ गायी गई है। विभिन्न धारणाओं को मानव-विकास की सीढ़ियाँ मानकर यहाँ एक सूत्र में गूँथा गया है। नाना सम्प्रदायों का यहाँ समादर हुआ है। एक ही सत्य के रूपों उनके विभिन्न नामों एवं अंतिम एकमात्र सत्य तक पहुँचने की विभिन्न पद्धतियों को यहाँ स्वस्थ विकास के लिए न केवल अपरिहार्य, अपितु आवश्यक भी माना गया है। इसलिए केवल सहिष्णुता का ही नहीं अपितु एकात्मकता की आराधना का बोध यहाँ जागा। भारत का यह राष्ट्रवाद प्राणिमात्र के बारे में कल्याण की भावना लेकर प्रकट हुआ है।

इसलिए -पश्चिमी राष्ट्रवाद की भारत के राष्ट्रवाद के साथ तुलना करना ही अनुचित है। पश्चिम ने द्वैत के आधार पर संघर्ष के ढोल पीटे हैं तो भारत ने अद्वैत के आधार पर एकात्मता की मुरली बजायी है। हैं तो दोनों वाद्य ही किंतु दोनों की स्वरतरंगों में बहुत अंतर है। हमें इस अंतर को ध्यान में लेकर ही अपने राष्ट्र संगठन का विचार करना चाहिए । यूरोप के देशों में राष्ट्रवाद के कारण विनाश हो गया इसलिए भारत के राष्ट्रवाद को भी विनाशकारी

बता देना दूध के जले द्वारा छाछ भी फूँककर पीने के समान है। जिन राष्ट्रों ने मानवता के लिए संकट उत्पन्न किए अहित का काम किया उनकी भाति परिणाम हमारी राष्ट्रीयता के भी निकलेंगे यह निष्कर्ष गलत है। यह केवल नारा लगाने की बात नहीं। भारत की राष्ट्रीयता का हजारों वर्ष का इतिहास इसी सत्य को प्रकट करता है। विश्व के इन देशों ने विगत हजार-पाँच सौ वर्ष में जहाँ भीषण विनाश के ही दृश्य उपस्थित किए वहाँ अपने इतिहास में मानव-समाज को पीड़ा देने वाला पाप भारत द्वारा किए जाने की एक भी घटना किसी पृष्ठ में नहीं मिलेगी। भारत का जो भी इतिहास है, वह संपूर्ण विश्व का मंगल करने की कामना का ही रहा है। विश्व के विभिन्न राष्ट्रों में उपलब्ध भारतीय इतिहास के अवशेष आज भी यही कह रहे हैं कि भारत ने प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही प्रयास किए हैं। इसलिए परस्पर संघर्ष विद्वेष तथा विरोधात्मकता से विश्व को बचाना हो तो भारत के स्वस्थ राष्ट्रवाद को ही संगठित एवं सक्षम बनाकर करना होगा यही सत्य है और विश्वकल्याण का मार्ग भी। “दीनदयाल जी ने राष्ट्रवाद के विचार को भारतीय परिवेश के अनुसार बनाने की कोशिश की है। यही कारण है कि आज भी उनके विचार प्रत्येक राष्ट्रवादियों के लिए मार्गदर्शक के हमेशा उनके साथ रहते हैं।

दल मात्र एक टोली नहीं

बीज की एक इकाई विभिन्न रूपों में प्रकट होती है- जड़ें, तना, शाखाएं, पत्तियां, फूल और फल। इन सबके रंग और गुण अलग-अलग होते हैं। फिर भी बीज के द्वारा हम इन सबके एकत्व के रिश्ते को पहचान लेते हैं।

दीनदयाल जी एक राजनीतिक पार्टी के सक्रिय कार्यकर्ता ही नहीं थे बल्कि एक विचारक की भूमिका में अपना योगदान भी देते रहे हैं। यही कारण कि उन्होंने दलीय राजनीति की रूपरेखा भी भारतीय समाज के सामने राखी। उन्होंने राजनीतिक दलों से सीधे शब्दों में पूछा कि अच्छे दल की परिभाषा क्या होती है? दल का अर्थ केवल सत्ता प्राप्त करने के लिए एकत्रित टोली नहीं होता। वह तो विशिष्ट उद्देश्य के लिए स्थापित एक संस्था होती है। राजनीति सत्ता अपने में कोई लक्ष्य नहीं होती वह तो ऐसे दल के हाथ में उद्देश्यपूर्ति के लिए आया मात्र एक साधन होती है। दल के सभी स्तरों के कार्यकर्ताओं में इस उद्देश्य के प्रति अनन्य भक्ति का होना नितांत आवश्यक है। ऐसी भक्ति या श्रद्धा से ही अपने आपको समर्पित करने तथा अनुशासन में चलने की प्रेरणा प्राप्त होती है लगन उत्पन्न होती है।

अनुशासन का अर्थ 'यह करो वह मत करो' नहीं है। वह तो व्यावहारिक आदेशों में आता है। अनुशासन का बाह्य बंधन जितना कठोर, उतना ही दल का आंतरिक सामर्थ्य क्षीण रहता है। किसी समाज के लिए जैसा धर्म वैसा ही दल के लिए अनुशासन होता है। इस विवेचन में दीनदयाल जी ने बार-बार दल के उद्देश्य या ध्येय अथवा सिद्धांत का उल्लेख किया है। इसी उद्देश्य का वर्णन क्योंकि चुनाव घोषणापत्र में किया होता है उनका आग्रह था कि वह घोषणापत्र कार्यकर्ता की आँखों के सामने सदा ही रहना चाहिए

ताकि वह उसका चिंतन एवं मनन कर सके।

यह कहना कि घोषणापत्र तो सभी दलों के अच्छे ही होते हैं और कई बार तो एक से भी। किंतु ऐसा कहना वास्तविकता से परे है। होता यह है कि दल के कार्यकर्ताओं को ही नहीं लगता कि दल के सिद्धांतों की भांति हमारा घोषणापत्र भी विशिष्ट है। आज तो यही प्रथा रूढ़ सी हो चली है कि चुनाव-प्रचार के भाषण अपना पक्ष ठीक से समझाने की अपेक्षा प्रतिपक्ष की कसकर आलोचना करने के लिए ही होते हैं। ऐसे भाषणों का अधिकांश भाग इसलिए ऐसी आलोचना में ही नष्ट हो जाता है।

दीनदयाल जी अनेक प्रचार सभाओं में अपना घोषणापत्र समझाकर बताया करते थे। उनकी धारणा थी कि कल सत्ता में आने पर हमारा दल क्या-क्या करने वाला है जनता को भली-भांति ज्ञान होना चाहिए। काँग्रेस ने अपने घोषणापत्र के अनुसार अनेक विधान बताए किंतु कई बार देखा यह जाता था कि ये विधान कागज पर ही धरे रह जाते हैं क्योंकि वैचारिक दृष्टि से कार्यकर्ता घोषणापत्र को व्यवहार में लाने के लिए कृतसंकल्प होते ही नहीं थे। कल का समाजवादी आज काँग्रेस में आता है या मुस्लिम लीग के पूर्व सदस्य आज कांग्रेसी हो गए तो उन्हें काँग्रेस की रीति-नीतियों से क्या लेना-देना हो सकता है? वे तो काँग्रेस में इसलिए आए कि सत्ता के लिए प्रतिबद्ध थे।

लेकिन पंडित दीनदयाल जी को तो दल के कार्यकर्ताओं एवं राजनीति के माध्यम से देश में मन्वन्तर लाना था। इसलिए कार्यकर्ताओं के विचार सुनिश्चित एवं पक्के बनाने पर वे बल दिया करते थे। जनसंघ के घोषणापत्र में समान नागरिक-संहिता बनाने की दुहाई दी गई थी। दीनदयाल जी चाहते थे कि देश के नागरिकों में सम्प्रदाय के आधार पर कोई भेदभाव न किया जाए। काँग्रेस भी 'धर्मनिरपेक्षता' का दावा करती थी। किंतु दोनों में बड़ा अंतर यही था कि काँग्रेस की सारी राजनीति ने केवल साम्प्रदायिक बल्कि जाति तथा प्रांत भेदों पर भी आधारित थी।

समान नागरिक संहिता की दुहाई इस बात का प्रमाण थी कि देश के नागरिकों को कम-से-कम विधान के सामने तो हम समान मानते हैं। ऐसी संहिता किसी के धर्म में हस्तक्षेप भी नहीं थी। मजहब या सम्प्रदाय रिलीजन व्यक्ति के आचरण तक ही सीमित रहे और वह इतना अवश्य बताए कि कौन किस उपासना-पद्धति को स्वीकार करे कितने व्रत रखे या कितनी

बार हूँ नमाज अदा करें। किंतु समाज-जीवन को प्रभावित करने वाले सबके आचरण पर समान विधि (कानून) का समान बंधन रहना आवश्यक है फिर वह आचरण चाहे बहुपत्नीत्व विवाह-विच्छेद या प्रजोत्पत्ति से संबंधित ही क्यों न हो।

दूसरे-देश राष्ट्र तथा भूमि का विधान ही सबको एक सूत्र में बाँधकर रख सकता है। यह सूत्र एक ही और यहीं का होना चाहिए। वह मक्का-मदीना या रोम का नहीं चलेगा। घोषणापत्र की किसी बात का इतना गहन आयाम होता है। उसको ध्यान में लेकर घोषणापत्र का अध्ययन मनन और चिंतन करने पर ही आज के कार्यकर्ता या कल के शासक दल की नीति रीतियों पर आचरण करने-कराने वाले तैयार होंगे और तभी इस देश में स्थित्यंतरण आना प्रारंभ होगा। दीनदयाल जी प्रश्न का यह स्पष्ट उत्तर कार्यकर्ता को जब वह पहली सीढ़ी पर खड़ा हो तभी मिल जाता था और सत्ता से प्राप्त होने वाले लाभों से उसका मन प्रारंभ से ही अलिप्त रहता था। देश की हजार वर्ष की दासता परावलंबन दरिद्रता अवमान विघटन और सामाजिक अन्याय का सारा इतिहास ही बदलने के लिए उद्यत नेता को कितनी वैचारिक तथा व्यावहारिक तैयारियाँ करनी पड़ती हैं इसका प्रात्यक्षिक था दीनदयाल जी द्वारा विचारपूर्वक चलाया गया दल का कार्य। इस अर्थ में उनका दलगत कार्य राष्ट्र कार्य ही था। उनकी राजनीति सभी अर्थ में राष्ट्र नीति थी।

चुनाव में जनसंघ ने सदैव अधिकतम स्थानों पर प्रत्याशी खड़े किये। प्रारंभ में सब से अधिक जमानतें जब्त कराने वाला दल कहकर उसकी खिल्ली उड़ाई जाती थी। इस पर भी दीनदयाल जी अधिकतम स्थान लड़वाने के प्रति बहुत दक्ष रहते थे। उनका कहना था कि इस बहाने दल की रीतिनीतियों को लोगों में प्रचारित करने का अवसर कार्यकर्ताओं को मिलता है। एक विचार को जब दोहराया जाता है तो कम से कम कहने वाले के मन में तो वह पक्का हो ही जाता है।

दीनदयाल जी ने इस विषय पर कहा था—“चुनाव में स्थानों एवं मतों-दोनों का महत्व होता है। इसलिए अधिकतम स्थानों पर लड़ने का विचार मेरी दृष्टि से उचित ही है। चुनाव में हारने पर भी प्राप्त मतों का आगामी चुनाव की दृष्टि से पर्याप्त उपयोग रहता है। साथ ही मतदाताओं पर अपनी इच्छा के विरुद्ध अन्य प्रत्याशियों को मत देने के लिए प्रवृत्त होने की बाध्यता नहीं आती। अतः कुछ स्थान छोड़ने की सोचना गलत है। हमारे

कार्य- क्षेत्र के समूचे भाग में हमारा काम होना चाहिए। वैसा न करना ही हानिकारक है।

कोई भी दल राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों को लेकर आंदोलन करने से दूर रह ही नहीं सकता। किंतु मेरे विचार में स्थानीय प्रश्नों पर अधिक ध्यान और बल देने की आवश्यकता है। फिर भी दुर्भाग्य की बात यह है कि राष्ट्रीय प्रश्न को लेकर प्रारंभ होने वाला प्रत्येक आंदोलन सरकार और जनता के बीच प्रत्यक्ष संघर्ष में बदल जाता है। जनता के मत और भावना को ध्यान में लेकर तदनुसार व्यवहार करने के स्थान पर शासन आंदोलन और जनता का दमन करने का प्रयास करता है। सरकार सोचती है कि आंदोलन को कुचल देने में ही उसकी प्रतिभा है। सरकार के विरुद्ध अनाक्रमण बढ़ता है। सरकार के विरुद्ध उत्पन्न इस असंतोष का शायद विरोधी दलों को तात्कालिक लाभ मिलता है, किंतु देश के राजनीतिक जीवन पर उसका घातक एवं विपरीत प्रभाव होता है।

फिर कुछ ऐसे दल भी हैं, जो केवल अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए किसी-न-किसी बहाने सदैव सत्याग्रह जैसे आंदोलन छेड़ते रहते हैं। उनके कारण लोग और भी अनुत्तरदायी बन जाते हैं और फिर शासन भी अधिकाधिक अविवेकी व्यवहार करने पर उतर जाता है। “इस सड़के में उन्होंने उस समय चल रहे संयुक्त महाराष्ट्र आंदोलन एवं सरकार की उसके बारे में नीति का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा-“मुम्बई प्रांत का विभाजन करने के प्रश्न पर संसद में गृहमंत्री पं. पंत द्वारा दिया गया वक्तव्य बताता है कि उनकी बुद्धि किस दिशा में काम करती है। लगता है, जनता की भावनाओं को ठुकराने का उन्होंने निश्चय ही कर लिया है। जनता के विरोध को कुचल डालने की मानो उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली है। इस प्रकार जनता और सरकार के बीच मानो संघर्ष छिड़ गया है। जनता के विरोध को दबा लेने के लिए सरकार जब हिंसा का दमन चक्र बनाती है, तो जनता भी फिर हिंसाचार करने पर उतारू हो जाती है। “

दीनदयाल जी का मानना था कि प्रत्येक राजनीतिक दल को चुनाव अवश्य लड़ना चाहिए। जैसे हर परीक्षा में एक प्रश्न अनिवार्य हुआ करता है। शेष प्रश्नों के लिए विकल्प दिए होते हैं। राजनीतिक दलों की बात भी कुछ ऐसी ही है। उनकी परीक्षा में चुनाव एक अनिवार्य प्रश्न होता है।

दीनदयाल जी ने कहा कि “चुनाव के समय लोग बात समझ लेने की मानसिकता में रहते हैं। विभिन्न दलों के विचार सुनने तथा उनको तुलनात्मक

दृष्टि से परखने का अवसर लोगों को मिलता है। हमें इसका लाभ अवश्य लेना चाहिए। चुनाव के बहाने दल के संसाधनों को भली-भांति जुटाया जाता है। कार्यकर्ताओं की संख्या भी बढ़ाई जा सकती है। चुनाव में हार भी जाएँ तब भी दल का संगठन आगे बढ़ता ही है।”

स्वतंत्र दल गैर-वामपंथी ही नहीं, दक्षिणपंथी दल था। भारतीय जनसंघ की गैर-समाजवादी दल के रूप में छवि तथा एक वरिष्ठ कार्यकर्ता बलराज मधोक के कारण स्वतंत्र पार्टी व जनसंघ के विलय की चर्चाएँ चलीं, चुनावी गठबंधन भी हुए। एकता की बातें जनसंघ के पंजाब प्रादेशिक अधिवेशन में स्वयं स्वतंत्र पार्टी के नेताओं ने आकर बहुत उत्साह से की। राजनीतिक शक्ति के उद्भव, कांग्रेस का विकल्प बनने की लालसा सभी कुछ प्रकट हुई; किंतु वार्ता के दौरान उपाध्याय ने कहा- “हम जानते हैं कि जनसंघ के अस्तित्व में रहने के बावजूद स्वतंत्र पार्टी का गठन किया गया तब से उस पार्टी ने अपना स्वतः का विशिष्ट व्यक्तित्व विकसित कर लिया। स्पष्ट है दोनों पार्टियों के बीच एकता केवल तभी हो सकती है जब स्वतंत्र पार्टी के नेता पहले इस बात पर विचार करें और निर्णय करें कि क्या जिस कारण उन्हें अलग पार्टी बनाने की प्रेरणा मिली वे कारण उचित थे और क्या वे कारण अब भी बने हुए हैं? यदि इनका उत्तर ‘हाँ’ में है तब एकता के सारे प्रस्तावों का उत्तर अनिवार्य रूप से ‘ना’ है।” स्वतंत्र पार्टी के महामंत्री मीनू मसानी ने वक्तव्य दिया कि वे जनसंघ की कश्मीर नीति से सहमत नहीं हैं। उनके विचार से पाकिस्तान से इस संदर्भ में वार्ता आवश्यक थी तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की मध्यस्थता के भी वे हिमायती हैं।

दीनदयाल उपाध्याय इससे सहमत नहीं थे। उन्होंने जनसंघ व स्वतंत्र पार्टी का गठबंधन तोड़ दिया और कहा- “मैं मसानी को धन्यवाद देता हूँ कि उन्होंने अपना मंतव्य इतने स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया। उनकी इस घोषणा ने हमें चुनाव संबंधी उस समझौते के बंधन से मुक्त कर दिया है जो स्वतंत्र दल के नेताओं की पाक व कश्मीर नीति के कारण हमारे लिए परेशानी का कारण बन गया था। स्वाभाविक है कि जनसंघ किसी भी ऐसे दल से कोई समझौता न करे जो देश के किसी भूभाग को आक्रमणकारी के हाथ सौंपने का विचार रखता है। ...अच्छाई-बुराई के लिए हमें श्री मसानी के उपदेशों की आवश्यकता नहीं है। देश की एकता और अखंडता का प्रश्न हमारी श्रद्धा का विषय है और उसकी प्राप्ति के लिए हम कोई भी कसर उठा नहीं रखेंगे।

राजनीतिक आन्दोलन और दीनदयाल

धर्म के मौलिक सिद्धांत अनन्त और सार्वभौमिक हैं। हालांकि, उनके कार्यान्वयन का समय और स्थान परिस्थितियों के अनुसार भिन्न हो सकती है।

दीनदयाल जी एक सामाजिक कार्यकर्ता थे। उन्होंने संगठनों को उन्होंने साधन माना, साध्य नहीं; लेकिन साधनों की सुदौलता के बारे में वे बहुत सावधान थे। अतः जब उन्होंने अपने साध्य को प्राप्त करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा जनसंघ को साधन के नाते चुन लिया तो फिर संघ तथा जनसंघ के संगठन को साध्य के अनुकूल साधन बनाने के निमित्त ही उन्होंने आजीवन साधना की। साधनों के बारे में गंभीरता से ध्यान न देने के कारण अनेक सामाजिक व राजनीतिक कार्यकर्ताओं का जीवन ऐसा बन जाता है कि वे साध्य के आग्रही उपासक होने के नशे में संगठन या साधनभूत सामाजिक संस्थाओं को साध्य प्राप्ति के लिए अयोग्य घोषित कर नित्य संस्थाएँ तथा मंच बदलते रहते हैं।

दीनदयाल उपाध्याय अपने साधनभूत संगठनों, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा जनसंघ, के एकनिष्ठ साधक थे। सांगठनिक अभिनिवेश तथा दलवाद के विरोधी होते हुए भी वे संगठन को व्यावहारिक क्रिया का अनिवार्य साधन मानते थे। जीवन भर उन्होंने विभिन्न संस्थाओं व व्यक्तियों को ध्येयवादी बनाते हुए जनसंघ तथा संघ से जोड़ने का प्रयत्न किया। इस प्रयास के फलस्वरूप एक ऐसा समीकरण बन गया कि व्यक्ति दीनदयाल, संगठन राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ तथा जनसंघ एवं राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का साध्य एकाकार हो गए। इन्हीं संगठनों के माध्यम से उन्होंने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में अपना योगदान दिया। भारतीय राजनीतिक क्षितिज पर जनसंघ के उदय

के कुछ मूलभूत कारण थे। देश की भौगोलिक अखंडता तथा सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की दृष्टि से उसकी धारणा अन्य दलों से भिन्न थी। अतः जनसंघ ने अपनी स्थापना के प्रथम दिन से ही अखंड भारत को अपना प्रिय उद्घोष बनाया था। वैसे तो संप्रदाय के आधार पर द्विराष्ट्रवाद तथा भारत के विभाजन को किसी ने भी स्वीकारा नहीं था; लेकिन सिद्धांततः न स्वीकारते हुए भी व्यवहार में भारत-विभाजन को न टाला जा सकने वाला तथ्य मानकर अंग्रेजों द्वारा प्रस्तुत, मुसलिम लीग के नेतृत्व में पाकिस्तान राज्य के निर्माण के प्रस्ताव को सभी ने स्वीकार कर लिया था। जनसंघ ने इसको स्वीकार नहीं किया। आजाद हिंदुस्तान में अखंड भारत की आवाज बुलंद करने वाला एकमात्र स्वर दीनदयाल उपाध्याय उसके व्याख्याता थे।

अखंड भारत

दीनदयाल उपाध्याय जी ने बहुत से सामाजिक एवं राजनीतिक आन्दोलन चलाये उन्हीं में से एक है उनका साहित्यिक आन्दोलन. दीनदयाल जी के अनुसार 'अखंड भारत' देश की भौगोलिक एकता का ही परिचायक नहीं अपितु जीवन के भारतीय दृष्टिकोण का द्योतक है जो अनेकता में एकता का दर्शन करता है। अतः हमारे लिए अखंड भारत कोई राजनीतिक नारा नहीं है। बल्कि यह तो हमारे संपूर्ण जीवन दर्शन का मूलाधार है।

अखंड भारत की अवधारणा से संबंधित ऐतिहासिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के विष्टलेषणार्थ उपाध्याय ने 'अखंड भारत क्यों?' नाम की पुस्तिका लिखी, जिसमें उन्होंने प्राचीन भारतीय साहित्य को संदर्भित करते हुए भारत में युगों से चली आई उस सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परंपरा का उल्लेख किया है जो भौगोलिक भारत को एक एकात्म राष्ट्र के रूप में विकसित करने में समर्थ हुई थी। इस पुस्तिका की सामग्री जहाँ तथ्यान्वेषी है, वहीं भाषा बहुत भावप्रवण है, दिल्ली में हमारे नेता कुमकुम तिलक लगा रहे थे जबकि पंजाब में हमारी माताओं और बहनों की माँग का सिंदूर पोंछ रहा था। 'वंदेमातरम्' का जयघोष करके हम माता के वे हाथ काट चुके थे जिनसे वह हमें आशीर्वाद देती। दिल्ली के लाल किले पर तिरंगा फहरा कर स्वतंत्रता की घोषणा की गई किंतु रावी के जिस तट पर स्वतंत्रता की प्रतिज्ञा दोहराई गई थी वह हमसे छिन चुका था।

दीनदयाल जी ने लिखा कि मुसलिम पृथक्त्व की नीति, अंग्रेजों की

‘फूट डालो व राज करो’ की नीति, कांग्रेस की राष्ट्रीयता की विकृत धारणा व तुष्टीकरण की नीति को जिम्मेदार मानते हैं। सर सैयद अहमद के उस भाषण का सुविस्तृत वर्णन किया है। यह भाषण मुसलिम पृथकतावाद का प्रथम प्रकटीकरण था, जो अलीगढ़ मुसलिम यूनिवर्सिटी, मुसलिम लीग और अंततः ४ पाकिस्तान की माँग के रूप में विकसित हुआ।

कांग्रेस की हिंदू-मुसलिम नीति को तथा मिश्रित संस्कृति के सिद्धांत को परोक्षतः द्विराष्ट्रीयतावादी बताते हुए उपाध्याय निरूपित करते हैं कि मुसलिमों की अलग संस्कृति तथा इस संस्कृति के पोषण के विचार ने तुष्टीकरण को जन्म दिया, राष्ट्रीयता की अवधारणा को विकृत किया, खिलाफत आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन करार देकर हमने अपनी राष्ट्रीयता को ही कलंकित नहीं किया, बल्कि मुसलमानों के मन में यह धारणा भी उत्पन्न कर दी कि उन्हें राष्ट्रीय बनने के लिए इस्लाम के नाम पर प्रचलित प्रवृत्तियों को छोड़ने की जरूरत नहीं है, बल्कि उन पर आग्रह किया तो वे ही भारत की राष्ट्रीयता की अंग बन सकती हैं, फलतः 1923 में काकीनाडा कांग्रेस के अध्यक्ष मोहम्मद अली ने ‘वंदेमातरम्’ का विरोध किया।

कांग्रेस की इस प्रवृत्ति ने आम मुसलिम समाज को पृथकतावादी मुसलिम नेतृत्व के पीछे खड़ा कर दिया: सन् 1935-36 के चुनावों में यद्यपि मुसलिम लीग को अधिक सफलता नहीं मिली थी, किंतु कांग्रेस सरकार की मुसलिम तुष्टीकरण की नीति का लाभ उठाकर मुसलमानों ने अपना संगठन खूब बढ़ाया। जिन्ना ने कांग्रेस से समझौता करने के लिए पहले 14 सूत्रीय तथा फिर 21 सूत्रीय कार्यक्रम रखा; किंतु समझौता नहीं हुआ। कारण, वे समझौता चाहते नहीं थे। कांग्रेस मंत्रिमंडलों के पदत्याग पर लीग ने ‘मुक्ति-दिवस’ मनाया तथा लाहौर में सन् 1940 में ‘पाकिस्तान’ को अपना ध्येय घोषित किया।

दीनदयाल उपाध्याय यह नहीं मानते कि विभाजन स्वीकार न करने पर भारत आजाद नहीं होता तथा भयानक खून-खराबा होता। उनकी मान्यता है कि “कांग्रेस के नेता यदि डटे रहते तथा भारत की जनजाग्रति की मदद करते तो अंग्रेज अखंड भारत को छोड़कर जाते और सत्ता कांग्रेस के ही हाथ में सौंपकर जाते।” रक्तपात के विषय में उनका मत है- “भारत विभाजन के पूर्व और पश्चात् के नरमेध में जितनी बलि चढ़ी है उतनी दोनों पिछले

महायुद्धों में भी नहीं चढ़ी, फिर लूट, अपहरण और हत्याकांड में मानव का जो जघन्यतम पशुभाव प्रकट हुआ, वह तो युद्ध में कहीं नहीं हुआ।”

दीनदयाल जी ने आगे लिखा कि विभाजन से हमारी किसी भी समस्या का समाधान नहीं हुआ; बल्कि समस्याएँ और जटिल हुईं। भारत की अंतर्राष्ट्रीय शक्ति को न्यून करने में भी पाकिस्तान से हमारा झगड़ा बहुत बड़ी भूमिका अदा कर रहा है। हिंदू-मुसलिम समस्या ज्यों-की-त्यों है। भारत के राजनीतिक दल उसी मिश्रित संस्कृति और राष्ट्रियता की अवधारणा को अब भी अपना आधार बनाए हुए है। परिणामतः मुसलिम पृथकतावाद आजाद भारत में भी बल ग्रहण कर रहा है तथा उनकी यह अवधारणा पाकिस्तान के अस्तित्व को तार्किक आधार प्रदान करती है। समाधान की दृष्टि से अपनी पुस्तिका के अंत में उपाध्याय कहते हैं, “वास्तव में भारत को अखंड करने का मार्ग युद्ध नहीं है। युद्ध से भौगोलिक एकता हो सकती है, राष्ट्रीय एकता नहीं। अखंडता भौगोलिक ही नहीं, राष्ट्रीय आदर्श भी है। देश का विभाजन दो राष्ट्रों के सिद्धांत तथा उसके साथ समझौते की प्रवृत्ति से हुआ। अखंड भारत एक राष्ट्र के सिद्धांत पर मन-वचन एवं कर्म से डटे रहने पर सिद्ध होगा। जो मुसलमान आज राष्ट्रीय दृष्टि से पिछड़े हुए हैं वे भी आपके सहयोगी बन सकेंगे, राजनीतिक सक्रियता यदि हम राष्ट्रीयता के साथ समझौते की वृत्ति त्याग दें। आज की परिस्थिति में जो असंभव लगता है वह कालांतर में संभव हो सकता है; किंतु आवश्यकता है कि आदर्श हमारे सम्मुख सदा ही जीवित रहे।

दीनदयाल जी एक अन्य लेख में लिखते हैं कि एक अन्य लेख में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं, “यदि हम एकता चाहते हैं तो भारतीय राष्ट्रीयता, जो कि हिंदू राष्ट्रीयता है तथा भारतीय संस्कृति, जो कि हिंदू संस्कृति है, उसका दर्शन करें, उसे मानदंड मानकर चलें। भागीरथी की इस पुण्यधारा में सभी प्रवाहों का संगम होने दें। यमुना भी मिलेगी और अपनी सभी कालिमा खोकर गंगा की धवल धारा में एकरूप हो जाएगी।”

अखंड भारत की जिस सैद्धांतिक पृष्ठभूमि में जनसंघ का जन्म हुआ था उसके कारण जनसंघ की आवाज पहले दिन से ही राष्ट्रीय अखंडता एवं पाकिस्तान-विरोध के मुद्दों को मुखरित करने वाली सिद्ध हुई। आंतरिक मुद्दों में भी जितनी भावात्मकता के साथ जनसंघ ने प्रांतीय, जातीय व भाषिक

पृथकतावादों का प्रतिकार किया है उतना अन्य किसी ने नहीं। कोई भी पृथकतावाद किसी समाज की आंतरिक परिस्थितियों में से ही पैदा होता है। इन परिस्थितियों से जनसंघ के लोग सामान्यतः अपने को नहीं जोड़ सके। अतः राष्ट्रवाद के उत्साह में जनसंघ ने उन सभी समुदायों को अपना विरोधी बनाया जो भारतीय परिस्थिति में अपने को किसी-न-किसी कारण से आहत महसूस करते थे अथवा राष्ट्रीयता के अलावा अपनी सामुदायिक पहचान के प्रति आग्रही थे। जनसंघ के इस राष्ट्रवादी आग्रह के पुरोधा दीनदयाल उपाध्याय ही थे। उन्होंने ही एक ऐसा राजनीतिक दल विकसित किया जो सामुदायिक व भौतिक स्वार्थ के आधार पर संगठित अन्य राजनीतिक दलों की तुलना में राष्ट्रीय एकता व अखंडता के मुद्दों को न केवल आंदोलन के विषय बना सका वरन् लोगों को इन मुद्दों पर संगठित कर बलिदान के लिए भी तैयार कर सका।

कश्मीर-आंदोलन

दीनदयाल जी द्वारा कश्मीर-आंदोलन में प्रसिद्ध तीन नारे दिए थे, एक देश में दो विधान-नहीं चलेंगे।

उन्होंने कश्मीर आंदोलन के लिए देश भर से सत्याग्रही जुटाने व संगठन को निमित्त सक्रिय करने में अपनी भूमिका निभाई। कश्मीर प्रसंग पर अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए उन्होंने पांचजन्य के कश्मीर अंक में एक लंबा लेख लिखा। दीनदयाल उपाध्याय आजादी व विभाजन के तुरंत पश्चात कश्मीर पर किए गए पाकिस्तानी आक्रमण के प्रति भारत सरकार की ढिलाई, कश्मीर प्रसंग पर संयुक्त राष्ट्रसंघ को पंच बनाना, कश्मीर के भविष्य के लिए जनमत-संग्रह की बात करना तथा उसे संविधान में अनुच्छेद 370 के माध्यम से विशेष दर्जा देना आदि इन विषयों में की गई व्यावहारिक व सैद्धांतिक भूलों की सविस्तार चर्चा करते हुए लिखते हैं— “कश्मीर पर भारत की स्वाभाविक प्रभुता के अतिरिक्त वहाँ के महाराजा हरिसिंह ने भी विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिए। फलतः सभी दृष्टि से वह भारत का अभिन्न अंग बन गया। अतः कश्मीर में होने वाला आक्रमण भारत पर आक्रमण था। भूल यह रही कि हमने पाकिस्तानी आक्रमण को कश्मीर पर ही आक्रमण माना, भारत पर नहीं।” कश्मीर पर भारत की स्वाभाविक प्रभुता को सिद्ध करने के लिए कश्मीर के सांस्कृतिक इतिहास

एवं भारतीय संस्कृति से उसकी ऐतिहासिक संबद्धता का वे बहुत मनोरम ढंग से वर्णन करते हैं। आज पाकिस्तान कश्मीर पर क्यों दावा कर रहा है तथा भारत को वह दावा क्यों नहीं स्वीकारना चाहिए? इसका वर्णन करते हुए उपाध्याय तर्क देते हैं- “पाकिस्तान के निर्माता इस्लाम को राष्ट्रीयता का आधार मानकर चले हैं। इसी आधार पर वे मुसलिम बहुल कश्मीर पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानते हैं। जिस दिन वे अपना अधिकार छोड़ देंगे, उनकी नींव खिसक जाएगी। किंतु भारत द्वि-राष्ट्रवाद के सिद्धांत को न तो आज मानता है तथा न उसने कभी माना था। भारत का विभाजन यदि द्वि-राष्ट्रवाद के आधार पर होता तो फिर यहाँ एक भी मुसलमान नहीं रह पाता। यदि आज कश्मीर पर केवल इस कारण पाकिस्तान का अधिकार स्वीकार कर ले कि वहाँ मुसलमानों का बहुमत है तो हम अपनी एक राष्ट्रीयता की नींव पर कुठाराघात करेंगे। हमारे द्वारा जनता की राय जानने की घोषणा करना सैद्धांतिक दृष्टि से गलत था। दुर्भाग्यवश पाकिस्तान आज उसी को पकड़े बैठा है।”

दीनदयाल जी ने कहा कि भारत ने एकसंघीय संविधान स्वीकार किया है। अतः राज्यों को कुछ ‘स्वायत्त अधिकार’ हैं; किंतु कश्मीर को अलग संविधान की सुविधा का आधार प्रांतीय स्वायत्तता नहीं, वरन् पृथकतावाद है। कश्मीर का प्रस्तावित संविधान किस तरह भारत के संवैधानिक प्रभुता के प्रतिकूल है इसका बहुत विस्तृत वर्णन उपाध्याय अपने इस लेख में एक-एक अनुच्छेद का विश्लेषण करते हुए करते हैं। अपने इस लेख के अंत में वे लिखते हैं, आज कश्मीर कसौटी बन गया है भारत की पंथनिरपेक्ष राष्ट्रीयता की, नेशनल कांग्रेस के नेताओं की राष्ट्र-निष्ठ की और संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यायप्रियता की। राजनीतिक सक्रियता, संयुक्त राष्ट्रसंघ से तो आज तक भारत को न्याय प्राप्त हुआ नहीं। जवाहरलाल नेहरू ने भी अपने युद्ध-विरोधी अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण के कारण, पाकिस्तान ने जो कश्मीर का हिस्सा सन् 1947 में ही आक्रमण करके दबा लिया था, जो ‘आजाद कश्मीर’ के नाम से पुकारा जाता है, को पुनः प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। वरन् उन्होंने प्रयत्न किया कि झगड़े को समाप्त करने के लिए युद्धविराम रेखा पर कश्मीर का विभाजन स्वीकार करते हुए पाकिस्तान से कोई समझौता हो जाए जिसमें सफलता नहीं मिली। इस बात की जब नेहरू ने देश को जानकारी दी तब

उपाध्याय ने जनसंघ-महामंत्री के नाते पत्रकार-सम्मेलन आयोजित कर कड़ी प्रतिक्रिया की प्रधानमंत्री द्वारा किए गए इस रहस्योद्घाटन के कारण कि उन्होंने एक बार युद्धविराम रेखा पर जम्मू-कश्मीर राज्य का विभाजन स्वीकार करने का प्रस्ताव पाकिस्तान के साथ किया था, तीव्र वेदना हुई। उक्त प्रस्ताव न केवल देश-भक्ति शून्य है, वरन् कूटनीति के विरुद्ध भी है।

नेहरू की उदारता के कारण भारत के राष्ट्रीय हितों की कई बार उपेक्षा के जो प्रसंग आए उनमें कश्मीर का प्रसंग भारत के लिए नितांत दुखदायी रहा। भारतीय जनसंघ ने आंदोलनात्मक दबाव डालकर राष्ट्रीय हित में कश्मीर-नीति को नियोजित करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अंतर्राष्ट्रीय कूटनीति तथा आंतरिक पृथकतावाद के विषय में जनजागरण करने में उपाध्याय का महती योगदान रहा।

गोआ-मुक्ति आंदोलन

दीनदयाल जी राष्ट्र निर्माण में लगने वाले व्यक्ति थे इसीलिए उन्होंने अपने समय में गोवा मुक्ति आन्दोलन भी चलाया था. उन्होंने कहा कि यह अपने आप में आश्चर्य की बात है कि संसार भर में उपनिवेशवाद का विरोध करने वाली भारत सरकार पर, स्वयं भारत की धरती पर स्थापित पांडिचेरी तथा गोआ- दमन-दीव पर फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली उपनिवेशवाद के खिलाफ, कार्यवाही करने के लिए दबाव डालना पड़ा।

सन् 1952 के प्रथम कानपुर अधिवेशन में ही दीनदयाल उपाध्याय ने इन बस्तियों को मुक्त करवाने का प्रस्ताव रखा था। इस संदर्भ में 2 मई, 1954 को भारतीय जनसंघ ने देश भर में इस विदेशी उपनिवेशवाद के खिलाफ जनजागरण करने व नेहरू पर दबाव डालने के लिए 'विलय दिवस' का आयोजन किया था। इसी संदर्भ में इंदौर से वक्तव्य जारी करते हुए उपाध्याय ने कहा- "भारत में फ्रांसीसी बस्तियों के निवासियों ने साम्राज्यवादी जाति से मुक्त होने के लिए एक शांतिपूर्ण संघर्ष प्रारंभ कर दिया है। भारत सरकार को 'ठहरो व देखो' की नीति छोड़कर भारत के विरुद्ध इन बर्बरताओं का अंत करने के लिए एक शक्तिशाली कदम उठाना चाहिए। तत्काल पुलिस कार्यवाही करने की आवश्यकता है।" 9 से 16 दिसंबर, 1954 को भारतीय जनसंघ ने 'गोआ-मुक्ति' सप्ताह का आयोजन किया तथा 15 अप्रैल, 1955 को केंद्रीय कार्यकारी समिति ने भारत सरकार से

गोआ-मुक्ति के लिए पुलिस कार्यवाही की माँग करते हुए 'गोआ-मुक्ति समिति' का निर्माण किया। देश भर में जनसंघ ने गोआ को पुर्तगाली सालाजार शासन से मुक्त करवाने के लिए व्यापक लोक-जागरण अभियान छेड़ा। 21 जून, 1955 को डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी के बलिदान-दिवस के अवसर पर गोआ में जाकर सत्याग्रह करने का निश्चय किया। तदनुसार भारतीय जनसंघ के सचिव जगन्नाथराव जोशी के नेतृत्व में एक सौ एक सत्याग्रहियों ने गोआ में प्रवेश किया। अन्य दलों, विशेषकर समाजवादी दल ने भी, इस सत्याग्रह में भाग लिया; लेकिन कांग्रेस निष्क्रिय बनी रही। उपाध्याय ने पाव्वजन्य के अपने प्रसिद्ध 'विचार-वीथी' स्तंभ में 'गोआ सत्याग्रह और कांग्रेस' शीर्षक से निबंध लिखा।

“गोआ-मुक्ति आंदोलन गति पकड़ता जा रहा है। भारत के सभी दल सत्याग्रही जत्थे भेज रहे हैं। कांग्रेस ने अभी तय किया है कि वह इस आंदोलन से अलग रहे। इतना ही नहीं, कांग्रेस ने व्यक्तिगत रूप से भी सत्याग्रह में भाग लेने की पाबंदी लगा दी है। अपनी इस नीति के समर्थन में जो-जो भी तर्क दिए गए हैं उन सबका आधार गोआवासियों को भारतवासियों से अलग मानना है। यह आंदोलन भारत का है। कांग्रेस की दृष्टि में गोआ-मुक्ति का आंदोलन उसी स्तर पर है जिस स्तर पर अल्जीरिया और ट्यूनीशिया के मुक्ति आंदोलनों को वह केवल नैतिक समर्थन देकर चुप बैठ जाती है। वास्तविकता यह है कि गोआ-मुक्ति भारत की आजादी को पूरा करने के लिए आवश्यक है।”

सत्याग्रहियों पर गोआ में अमानुषिक अत्याचार हुए। सत्याग्रह बल पकड़ता गया। 15 अगस्त, 1955 को सत्याग्रहियों पर निर्मम गोलीकांड हुआ। भारत सरकार ने सत्याग्रहियों के गोआ प्रवेश पर रोक लगा दी। फिर भी सत्याग्रह जारी रहा।

इसी दौरान बांडुंग में एशियाई देशों का सम्मेलन हुआ। कांग्रेस ने बांडुंग राष्ट्रों से गोआ में चल रहे मुक्ति आंदोलन को समर्थन देने का अनुरोध किया; जबकि बांडुंग सम्मेलन के लिए प्रस्थान करने के पूर्व दीनदयाल उपाध्याय ने पं. नेहरू से बांडुंग में गोआ का प्रश्न उठाने की माँग की थी, जिसको नेहरू ने ठुकरा दिया था। यह एक अजीब स्थिति थी कि प्रधानमंत्री व भारत के प्रतिनिधि के नाते जवाहरलाल नेहरू वहाँ यह सवाल नहीं

उठाना चाहते थे लेकिन दलीय स्तर पर प्रस्ताव पारित कर कांग्रेस ने बांडुंग सम्मेलन में आए राष्ट्रों से समर्थन का अनुरोध किया। दीनदयाल ने लिखा, “कांग्रेस कमेटी में इतना साहस होना चाहिए कि वह प्रधानमंत्री को उनकी इस अवहेलना के लिए फटकारती।”

गोआ में मुक्ति आंदोलनों के खिलाफ अमेरिका व ब्रिटेन ने पुर्तगीजों का समर्थन किया; लेकिन भारत में छिड़े सत्याग्रह के कारण स्थिति में परिवर्तन आया।

इस प्रसंग पर अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का विश्लेषण उपाध्याय ने इस प्रकार किया ‘विदेशों में सत्याग्रह की प्रतिक्रिया हुई। विश्व की दृष्टि गोआ की ओर खिंच गई। अमेरिका और ब्रिटेन के अखबारों ने पुर्तगाली बर्बरता और हिंसा पर लीपापोती करके भारत को दोष देने का प्रयत्न किया। कुछ लोगों के अनुसार ब्रिटिश मंत्रिमंडल गोआ के प्रश्न को अब अधिक लंबा नहीं होने देना चाहता था। उसके कुछ सदस्य इस बात से भयभीत हैं कि गोआ के कारण भारत में धीरे-धीरे जनतंत्रवादी देशों के प्रति अमैत्रीपूर्ण भाव बल पकड़ता जा रहा है जिसका लाभ रूस को छोड़कर और किसी को नहीं होगा। साथ ही यदि गोआ में आंदोलन जोर पकड़ता गया तो साइप्रस, माल्टा और जिब्राल्टर में भी उसकी प्रतिक्रिया होगी तथा वहाँ से ब्रिटेन को भागना पड़ेगा।

इस प्रकार गोआ में पुलिस कार्यवाही के लिए सरकार को बाध्य करने तथा भारत की आजादी को पूर्ण करवाने के लिए भारतीय जनसंघ व दीनदयाल उपाध्याय सत्याग्रहपूर्वक सक्रिय रहे और भारतभूमि से उपनिवेशवाद के ये चिह्न समाप्त हो सके।

बेरूबाड़ी जन अभियान

दीनदयाल जी ने जनता को साथ लेकर एक बेहतरीन आन्दोलन चलाया था। पश्चिम बंगाल, असम तथा त्रिपुरा के साथ लगती भारतीय सीमा के अंकन के विषय में भारत के प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू एवं पाकिस्तान के प्रधानमंत्री सर फीरोज ख़ाँ नून के मध्य एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार जलपाईगुड़ी जिले के बेरूबाड़ी यूनियन क्षेत्र को पाकिस्तान को सौंपना भारत ने स्वीकार कर लिया। सन् 1958 में पाकिस्तान कई महीने तक लगातार असम के कूचबिहार जिले तथा त्रिपुरा के सीमावर्ती क्षेत्र में अंधाधुंध

गोलीवर्षा करता रहा और उसने असम के तुकरेग्राम तथा त्रिपुरा के लखीमपुर ग्रामों पर कब्जा कर लिया। इस संबंध में सचिवों के स्तर पर कराची में एक सम्मेलन हुआ जो असफल रहा। बाद में भारत व पाकिस्तान के प्रधानमंत्रियों के बीच वार्ता हुई जिसके फलस्वरूप समझौते का जन्म हुआ।

तुकरेग्राम तथा लखीमपुर का उल्लेख तक भी नहीं किया गया। उन्हें पाकिस्तान के अवैध अधिकार में रहने दिया गया। यह काफी बुरी बात थी; किंतु प्रधानमंत्री ने इससे भी बुरा काम और किया। उन्होंने पाकिस्तान को ऐसे प्रश्न नए सिरे से खड़े करने की अनुमति दे दी जिनके संबंध में विभाजन के बाद से अब तक कभी विवाद नहीं रहा। इसके अनुसार पण् बंगाल के परगना जिले के इच्छामती नदी का तटवर्ती क्षेत्र जलपाईगुड़ी का बेरूबाड़ी यूनियन तथा कूचबिहार के टापुओं का विनिमय निश्चित किया गया जिसके परिणामस्वरूप भारत को क्षेत्रफल का घाटा हुआ। नेहरू-समझौते में इन सभी व्यौरे की बातों को सरकार द्वारा भारतीय जनता से छिपाकर रखा गया और उनका पता तभी लगा जब पाकिस्तान के प्रधानमंत्री और फीरोज ख़ाँ नून ने पाकिस्तान की राष्ट्रीय सभा में इसकी घोषणा की।

“प. बंगाल की जनता ने इसका बहुत विरोध किया। जनसंघ ने इसके खिलाफ देशव्यापी आंदोलन प्रारंभ किया। बंगाल की विधानसभा तथा विधान परिषद ने सर्वसम्मति से इसके खिलाफ प्रस्ताव पारित किया। मुख्यमंत्री विधानचंद्र राय ने विधानसभा में कहा, “यह समझौता पं. बंगाल की जनता का विश्वास संपादन किए बिना किया गया है। “जनमत के दबाव में राष्ट्रपति ने बेरूबाड़ी के हस्तांतरण के प्रश्न को सर्वोच्च न्यायालय की सम्मति जानने के लिए प्रेषित किया। सारे मामले पर विचार कर सर्वोच्च न्यायालय ने सर्वसम्मति निर्णय दिया कि “आज की स्थिति में भारत के किसी भी भूभाग को दूसरे देश को सौंपना असंवैधानिक है।

“इस पर नेहरू ने संविधान में नौवाँ संशोधन विधेयक प्रस्तुत किया। जनसंघ ने लोकसभा के सम्मुख दीनदयाल उपाध्याय के नेतृत्व में विशाल प्रदर्शन की घोषणा की; लेकिन नेहरू ने लोकसभा में अपने बहुमत के बल पर विधेयक पारित करवा लिया। थोड़े ही समय बाद “चीन ने आक्रमण किया और देश में आपातकालीन स्थिति की घोषणा की गई तथा भारत को अपमानित करने के उद्देश्य से पाकिस्तान ने चीन से गठजोड़ कर लिया।

इस नई परिस्थिति में सब लोग आशा करते थे कि अब बेरूबाड़ी को देने का प्रस्ताव समाप्त कर दिया जाएगा। परंतु आश्चर्य है कि हस्तांतरण की कार्यवाही फिर से प्रारंभ की गई है तथा वहाँ के जनविरोध को लाठीचार्ज तथा भारी गिरफ्तारियों के सहारे से दबाया जा रहा है।”

दीनदयाल उपाध्याय बहुत क्षुब्ध हुए तथा उन्होंने नेहरू की आलोचना करते हुए कहा, “पं. नेहरू कितने भी तानाशाह हो सकते हैं; किंतु हम उन्हें इतना निर्दयी नहीं मानते हैं जो निरंकुश बनने के लिए आवश्यक रहता है। इसके विपरीत उनमें अनेक गुण हैं जिन्होंने उन्हें अत्याचारी होने से रोका है। आज परिस्थितियाँ ऐसी हो गई हैं कि पं. नेहरू भारत के भाग्यनिर्माता लगने लगे हैं। यह स्थिति जनतंत्र-प्रेमियों, यहाँ तक कि पं. नेहरू के लिए भी अहितकर है।”

दीनदयाल जी द्वारा नेहरू की उपर्युक्त आलोचना में जहाँ एक क्षोभ है वहीं एक विधायक सौम्यता भी है। हालांकि बेरूबाड़ी यूनियन को बचाया नहीं जा सका; लेकिन दीनदयाल उपाध्याय तथा भारतीय जनसंघ ने राष्ट्रीय अखंडता के अपने धर्म के अनुकूल आचरण करते हुए उसे राष्ट्रीय बहस का मुद्दा बना दिया। परिणामतः संविधान में संशोधन की नौबत आई तथा भारतभूमि के इस हस्तांतरण के खिलाफ देश भर में लोकमत को संगठित किया जा सका।

कच्छ-करार विरोधी विराट प्रदर्शन

दीनदयाल जी ने कच्छ आन्दोलन पर भी अपनी पकड़ बनाये राखी थी। उन्होंने लिखा कि “फरवरी (1965) में पाकिस्तानी सीमा पुलिस ने कच्छ के रण में घुसपैठ प्रारंभ कर दी। 17 मार्च को पाकिस्तान के रेंजर्स ने भारतीय सीमा में 1300 गज अंदर आकर कंजरकोट पर कब्जा कर लिया। यह कार्यवाही बढ़ती गई। 25 मार्च को उन्होंने डिंग पर अधिकार कर लिया, जहाँ भारतीय सीमा पुलिस के थोड़े से सिपाहियों को छह मील पीछे विंगोकोट को हटना पड़ा। कच्छ में पाकिस्तान और आगे बढ़ा तथा 9 अप्रैल को भारी सेना और तोपों के साथ उसने सरदार चौकी तथा विंगोकोट पर हमला कर दिया। अभी तक भारत सरकार ने सीमा सुरक्षा का भार केवल सीमा पुलिस पर छोड़ रखा था। किंतु देश का जनमत अधिकाधिक क्षुब्ध हो रहा था। फलतः सेना को कच्छ की सुरक्षा का भार सौंपा गया। सेना ने

पहुँचकर पाकिस्तानियों को पीछे खदेड़ना प्रारंभ किया। फलतः 14 अप्रैल, 1965 को पाकिस्तान ने युद्धविराम का तथा विवादों को बातचीत से सुलझाने का प्रस्ताव रखा। भारत ने उसे यह कहकर अमान्य कर दिया कि कच्छ के रण का कोई विवाद नहीं है तथा जब तक पाकिस्तान कंजरकोट और भारत की संपूर्ण भूमि को खाली करके पीछे नहीं हट जाता, युद्धविराम नहीं, होगा।

दीनदयाल जी इससे आगे लिखते हैं कि 24 अप्रैल को पाकिस्तान ने भारत की सीमा चौकी प्वाइंट 84 पर आक्रमण कर दिया। इस आक्रमण में उसने अमरीकी टैंकों का भी प्रयोग किया, जो कि अमेरिका से हुई सैन्य शर्त के विपरीत था। भारत द्वारा अमेरिका की दृष्टि में यह तथ्य लाया गया किंतु अमेरिका ने उस ओर कोई ध्यान नहीं दिया। इससे पाकिस्तान का हौसला बढ़ा और उसने आगे चलकर युद्ध में अमेरिकन शस्त्रों का खुलकर प्रयोग किया।

दीनदयाल जी ने बताया कि जैसे ही भारतीय सेनाओं ने शत्रु के मुकाबले तथा प्रत्याक्रमण के लिए मोर्चाबंदी की, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री मध्यस्थता के लिए बीच में कूद पड़े। प्रधानमंत्री शास्त्री ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री विल्सन की अपील पर पहले तो व्यवहार में युद्धविराम स्वीकार कर लिया तथा बाद में राष्ट्रमंडल के प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन में पाकिस्तान के साथ अनौपचारिक बातचीत के परिणामस्वरूप कच्छ के रण के विवाद को पंच-फैसले के लिए सुपुर्द करने का फैसला कर लिया। यही भारत व पाकिस्तान के मध्य हुआ कच्छ-करार था। स्वाभाविक रूप से उपाध्याय पाकिस्तान द्वारा हड़पी हुई भूमि को मुक्त करवाने के पूर्व शास्त्री द्वारा युद्धविराम को स्वीकार न करने की घटना को आजाद भारत के प्रतिरक्षा के इतिहास में प्रथम अभिनंदनीय घटना मानते हैं; लेकिन 'कच्छ-करार' से उन्होंने निम्न असहमतियों को व्यक्त करते हुए उसका विरोध किया : पाकिस्तान को भारतीय क्षेत्र में गश्त लगाने का अधिकार देकर और कच्छ में अपनी सेना रखने के अधिकार का परित्याग कर भारत की प्रभुसत्ता का उल्लंघन किया गया है। समझौता पाकिस्तान के इस दावे को मान्य करता है कि कच्छ का रण एक 'विवादास्पद क्षेत्र' है। भारत सरकार अब तक इस दावे को अस्वीकार करती रही है।

कच्छ के प्रश्न को एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण को सौंपना स्वीकार करके शास्त्री सरकार ने आत्मघाती परंपरा डाली है जो आंतरिक मामलों में

विदेशियों को घरात के लिए खतरनाक अवसर देती है। यह इस समझौते का सबसे बुरा पक्ष है।

इस समझौते के खिलाफ दीनदयाल जी ने अभूतपूर्व जनजागरण किया। भारत के इतिहास का राष्ट्रीय प्रदर्शन बच्छराज व्यास व दीनदयाल उपाध्याय के नेतृत्व में संसद के समक्ष हुआ। भारत ही नहीं, विश्व भर की प्रेस ने इस प्रदर्शन की प्रभावोत्पादकता, अनुशासनप्रियता, विशालता एवं राष्ट्रवादी उत्साह को मान्यता प्रदान की। बीबीसी ने प्रदर्शनकारियों की संख्या अनुमानतः पाँच लाख बताई। भारत के अनेक विरोधी दलों के नेताओं ने इस विशाल रैली को संबोधित किया। इस प्रदर्शन का तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने भारत-पाक विदेशमंत्रियों की 20 अगस्त, 1965 की पूर्व नियत प्रस्तावित बैठक रद्द कर दी। जनसंघ ने अपने प्रस्ताव में कहा, “यदि जनता इसी प्रकार क्रियाशील तथा जागरूक रही तो कच्छ-समझौता कोरा कागज मात्र बनकर रह जाएगा।”

भारत-पाक युद्ध

दीनदयाल जी भारत पाक युद्ध के युद्ध पर नजर रखे हुए थे। इस घटना का उल्लेख करते हुए दीनदयाल जी ने कहा कि जनसंघ जिस रणनीति की माँग कर रहा था, उसका उस दिन आरंभ हुआ।

लालबहादुर शास्त्री ने सर्वदलीय बैठक बुलाई जिसमें दीनदयाल उपाध्याय व सरसंघचालक मास गोलवलकर को भी आमंत्रित किया गया था। जनसंघ तथा संघ ने युद्ध प्रयत्नों के साथ अपने आपको एकरूप कर लिया था। उन्होंने सरकार को हर प्रकार के सहयोग का विश्वास दिलाया। युद्ध के इन दिनों का वर्णन दीनदयाल उपाध्याय बहुत आनंद एवं गौरवपूर्ण शब्दों में इस प्रकार से करते हैं—“पाकिस्तान के साथ युद्ध का, 22 दिन का, स्वातंत्र्योत्तर भारत के इतिहास में एक गौरवपूर्ण अध्याय है। भारतीय शासन ने एक साहसपूर्ण पग उठाने का निर्णय लिया। सेना और जनता, सबने अत्यंत ही उत्साह, लगन, धैर्य, कुशलता और वीरतापूर्वक उस निर्णय को कार्यान्वित किया। इस अवसर पर देश को अपनी शक्ति व कमजोरियों का ज्ञान हुआ। शत्रु और मित्र का पता चला। स्वाभिमान और स्वावलंबन जागा। स्वप्नलोक से उतरकर ठोस जमीन पर चलने और दूर की मंजिल तय करने की महत्त्वाकांक्षा जागी। भारतीय जनसंघ की विचारधारा देश की विचारध

रा बन गई।” रूस के प्रधानमंत्री के आग्रह पर युद्धविराम की घोषणा तथा ताशकंद में सोवियत रूस की मध्यस्थता में भारत के प्रधानमंत्री व पाकिस्तान के राष्ट्रपति का शिखर सम्मेलन तय हुआ। दीनदयाल उपाध्याय ने इस घोषणा का विरोध किया। गोलवलकर ने श्री शास्त्री ताशकंद न जावें इसका देश भर की सभाओं में बोलते हुए बार-बार आग्रह किया। लेकिन जो होना था, वह टाला न जा सका। 10 जनवरी, 1966 को ताशकंद घोषणा पर भारत के प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री तथा पाकिस्तान के राष्ट्रपति मुहम्मद अयूब ख़ाँ के हस्ताक्षर हुए तथा उसी रात को प्रधानमंत्री शास्त्री का रहस्यपूर्ण ढंग से हृदयगति रुक कर देहावसान हो गया।

घोषणा में यह लिखा गया था- “भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि दोनों देशों के सब सशस्त्र सैनिक 5 अगस्त, 1965 से पूर्व की स्थिति में वापस चले जाएँगे और यह वापसी का कार्य 25 फरवरी, 1966 के बाद नहीं होगा (अर्थात् इसके पूर्व हटाया जाएगा) एवं दोनों पक्ष युद्धविराम रेखा पर युद्धविराम की शर्त का पालन करेंगे। “25 अर्थात् कश्मीर के जिस भारतीय भूभाग को इस युद्ध के दौरान मुक्त करवाया गया था, भारत उस भू-भाग को पुनः पाकिस्तान के हवाले कर देगा। शास्त्री यदि जीवित भारत आते तो संभवतः भारतीय जनसंघ उनका काले झंडों से स्वागत करता; लेकिन उनके बलिदान से स्थिति बदल गई। उपाध्याय ने ताशकंद-घोषणा के खिलाफ ‘विश्वासघात’ नामक पुस्तक लिखी। ताशकंद-घोषणा को अस्वीकार करने की माँग की। उपाध्याय इस बात से दुखी थे कि इतने बलिदान व राष्ट्रीय उत्साह के बावजूद भारतभूमि से पाकिस्तान का आक्रमण समाप्त नहीं किया जा सका। लालबहादुर शास्त्री को दीनदयाल उपाध्याय ने ‘राष्ट्रनायक’ का गौरवपूर्ण स्थान प्रदान किया था, ताशकंद-घोषणा के बाद उन शास्त्री के प्रिय नारे ‘जय जवान-जय किसान’ के संदर्भ में वे कहते हैं “‘जय जवान’ का नारा हम ताशकंद में भूल गए और अमरीकी गोहूँ मिलते ही ‘जय किसान’ भी भूल गए। यह प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। कोई भी विदेशी सहायता बिना किसी शर्त के नहीं मिलती।”

राष्ट्रवादी विदेश नीति

धर्म के लिए निकटतम समान अंग्रेजी शब्द 'जन्मजात कानून' हो सकता है। हालाँकि यह भी धर्म का पूरा अर्थ को व्यक्त नहीं करता है। चूँकि धर्म सर्वोच्च है, हमारे राज्य के लिए आदर्श 'धर्म का राज्य' होना चाहिए।

एक बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि विदेश नीति भी अंततः एक नीति ही होती है। वह कोई सिद्धांत नहीं होता। राष्ट्र के हितों की रक्षा तथा पोषण के निष्कर्ष पर ही इस नीति का निर्धारण नहीं होता। राष्ट्र के हितों की रक्षा तथा पोषण के निष्कर्ष पर ही इस नीति का निर्धारण करना चाहिए।

विदेश नीति और रक्षा के बारे में उनके विचार शत-प्रतिशत राष्ट्रहित पर आधारित थे। दीनदयाल जी ने राष्ट्रवादी विचारों को विदेश-नीति का हिस्सा बनाया। दीनदयाल जी का मत था कि भारतीय विदेश-नीति पंडित नेहरू का विशेष विषय था। स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व काँग्रेस-अधिवेशनों में विदेशनीति के बारे में रखे जाने वाले प्रस्ताव उन्हीं के द्वारा तैयार किए होते थे। स्पेन में हुए राजनीतिक विद्रोह से लेकर चेकोस्लोवाकिया पर हिटलर द्वारा किए गए आक्रमण तक और दक्षिण अफ्रीका की सरकार से लेकर जापान के जनरल टोजो की आक्रामक गतिविधियों तक सभी विषयों पर किया जाने वाला भाष्य पं. नेहरू का ही होता था। इसलिए स्वतंत्र भारत की विदेश-नीति के निर्धारण में वे ही सर्वेसर्वा बन गए। इसमें विशेष बात कुछ नहीं थी। बात केवल इतनी ही थी कि हमारी विदेश नीति निर्धारित करते समय उन्होंने अपने स्थान का उपयोग देश के हित के लिए नहीं किया। गांधी जी ने जिस प्रकार स्वराज्य का घोड़ा 'खिलाफत' की गाड़ी में जोत दिया वैसे ही पं. नेहरू ने स्वतंत्र भारत के घोड़े को चीन के आक्रमण से जोत दिया। तिब्बत पर चीन

द्वारा किए गए आक्रमण को नेहरू ने निःसंकोच स्वीकार कर लिया तथा यह घोषणा भी कर दी कि तिब्बत चीन का ही भाग है। विदेश नीति के प्रसंग में अधिकांश दल उन्हीं की हाँ में हाँ मिलाते थे। कम्युनिस्टों ने बिलकुल प्रारंभ में उन्हें 'रनिंग डॉग ऑफ इम्पीरियलिज्म' का विशेषण दिया था, किंतु कुछ ही समय बाद पं. नेहरू कम्युनिस्ट चीन के प्रशंसक बन गए और कम्युनिस्टों ने भी फिर नेहरू जी को 'विश्वशांति का अग्रदूत' बना दिया।

ऐसे समय में किसी भी सैद्धांतिक बहाव में न बहते हुए दीनदयाल जी ने नेहरू जी विदेश नीति की प्रखर आलोचना प्रारंभ कर दी। अपनी विदेश नीति का दिग्दर्शन कराते हुए कानपुर के 1952 के अधिवेशन में उन्होंने कहा कि हमारी विदेश नीति का सूत्र होना चाहिए बिना किसी सत्तागुट में उलझे अधिकाधिक मित्र जोड़ना। विश्व में शांति रही तो हमें भी अपने आर्थिक विकास की ओर ध्यान देने के लिए पर्याप्त शांति मिलेगी। भारत स्वभावतः एकाधिकारवाद का विरोधी रहा है। इसलिए भारत को चाहिए कि विश्व में लोकतंत्र और स्वतंत्रता का विकास होने का ही पक्षधर बने। उपनिवेशवाद में मुक्त होने वाले देशों के प्रति भारत को स्वाभाविक सहानुभूति दिखानी चाहिए। इसके बाद इस नीति को अधिक स्पष्ट करते हुए उस अधिवेशन के प्रस्ताव में उन्होंने कहा- "भारत को शांति के लिए प्रयास तो करना ही चाहिए। लेकिन शांतिप्रेम के निमित्त ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जिससे देश की अवहेलना हो और उसे हानि उठानी पड़े।

दीनदयाल उपाध्याय विदेश नीति के क्षेत्र में ज्यादा सिद्धांतशास्त्र में विश्वास नहीं करते थे। वहाँ विशुद्ध व्यावहारिकता ही उनका सिद्धांत था। उनकी दृष्टि में विदेश नीति का एक ही आधार होता है और वह है 'राष्ट्रीय हिता' दीनदयाल जी ने कहा कि हमारा विश्वास है कि किसी भी देश की परराष्ट्र नीति, राष्ट्र के प्रकट स्वार्थ की सिद्धि के एकमेव उद्देश्य से ही तैयार की जानी चाहिए। उसे यथार्थवादी होना चाहिए। और उसे विश्व की पार्थिव प्रकृति को ध्यान में रखना चाहिए।"

इसीलिए उपाध्याय न तो किसी प्रकार के काल्पनिक सिद्धांतवाद को किसी देश की शत्रु-मित्रता से जोड़ते हैं तथा न ही किसी देश को स्थायी शत्रु या मित्र मानते हैं। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रचलित शब्दों 'जनतंत्रवाद या स्वतंत्र विश्व' 'साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद' विरोध 'सामाजिक न्याय की

प्रस्थापना एवं क्रांतिवादी विश्वदृष्टि तथा 'गुटनिरपेक्षवाद एवं तृतीय विश्व की एकता इन सबको वे निरर्थक नारे एवं बड़े राष्ट्रों की राष्ट्रीय स्वार्थपरता के आवरण मात्र मानते हैं। इनमें से किसी 'शब्दमंत्र' के साथ बँधकर विदेश नीति का संयोजन नहीं किया जा सकता। राजनीतिक सक्रियता 131 कोई देश हमारी मित्रता पाने का हकदार उपर्युक्त सिद्धांतों की घोषणा से नहीं होता वरन् हमारे राष्ट्रीय हितों के साथ सहकारी होने से होता है। दीनदयाल उपाध्याय का मत है कि जब पाकिस्तान के खिलाफ अरब देश भारत का साथ नहीं देते, तो वे इजराइल के खिलाफ भारत की मित्रता प्राप्त करने के हकदार नहीं हैं। इजराइल के साथ हमारी मित्रता का निर्णय पश्चिम एशिया की तथाकथित न्याय अथवा अन्यायसंगत स्थिति नहीं करेगी वरन् यदि इजराइल अंतर्राष्ट्रीय जगत् में हमारे हितों का साथी बनता है, तो वह हमारे मैत्री संबंधों का हकदार होगा।

दीनदयाल जी ने भारत की गुट-निरपेक्ष नीति के समर्थक जरूर थे लेकिन वे उसे न तो अपरिवर्तनीय सिद्धांत मानते हैं, न विश्व राजनीति के दो गुटों के विभाजन को स्थायी मानते हैं। चीनी आक्रमण के बाद विदेश नीति के बारे में एकबार उन्होंने कहा था कि जहाँ तक दोनों विश्वगुटों से अलग रहने का प्रश्न है, हमें यह समझ लेना चाहिए कि अब स्थिति बहुत बदल गई है, और विश्व केवल अब दो गुटों में ही विभक्त नहीं है। अब कई नए गुटों के केंद्र पैदा हो गए हैं। दिल्ली और पeking ऐसे दो सजीव केंद्र हैं। पeking अब विस्तारवाद की स्वतंत्र नीति पर चल रहा है।

दीनदयाल जी के वैश्विक विचार थे उन्होंने कहा कि इस नए मोरचे के स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हुए उन्होंने कहा, 'रूस नए (मोरचे) में हम निश्चय ही पश्चिमी विश्व के साथ रह सकते हैं; क्योंकि इन देशों ने हमारी मदद करने की इच्छा प्रकट की है। इसके अलावा एशिया के कुछ गुट-मुक्त देशों को, जिन्हें चीन के विस्तारवादी खतरे का अहसास करवाया जा सकता है और कुछ साम्यवादी देशों को भी, यदि वे चीन के आक्रमण की निंदा करें, नए संघ में शामिल कर सकते हैं। अगर नाजी जर्मनी को पराजित करने के लिए जनतांत्रिक पश्चिम और साम्यवादी रूस हाथ मिला सकते हैं, तो हम उपर्युक्त संघ की कल्पना को केवल एक 'सुनहला सपना' कहकर रद्द नहीं कर सकते। इस प्रकार नए मित्र देश और नए तटस्थ देश

दृष्टिगत होने लगेंगे।”

दीनदयाल जी अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के अस्थायी तत्त्व के आधार पर दीर्घकालिक नीति के प्रणयन की अनुमति किसी को नहीं देती। उपाध्याय ने बार बार कहा है कि चीन और पाकिस्तान हमारे प्राकृत शत्रु हैं। इन दोनों के खिलाफ समान मित्र खोज पाना वास्तव में कठिन कार्य है। उन्होंने कहा कि पश्चिमी विश्व के लोगों ने हमारी मदद करने की इच्छा प्रकट की है ‘पाकिस्तान के संदर्भ में टिक नहीं पाती है। चाहे कश्मीर का प्रसंग हो, बेरूबाड़ी हो, कच्छ-रण हो, फ्रेंच व पुर्तगीज बस्तियाँ हों, या फिर भारत पर पाकिस्तानी आक्रमण हो, रूल-अमेरिकी गुट भारत का विरोधी रहा है।

दीनदयाल उपाध्याय ने उन दिनों साम्राज्यवाद व उपनिवेशवादिता को प्रखरतापूर्वक आड़े हाथों लिया था। उन्होंने भारत के रूसी झुकाव के लिए अमेरिका को दोषी माना था। अमेरिकी दुर्व्यवहार तथा भारत की विश्वशांति की नीति के विषय उन्होंने कहा कि “यदि भारत किसी पक्ष (गुट) के साथ हो जाए तो विश्व को युद्ध की ज्वालाओं से अलग रख पाना असंभव हो जाएगा; किंतु भारत को अपनी तटस्थता बनाए रखना असंभव हो रहा है। आंग्ल- अमेरिकन गुट हमें निरंतर रूसी गुट में ढकेलता जा रहा है, जिसमें हम जाना नहीं चाहते। एक गुलाम की (पाकिस्तान की) पीठ ठोकने के चक्कर में अमेरिका अपने अत्यंत निकट मित्र से हाथ धो रहा है। “

दीनदयाल उपाध्याय अंतर्राष्ट्रीय साम्यवाद के सख्त खिलाफ रहे हैं। अतः सोवियत रूस को उन्होंने कभी विश्वस्त मित्र नहीं माना। उसकी अधिनायकवादी प्रवृत्ति के वे प्रखरतम विरोधी रहे। इस कारण कभी-कभी यह भ्रांति उत्पन्न होती थी कि शायद वे सोवियत रूस की तुलना में अमेरिका के कुछ निकट हों; लेकिन इस संदर्भ में उपाध्याय ने अपने प्रखर राष्ट्रवाद को कहीं डिगने नहीं दिया। ऐसे भी प्रसंग आए जब दल में ही कुछ लोगों ने अमेरिका के समर्थन का प्रयत्न किया; लेकिन उन्होंने इसका कड़ाई के साथ विरोध करते हुए कहा, ‘अमेरिका जनतंत्रवादी नहीं, साम्राज्यवादी है’। रूसी अधिनायकवाद तथा अमेरिकी साम्राज्यवाद से सदैव बराबर दूरी बनाए रखने के हिसाब से उन्होंने भारतीय जनसंघ की विदेश नीति को प्रणीत किया।

दीनदयाल जी ने विदेश नीति के संदर्भ में पं. नेहरू के अंतर्राष्ट्रीयतावाद एवं रूसी झुकाव दोनों को गलत मन था। उनका कहना था कि नेहरू ने

अंतर्राष्ट्रीयतावाद पर राष्ट्रीय हितों का बलिदान किया। अंतर्राष्ट्रीयतावाद के चक्कर में वे दुनिया भर की समस्याओं को उठाते थे; किंतु कोई दुनिया में उन्हें राष्ट्रवादी न कह दे, इस भय से राष्ट्रीय समस्याओं की अवहेलना करते थे। दीनदयाल जी एक उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जब बेरूबाड़ी की बारह हजार जनता को एक विदेशी शक्ति की दया पर सौंपे जाने तथा एक निरंकुश शासन के हाथों प्रताड़ित किए जाने “से अपनी रक्षा के लिए नेहरू की सरकार व सांसदों को बेरूबाड़ी का जन-शिष्टमंडल, स्मरण-पत्र प्रस्तुत कर रहा था, तब उसकी उपेक्षा करते हुए कांग्रेस के करीब सौ सांसद “कांगों के प्रधानमंत्री लुमुम्या को अविलंब मुक्ति दिलवाने के लिए राष्ट्रसंघ को अपील जारी कर रहे थे, नेहरू दुनिया भर के उपनिवेशवाद के खिलाफ भाषण करते थे; किंतु भारत की फ्रेंच व पुर्तगीज बस्तियों के खिलाफ, उनके द्वारा हस्ताक्षरित किसी भी राष्ट्राध्यक्ष के साथ जारी संयुक्त विज्ञप्ति में, एक शब्द भी नहीं बोला गया। एशियाई सम्मेलनों में उन्होंने कभी गोआ-राजनीतिक सक्रियता मुक्ति का मुद्दा नहीं उठाया। दीनदयाल उपाध्याय लिखते हैं कि नेहरू की अंतर्राष्ट्रीय छवि को दुनिया का कोई अखबार धूमिल न करे, इस दृष्टि से कांग्रेस सरकार की विदेश नीति तय होती थी। दीनदयाल जी का मानना था कि हमारी सरकार की नीति देश के किसी व्यक्ति द्वारा नहीं, बल्कि अन्य देशों के अग्रलेख-लेखकों द्वारा तय की जाती है। जनता के हाथ में सार्वभौम सत्ता निहित नहीं है; बल्कि ‘मैचैस्टर गार्जियन’ और अमेरिकन ‘टाइम’ के हाथों में निहित है। विदेशी प्रभावों के प्रति यह अतिसंवेदनशीलता केवल मानसिक गुलामी की स्थिति की द्योतक है जो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद अब तक बनी हुई है।”

दीनदयाल उपाध्याय अफ्रो- एशियाई जगत् में उपनिवेशवाद समाप्त करने के पक्ष में थे तथा उन देशों को संगठित होने की वकालत भी करते थे। इस विषय में उन्होंने कहा कि दक्षिण एशिया के देश, जो भारत के सांस्कृतिक सहोदर हैं, उनकी एकता के लिए प्राथमिकतापूर्वक प्रयत्न किया जाना चाहिए जिसकी उपेक्षा हुई है। भूटान, नेपाल, बर्मा, जावा, सुमात्रो, बोर्नियो, बाली द्वीप समूह, श्रीलंका आदि को संगठित कर नेतृत्व प्रदान करना भारत की नेतृत्वाकांक्षा की संपूर्ति के लिए व्यावहारिक आधार प्रदान कर सकते हैं, ऐसी उनकी मान्यता थी।

दीनदयाल जी का स्पष्ट मानना था कि पाकिस्तान के प्रति तुष्टिकरण की नीति की बजाय 'शठे शाट्यम् समाचरेत्' अर्थात् 'जैसे को तैसा' की नीति अपनानी चाहिए तथा चीन के मुकाबले समानांतर शक्ति केंद्र बनना चाहिए। उनके मतानुरूप तिब्बत की स्वाधीनता की बलि चढ़ाना सैद्धांतिक दृष्टिसे अन्यायपूर्ण था, कूटनीतिक दृष्टि से भी भारत का व्यवहार अनीतिपूर्ण था।

दीनदयाल जी के अनुसार परराष्ट्र नीति प्रतिरक्षा नीति का विकल्प नहीं है। भारत की सबसे बड़ी भूल यह रही कि उसने शांतिवादी परराष्ट्र नीति की दार्शनिकता में प्रतिरक्षा नीति की उपेक्षा की। अगर हमने प्रतिरक्षा के लिए पर्याप्त तैयारी नहीं की तो उसमें पर राष्ट्र नीति का कुसूर नहीं है।" परराष्ट्र नीति चाहे जो हो, प्रतिरक्षा की पूरी तैयारी रहनी ही चाहिए।

विदेश नीति पर दीनदयाल उपाध्याय के चिंतन में एक प्रकार की राष्ट्रवादी विचार दृष्टिगत होते दिखाई देते हैं। वे मूलतः राष्ट्रवादी है प्रधानमंत्री नेहरू की विदेश नीति व अंतर्राष्ट्रीयता पर बहुत जोर दिया और उनका विरोध भी किया। इसी कारण उन्हें राष्ट्र वादी नेता के रूप में पहचान मिली। यहाँ यह भी गौर करने वाली बात है कि चीन से भारत की पराजय के बाद भारत ने अपनी विदेश नीति में सुरक्षा को महत्वपूर्ण स्थान देना प्रारंभ कर दिया। यह परिवर्तन दीनदयाल उपाध्याय की दृष्टि के कारण ही संभव हो पाया।

दीनदयाल उपाध्याय सुरक्षा नीति को परराष्ट्र व स्वराष्ट्र नीति का पूरक मानते हैं तथा देश की आधारभूत नीति मानते हैं, जिसके लिए सब कुछ बलिदान किया जा सकता है। दीनदयाल जी एक मात्र ऐसे नेता थे जिन्होंने देश की सुरक्षा के विषय पर सर्वाधिक मुखर रहे। उन्होंने लिखा कि 'भारत का उत्तरी सीमांत सुरक्षित नहीं है। भारत के शांतिपूर्ण दृष्टिकोण की उपेक्षा करके चीन ने तिब्बत की स्वाधीनता को नष्ट कर उसे गुलाम बना लिया है जो सह-अस्तित्व की नीति के विरुद्ध है। नेपाल से संधि करते समय चीन ने भारत की विशेष स्थिति को ध्यान में नहीं रखा है। इसी भांति चीनी में भारतीय क्षेत्र को दिखाना, बर्मा में चीनी सेनाओं के प्रवेश और दक्षिण-पूर्वी एशिया के छोटे-छोटे देशों में चीनियों की जो गतिविधियाँ चल रही हैं, उसकी ओर से भारत को सतर्क रहना चाहिए। वे दुःख व्यक्त करते हैं कि "आज जबकि हमारी सीमाएँ असुरक्षित हैं, और आक्रमण जारी है, तब राष्ट्र

की सुरक्षा के प्रश्न पर कोई भी मौन नहीं रह सकता। पर यह दुख की बात है कि विभिन्न राजनीतिक दलों ने इन प्रश्नों को अपने चुनाव- घोषणा पत्रों में अधिक महत्त्व नहीं दिया है।”

सन् 1962 व 1967 के महानिर्वाचन में जनसंघ को जो सफलता मिली तथा जवाहरलाल नेहरू तथा भारत के अन्य दलों को जनसंघ कटघरे में खड़ा कर सका, इसका बहुत बड़ा श्रेय उसकी सुरक्षानीति को है। पाकिस्तान व चीन के साथ व्यवहारदराजनीतिक सक्रियता करते हुए भारत के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने देश की सुरक्षा को उपेक्षित किया। सर 1962 व 1965 के युद्धों में देश को उसकी कीमत चुकानी पड़ी। जनसंघ द्वारा दी गई चेतावनियाँ सही निकलीं।

सुरक्षा की दृष्टि से उपाध्याय इसी उक्ति के नीतितः समर्थक हैं कि ‘प्रहारात्मक सिद्धता ही श्रेष्ठ सुरक्षा व्यवस्था है। ‘अतः उनका मत था’ राष्ट्र का सैनिकीकरण तथा सेना का आधुनिकीकरण करो। ‘एक विषय, जिसमें उन्हें पाश्चात्य आधुनिक तकनीक को अपनाने में परहेज नहीं था, वह था ‘सेना का आधुनिकीकरण’। अन्यथा अर्थनीति, समाजनीति, शिक्षानीति व राजनीतिक व्यवस्था, इन सभी में वे पाश्चात्य आधुनिकता को या तो स्वीकार नहीं करते हैं या फिर बहुत सारी शर्तें लगा देते हैं। लेकिन सुरक्षा के विषय में सेना को आधुनिकतम शस्त्र व तकनीक से सन्नद्ध रखने के वे प्रबल हिमायती थे। आवश्यकता पड़ने पर देश का हर नौजवान सैनिक बन सके, अतः वे अनिवार्य सैनिक शिक्षा तथा सैनिक भरती के भी पक्षधर थे। केवल युद्धकाल में ‘होमगार्ड्स’ आदि के प्रशिक्षण के स्थान पर निरंतर सैनिक शिक्षा उन्हें अभिप्रेत थी।

दीनदयाल उपाध्याय अणुबम बनाने के विषय में भी व्यावहारिक बनना चाहते थे। वे इसे सैद्धांतिक व दार्शनिक भूल-भुलैया में नहीं डालना चाहते। वे मानते हैं कि आज की तथाकथित विश्व-शक्तियाँ अपने तत्त्वज्ञान के बल पर नहीं वरन् ‘अणु-शक्ति’ के बल पर दुनिया का नेतृत्व कर रही है। चीन के अणुबम ने विश्व राजनीति में उसकी महत्ता की अभिवृद्धि की है। वे कहते हैं, “हमारी विदेश नीति के कारण हमारे सभी पड़ोसी और हितचिंतक देश हमसे दूर होते जा रहे हैं। ब्रिटेन में मजदूर दल शासन में आया, आते ही उसने चीन से व्यापार बढ़ाने का निश्चय किया।” उपाध्याय मानते हैं कि

यह केवल आर्थिक आधारों पर नहीं हुआ। राजनीतिक व सैनिक शक्तिमत्ता का यह परोक्ष परिणाम है।

उनका मत है कि हमारे अणुबम से न तो विश्वशांति को खतरा है तथा न ही हम विश्वशांति के ठेकेदार हैं, “विश्व को नष्ट करने के लिए जितने परमाणु बमों की आवश्यकता है, अमेरिका और रूस के पास उससे कहीं अधिक मात्रा में बम हैं; किंतु अभी तक युद्ध नहीं हुआ। अतः कांग्रेस सरकार विश्वशांति का भार भगवान् पर छोड़कर परमाणु निर्माण कार्य प्रारंभ करे।”

उपाध्याय मानते हैं कि ‘युद्धविरामों’ तथा ‘समझौतों’ की नीतियों ने देश की सुरक्षा को अनिश्चित व शत्रुओं को उत्साहित किया है। अतः ‘युद्ध! अंतिम विजय तक युद्ध!’ यही विचार प्रत्येक भारतीय के मन में हो, और इस दृष्टि से देश की सभी नीतियाँ बने यही संक्षेप में युद्ध प्रयासों की सफलता की कुंजी है।

नेहरू बनाम दीनदयाल उपाध्याय

शक्ति अनर्गल व्यवहार में व्यय न हो बल्कि अच्छी तरह विनियमित कार्रवाई में निहित होनी चाहिए।

नेहरू और दीनदयाल जी का राजनीतिक विरोध जग जाहिर है लेकिन दोनों ही नेताओं ने कभी भी व्यक्तिगत राजनीति करने की कोशिश नहीं की। वैसे तो दीनदयाल जी नेहरू के विरोधी थे लेकिन उनकी अच्छी योजनाओं की तारीफ भी करते थे।

नेहरू से दीनदयाल जी कोई सीधा व व्यक्तिगत संबंध नहीं था। नेहरू संघविरोधी थे यह हम नेहरू-पटेल विवाद, टंडनजी की विजय तथा त्यागपत्र की घटना और अंततः भारतीय जनसंघ की स्थापना के घटनाक्रम के दौरान देख चुके हैं। जवाहरलाल नेहरू के 'सेक्यूलरवाद पाश्चात्य रुझान, समाजवादी झुकाव एवं अंतर्राष्ट्रीयतावाद होने के कारण हमेशा दीनदयाल जी के निशाने पर रहे। जवाहरलाल नेहरू ने 'जनसंघ को, संघ की नाजायज औलाद' कहते थे। उनकी नजर में संघ-जनसंघ घोर सांप्रदायिक, फासिस्ट तथा दकियानूस संगठन थे। दोनों को एक-दूसरे से बहुत शिकायतें थीं; लेकिन हिंदुस्तान के लोकतांत्रिक इतिहास में सत्ता तथा विपक्ष के रूपायन में दोनों की भूमिकाएँ हैं।

दीनदयाल उपाध्याय ने जवाहरलाल नेहरू की बहुत आलोचना के कुछ आयामों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे, नेहरू समाजवाद के माध्यम से देश भूख मिटाना चाहते हैं। जब हम वास्तविकता की आँख से आँख मिलाता है तो उसका समाजवाद काफूर हो जाता है। कश्मीर के प्रश्न पर जनता चाहती थी संपूर्ण कश्मीर की मुक्ति एवं भारत के साथ एकीकरण; किंतु नेहरू संयुक्त राष्ट्रसंघ को महत्ता तथा अनूल्ला को सहारा देते रहे। राष्ट्र की माँग थी,

पुर्तगालियों को भारत से खदेड़कर गोआ-दमन-दीव की मुक्ति। संपूर्ण देश में आंदोलन हुआ, तरुणों ने गोलियाँ खाने के लिए सीने तान दिए। पुर्तगालियों से भारतभूमि को मुक्त करवाने के स्थान पर जब नेहरू ने शांतिपूर्वक वार्ता से ही समस्त अंतर्राष्ट्रीय प्रश्नों को सुलझाने और कभी भी बलप्रयोग न करने की घोषणा की तो सारी जनता धड़ाम से औंधे मुँह गिर पड़ी।

दीनदयाल जी ने कहा कि हिंदुओं की पूर्वी बंगाल में सब प्रकार की प्रताड़ना हुई। देश के खून ने उबाल खाया, किंतु नेहरू ने शांति की दुहाई दी। लोग दुःशासन द्वारा द्रौपदी का चीरहरण देखते हुए भीम की भांति निर्वीर्य से बैठे रहे। उसने (चीन ने तिब्बत को हड़प लिया?... और हमें 'पंचशील' की सुरा में मदहोश जानकर भारत की पवित्र भूमि पर कई स्थानों पर बलात् अधिकार कर लिया किंतु जब नेहरू ने

घोषणा की कि हम चीनी आक्रांताओं को हटाने के लिए बल प्रयोग नहीं करेंगे तो ऐसा लगा जैसे बसंत के नए अंकुरों पर अनावृष्टि हो गई।

दीनदयाल जी तथा जवाहरलाल नेहरू की लड़ाई राष्ट्रवाद एवं शांतिवादी अंतर्राष्ट्रीयतावाद की लड़ाई थी। इसी प्रकार दीनदयाल उपाध्याय का राष्ट्रीय संस्कृतिवाद मुसलमानों को अल्पसंख्यक के नाते विशेष व्यवहार देने का विरोधी था। वहीं जवाहरलाल नेहरू का अवसरवाद मुसलमानों को जबरदस्ती तथाकथित राष्ट्रीय मुख्यधारा में मिलाने के खिलाफ था अतः वे सदैव उनको संतुष्ट करने का प्रयत्न करते थे, समझौते करते थे।

दीनदयाल इसे सेक्यूलरवाद के नाम पर सांप्रदायिकता को बढ़ावा देना मानते थे। उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत करते हुए कहा कि कश्मीर में अलग संविधान, उसके विशेषाधिकार, हमारी बाह्य विविधता के द्योतक नहीं वरन् मौलिक विघटन के विधायक हैं। नेहरू असांप्रदायिकता की बातें तो करते हैं; किंतु उन्हें मुसलमान पर विश्वास नहीं, उसकी देशभक्ति पर विश्वास नहीं। वे उसे खरीदना चाहते हैं। फलतः ईमानदार और देशभक्त मुसलमान पिछड़े जाता है तथा पदलोलुप नेतृत्व आगे आ रहा है। 'यही नहीं, परराष्ट्रनिष्ठ एवं हिंसावादी साम्यवादियों को हिंदुस्तान में सुप्रतिष्ठित करने के लिए दीनदयाल नेहरू को ही दोषी मानते हैं- "यदि पंडित नेहरू यह चाहते हैं कि हिंसा हमारे जीवन में प्रवेश न करे तो उनको इस ओर ध्यान देना होगा कि कम्यूनिस्ट हमारे सार्वजनिक जीवन में प्रविष्ट न होने पावें। यह खेद का

विषय है कि कम्युनिस्टों को अपने लिए भारत में जो स्थान व सम्मान प्राप्त हो गया है, वह अनेक रचनात्मक कार्यों या जनता पर उनके संगठन का नियंत्रण अथवा जनसाधारण में उनकी भौतिक विचारप्रणाली के प्रति आस्था के कारण नहीं बना है; अपितु पंडित नेहरू की तरिक तथा विदेश नीति के परिणामस्वरूप हुआ है। उन्होंने उनको कांग्रेस में घुसने की अनुमति दी है और इस प्रकार वे बहुत से सरकारी कार्यालयों में प्रवेश पा सके हैं। 'ही उपाध्याय कांग्रेस-कम्यूनिस्ट गठजोड़ के कारण को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- "देश में कार्य करने वाले सभी दलों की यह मौलिक आस्था होनी चाहिए कि राष्ट्र हमारा सर्वोपरि श्रद्धा केंद्र है; किंतु वर्तमान में राष्ट्रीयता के उस स्थान पर 'समाजवाद 'ने कब्जा कर लिया दिखता है। कांग्रेस और कम्युनिस्टों के बीच एकता का यही सूत्र है।'

दीनदयाल जी कहा कि अपने साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीयतावादी रुझान के कारण जवाहरलाल नेहरू को बहुत धोखे खाने पड़े तथा बदनामी झेलनी पड़ी। चीन पर उनके विश्वास का आधार साम्यवादी अंतर्राष्ट्रीयतावाद ही था। अपने दल तथा देश के अनेक लोगों का विरोध सहकर भी उन्होंने कृष्ण मेनन को रक्षामंत्री बनाया। चीनी आक्रमण के खिलाफ उठे प्रबल जनविरोध के कारण मेनन को त्यागपत्र देना पड़ा। दीनदयाल उपाध्याय नेहरू के इस साम्यवाद-प्रेम को देश के लिए बहुत खतरनाक मानते थे।

सन् 1956 में 'राज्य पुनर्गठन विधेयक' जब संसद में था, देश के विभिन्न प्रदेशों में व्यापक आंदोलन हुए। उन्होंने आंदोलनों में स्थानीय व प्रादेशिक कांग्रेस नेताओं ने बड़े-जमकर हिस्सा लिया। वे ऐसा न करें इसके लिए नेहरू ने कांग्रेस जनों से बार-बार अपील की।

नेहरू के प्रति दीनदयाल जी कहा कि "नेहरू जी की बात आज कोई नहीं सुनता। नेहरू जी की स्थिति पर विचार करने पर हमें बरबस मुगल इतिहास का स्मरण हो आता है। जहाँगीर के विरुद्ध शाहजहाँ ने विद्रोह किया और शाहजहाँ के विरुद्ध विद्रोह का झंडा औरंगजेब ने उठाया। इसी प्रकार हम जानते हैं कि जिस प्रकार नेहरू जी ने गांधीजी की बात न मानकर भारत का विभाजन स्वीकार किया, उसी प्रकार आज नेहरू जी के अनुयायी स्वयं उनकी बात नहीं सुनते। विद्रोह का यह क्रम अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता।"

इतने विरोध बावजूद दीनदयाल जी को नेहरू से न तो कोई व्यक्तिगत द्वेष था तथा न ही वे उनके अहितचिंतक थे। राष्ट्र का सम्मान जहाँ नेहरू के व्यक्तित्व के माध्यम से मुखरित होता था वहाँ वे उनके परमरक्षक के नाते अपने देश व दल को आह्वान करते थे। चीनी आक्रमण के समय जब पेकिंग रेडियो व साम्यवादियों द्वारा नेहरू का अपमान किया गया तो उनसे रहा नहीं गया तब दीनदयालजी ने कहा कि

“हमें आगे बढ़कर ग्राम-ग्राम में फैलकर समाज में आशा एवं विश्वास का संचार करना चाहिए और राष्ट्रद्रोहियों द्वारा पं. नेहरू को व्यांगकाई शोक बनाने के षड्यंत्र का परदाफाश करते हुए यह स्पष्ट रूप से घोषणा करनी चाहिए कि चीन के उस दुर्भाग्यपूर्ण परिच्छेद की पुनरावृत्ति भारतभूमि में न होने दी जाएगी।

हमारे सामने उस पन्ना धाय का आदर्श है जिसने उदय सिंह की रक्षार्थ अपने कलेजे पर पत्थर रखकर अपने पुत्र की ही बलि चढ़ा दी। वसीयत के रूप में प्राप्त राष्ट्र की अस्मिता, अखंडता और विश्व में सर्वष्ठरेघुर भारतीय संस्कृति एवं जीवन दर्शन की रक्षार्थ बड़े-से-बड़ा बलिदान करने में हम नहीं चूके।

जब जवाहरलाल नेहरू ने पूर्वी यूरोप के देशों की यात्रा की तो दीनदयाल जी ने कहा कि नेहरू जी ने भारत का संदेश रूस व पूर्वी यूरोप के उन क्षेत्रों तक पहुंचाया जहाँ पिछले पैंतीस वर्ष में दूसरे देश का आदमी तो क्या, परिंदा भी नहीं पर मार सकता था। उनकी यश-पताका दिग्दिगत में फहराई। यह सब हमारे लिए गौरव की बात है।’

सन् 1956 में ‘राज्य पुनर्गठन’ को लेकर देश में अशांति थी। नेहरू को विदेश यात्रा पर जाना था। विदेश यात्रा के स्थगन से दुनिया में भारत की आंतरिक अस्थिरता के बारे में भ्रम उत्पन्न होने की संभावना थी। तब उपाध्याय ने अपने दल का संपूर्ण समर्थन नेहरू को प्रदान करते हुए कहा कि “हमारी पं. नेहरू के साथ चाहे जितनी मतभिन्नता हो और चाहे जितना हम उनकी नीति के विरोध में दोलन चला रहे हों-मैं अपने प्रधानमंत्री को, जिस समय वे विदेश यात्रा पर गए हुए हैं, विश्वास दिलाता हूँ कि भारतीय जनसंघ की संभावनाएं एवं पूर्ण समर्थन इस समय उनके साथ है।”

दीनदयाल जी ने अपनी पूरी ईमानदारी व साहस से विभिन्न विषयों पर

अपने राजनीतिक विचार समय-समय पर व्यक्त किए। वे इन विचारों के माध्यम से जनसंघ के सर्वमान्य नेता के रूप में तो उभरे ही; परंतु इससे भी अधिक उनकी छवि एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभरकर सामने आई। यह जरूरी नहीं कि उनके विचार से सब लोग सहमत हों; लेकिन सभी यह स्वीकार करेंगे कि दीनदयाल उपाध्याय ने सदा वह मत सामने रखा जो उनकी विचारधारा के अनुकूल था और जिसे वे ईमानदारी से राष्ट्र के हित में समझते थे। साथ ही, उनमें अपने विरोधियों को उस समय समर्थन देने का साहस भी था जब वे उनके कार्यकलापों को देश के हित में समझते थे। इसी कारण सभी विचारकों का मानना है कि भारतीय राजनीति और भारतीय राजनीतिक चिंतन दोनों में ही दीनदयाल जी की महान् भूमिकाएँ रहीं। इसी संदर्भ में आचार्य कृपलानी का यह कथन उद्धरणीय है, “मैंने उन्हें एक व्यक्ति के रूप में सरल प्रवृत्तियों व ईमानदार दृष्टिकोण का पाया। ...वे मातृभूमि की एकता और अखंडता के पुजारी थे। जनसंघ में रहते हुए भी उन्होंने सदैव देशहित को दलीय हितों से ऊँचा स्थान दिया था। आधुनिक राजनीति में हम देखते हैं कि एक नेता दूसरे नेताओं की राजनीतिक आर्थिक नीतियों की आलोचना करते करते, व्यक्तिगत आलोचना पर उतर आता है। दीनदयाल और नेहरू जैसी लोकतान्त्रिक आलोचना का अब अभाव देखा जा रहा है .यही कारण है की आज भी दीनदयाल जी को हम आदर्श के रूप में मानते हैं और आगे भी मानते रहेंगे।

संघात्मक बनाम एकात्मक संविधान

मुसलमान हमारे शरीर का शरीर और हमारे खून का खून हैं।

भारत का संविधान दुनिया का सबसे बड़ा और लोकतान्त्रिक माना जाता है। लेकिन दीनदयाल जी ने अपने संविधान से संबंधित लेखों से जाहिर कर दिया कि वे संविधान के प्रति बहुत ज्यादा जागरूक थे। दीनदयाल जी भारतीय संविधान की संघात्मक संविधान रचना के विरुद्ध थे तथा एकात्मक संविधान के पक्ष में थे।

संघात्मक व एकात्मक शासन व्यवस्थाएँ वस्तुतः शासन की संरचनात्मक विविधताओं की परिचायक हैं; लेकिन दीनदयाल जी ने संघात्मक रचना का विरोध किया और एकात्मक संविधान का समर्थन किया संघराज्य में जो मूल राज्य इकाई होती है उस इकाई का आधार क्या हो? 'भारत विविध इकाइयों का संघ है 'अथवा एक भारत की विविध इकाइयाँ अंगभूत है? इस सवाल ने यह भावात्मक आयाम ग्रहण कर लिया था कि भारत एक राष्ट्र है या भारत एक बहुराष्ट्रीय समुदाय है? भारतीय संघात्मक संविधान के निर्माण में संरचनात्मक चिंतन की तुलना में यह भावात्मक मुद्दा अधिक प्रबल बन गया था। अंग्रेज तथा साम्यवादी विचारक भारत को एक बहुराष्ट्रीय समुदाय घोषित करते थे। भारतीय संघवाद में यह 'बहुराष्ट्रीय' भाव अंतर्निहित था। अतः दीनदयाल संघवाद के उग्र विरोधी बन गए।

दीनदयाल जी संविधान सभा में कहा कि "हम यह अनुभव करते हैं कि सभी लोगों को संगठित करने के लिए एक शक्तिशाली केंद्र की आवश्यकता है; लेकिन कुछ निर्देशों के कारण चाहे वे वास्तविक हों या काल्पनिक, हमें एक ऐसे केंद्र से संतोष करना है जिसको केवल तीन विषय दिए गए हैं, जिन्हें कि मंत्रिमंडल ने हमारे सामने रखा है। इस प्रकार हम प्रांतीय स्वशासन के सिद्धांत को अपनाकर काम कर रहे हैं जिसके अंतर्गत अवशिष्ट अधिकार प्रांतों के ही

होंगे। उन्होंने कहा कि हमारी तजबीज यह है कि एक 'बहुराष्ट्रीय राज्य' का निर्माण किया जाए जिसमें 'विभिन्न संस्कृतियों' को अपने विकास का पर्याप्त अवसर मिले।”

दीनदयाल जी ने कहा कि “यदि भारत के वर्तमान संविधान का विचार राष्ट्र की धारणा के मानदंड से करें तो हमें पता चलेगा कि उसमें संशोधन की आवश्यकता है। हमारा एक राष्ट्र है, हम एक जन हैं, इसलिए हमने भाषा, प्रांत, जाति, मजहब आदि के आधार पर मूलभूत अधिकारों में किसी भी भेदभाव को स्वीकार नहीं किया। हमने एक नागरिकता का सिद्धांत माना है। अलग-अलग प्रांत होते हुए भी अमेरिका की भांति यहाँ राज्य और संघ की अलग-अलग नागरिकता नहीं है। हम सब भारत के नागरिक हैं। इसी प्रकार हमने राज्यों को संघ से निकल जाने का अधिकार नहीं दिया। इतना ही नहीं, इन राज्यों की सीमाएँ और नाम क्या हो, यह निर्णय संसद ही कर सकती है, राज्यों के विधानमंडल नहीं। ये सब ठीक प्रावधान हैं। इतना होने पर भी हमने अपने संविधान को संघात्मक बनाया है, अर्थात् जो बात व्यवहार में रखी है वह तत्त्वतः अमान्य कर दी है। संघात्मक में इकाइयों की निजी सत्ता और प्रभुता होती है। वे एक समझौते के अनुसार अपने अधिकार केंद्र व संघ को सौंप देती हैं। हो सकता है कि वे इकाइयाँ अपने संपूर्ण अधिकार केंद्र को सौंप दें और इस तरह संघ अधिक अधिकार संपन्न हो सकता है; किंतु उसके सभी अधिकार उसे मिले हुए तथा सौंपे हुए रहते हैं। ऐसा कोई अधिकार नहीं जो उसका अपना ही हो। इस विचार से संविधान भारत के प्रांत की सत्ता को मूलभूत मानता है और केंद्र को राज्यों का समूहमात्र। यह सत्य के विपरीत है। भारत की एकता और अखंडता की धारणा का विरोधी है। इसमें भारतमाता की जीवनमान चैतन्यमयी कल्पना नहीं।

दीनदयाल जी ने संविधान के प्रथम अनुच्छेद का उदाहरण देते हुए कहा कि “इंडिया अर्थात् भारत राज्यों का संघ होगा।” अर्थात् बिहार-माता, बंग-माता, पंजाब-माता, कन्नड़-माता, तमिल-माता आदि माताओं को मिलाकर 'भारत-माता' बनेगी। यह हास्यास्पद कल्पना है। हमने प्रांतों की कल्पना भारत-माता के अंग के रूप में की है, अलग-अलग माताओं के रूप में नहीं। अतः हमारा संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक होना चाहिए।”

‘बहुराष्ट्रीय’ संघात्मक संविधान के निर्माण के लिए मूलभूत राज्य इकाई के निर्माण का आधार भाषा को बनाया जाना भी उपाध्याय को स्वीकार न था।

उन्होंने कहा कि आज भी नए-नए आघात हमारी संस्कृति पर किए जा रहे हैं। भाषावार प्रांतरचना इसका नमूना है। देश को क्षतविक्षत करना, यह अंग्रेज और कम्युनिस्टों का षड्यंत्र है। यह कहना कि प्रत्येक प्रांत की भाषा अलग-अलग है व संस्कृति भिन्न है, सैद्धांतिक भूल है। इस प्रकार विद्वेष फैलाने की आवश्यकता नहीं। इसलिए हमारा सिद्धांत यह है कि यह एक देश है, एक संस्कृति तथा एक ही राष्ट्रीयता है।”

दीनदयाल ने राज्य पुनर्गठन आयोग को दिए गए अपने प्रतिवेदन में कहा कि किसी प्रशासनिक इकाई की भाषा होना नुकसानदायक नहीं है। हम एक-भाषी व द्वि-भाषी राज्य कल्पना को अपना मूलभूत व एकमात्र आधार नहीं मान सकते हैं। अपने ऐतिहासिक भाषण में उन्होंने कहा कि, भाषा का प्रशासन में, विशेषकर प्रजातांत्रिक प्रशासन में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए सामान्यतः भाषाई सीमाएँ ही प्रदेशों की सीमाएं बन गई हैं; किंतु कुछ लोग भाषा का इतना अतिरेकी व एकात्मक विचार करते हैं कि उससे ‘उपराष्ट्रवाद’ की बू आने लगती है। जनसंघ उसे उचित नहीं समझता।”

दीनदयाल जी द्वारा संघवाद का विरोध व एकात्मवाद का समर्थन राजनीतिशास्त्र की तत्संबंधी स्थापित मान्यताओं के आधार पर प्रतिपादित नहीं हुआ है। राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण व भारतीय समाज की मूल शासनिक इकाई जनपद व पंचायत के पुनर्स्थापन के समर्थन में उनके द्वारा ‘एकात्मक राज्य’ का प्रतिपादन हुआ है। राजनीतिशास्त्र की स्थापित मान्यताओं के अनुसार तो ‘संघीय सरकार’ सत्ता के ‘विकेंद्रीकरण’ व एकात्मक सरकार सत्ता के ‘केंद्रीकरण’ की प्रतीक होती है।

दीनदयाल अपनी भिन्न विवेचना प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार हमारे संविधान द्वारा स्वीकृत ‘संघवाद’ राष्ट्रीय विघटन का प्रतिपादन करता है, सत्ता के विकेंद्रीकरण का नहीं, जबकि ‘एकात्मवाद’ राष्ट्रीय एकात्मता तथा सत्ता के विकेंद्रीकरण का प्रतिपादक है। अपनी एकात्मक शासन की कल्पना को स्पष्ट करते हुए ‘सिद्धांत और नीति’ प्रलेख में वे लिखते हैं, “एक देश, एक जन और एक संस्कृति के आधार पर राष्ट्रीय एकात्मता के लिए पोषक और उसकी अभिव्यक्ति का सफल उपकरण, एकात्मक राज्य संविधान ही हो सकता है। संघात्मक संविधान की कल्पना राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक है।

दीनदयाल जी लिखते हैं कि भारत की राज्यव्यवस्था तथा लोकजीवन के विकास में जनपदों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। अतः वर्तमान प्रदेशों का ऐतिहासिक एवं लोकव्यवहार के आधार पर जनपदों में परिसीमन होना चाहिए। वहाँ निर्वाचित जनपदसभाओं को शासन के अधिकार हों। जनपदों के अंतर्गत जिले, विकासखंड और पंचायतें बनाई जाएँ। संपूर्ण देश के लिए विधान बनाने का अधिकार संसद को हो। जनपद सभाओं को क्षेत्रीय आवश्यकताओं के अनुसार उपविधियों के निर्माण का तथा विधान विशेष के लिए संसद को अभिस्ताव करने का अधिकार हो। संवैधानिक राज्यपालों के स्थान पर विभिन्न जनपदों के कार्यो को समन्वित करने के लिए प्रदेशीय अथवा क्षेत्रीय आधार पर प्रशासक नियुक्त हों। विभिन्न निकायों के बीच शक्ति और साधनस्रोतों का इस प्रकार विभाजन किया जाए कि प्रत्येक आत्मनिर्भर होकर उत्तरदायी स्वायत्तता का उपभोग कर सके।

दीनदयाल इस विषय पर कहते हैं कि एकात्मक राज्य का अर्थ अत्यंत स्वेच्छाचारी राज्य नहीं, और न उसका अर्थ—यह है कि प्रांत समाप्त कर दिए जाएँ। प्रांतों का अधिकार रह सकता है, रहेगा; बल्कि प्रांतों के नीचे भी जो और बाकी संस्थाएँ हैं, जैसे कि जनपद हैं, उनको भी अधिकार रहेंगे। इसी प्रकार पंचायतों को अधिकार चाहिए। हमारी परंपरा में पंचायतों का बहुत ऊँचा स्थान है। पंचायतों को कोई नष्ट नहीं कर सकता था; किंतु आज हमारी इन पंचायतों का स्थान हमारे संविधान में नहीं है। पंचायतों की कोई अपनी सत्ता नहीं है। पंचायतें तो केवल प्रदत्त सत्ता के नाते से और राज्य सरकारों की कृपा से पैदा होती है। आवश्यकता है कि उनकी स्वयंभू सत्ता स्वीकार की जाए। इस प्रकार सत्ता का विकेंद्रीकरण होगा, शक्ति नीचे तक जाएगी। शक्ति के कई स्थान होंगे; किंतु इस सबके एक केंद्र के नाते हमारा एकात्मक राज्य होगा।

दीनदयाल जी 'एकात्मक राज्य को राष्ट्रीय एकता, अखंडता व सुरक्षा की दृष्टि से सशक्त केंद्र वाला राज्य मानते हैं। समाज व्यवस्था के नियमन में उसका अधिक हस्तक्षेप नहीं होगा "समाज की व्यवस्था तथा उसके जीवन का नियमन करने वाली, व्यवस्था देखने वाली, समाज की अनेक संस्थाएँ हैं। उनका प्रादेशिक और व्यावसायिक दोनों आधारों पर गठन हुआ है। पंचायतें और जनपद सभाएँ हमारे यहाँ रही हैं। बड़े-से-बड़े चक्रवर्ती सार्वभौम राजा

ने भी कभी पंचायतों को समाप्त नहीं किया। इसी प्रकार व्यावसायिक संगठन भी रहे, उन्हें भी किसी ने समाप्त नहीं किया; अपितु उनकी स्वायत्तता को सदैव स्वीकार किया गया। अपने-अपने क्षेत्र में उन्होंने नियम बनाए। जाति की पंचायतें, श्रेणियों, पूरा, निगम, ग्राम पंचायतें तथा जनपद सभाएँ आदि संस्थाएँ स्वतंत्र नियम बनाती थीं। राज्य का काम यही था कि इन नियमों का पालन होता है या नहीं, यह देखें। राज्य ने कभी उनके मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया। इस प्रकार हमारे यहाँ राज्य तो जीवन के थोड़े से हिस्से को ही छूता था।”

दीनदयाल जी कहा कि ‘एकात्मक राज्य’ कल्पना को जनपदीय व पंचायती स्वराज्य कहते हैं; लेकिन ये जनपद या पंचायतें मिलकर भारतीय संघ का निर्माण नहीं करतीं, वरन् ये सभी भारतीय एकात्मक राज्य की अंगभूत संवैधानिक इकाइयाँ हैं। पहले इन इकाइयों को पृथक-पृथक करना तथा बाद में उन्हें कृत्रिम रूप से संघबद्ध करना वे उचित नहीं समझते।

दीनदयाल जी एक स्थान पर लिखते हैं कि एकात्मक राज्य का अर्थ केंद्रीयतावादी शासन नहीं है। केंद्रीकरण व विकेंद्रीकरण की तुलना से एकात्मक व संघात्मक शासन व्यवस्थाएँ का कोई संबंध नहीं है। यदि सत्ता को हमने जिला परिषदों तक विकेंद्रित किया तो क्या भारत जिलों के संघ के रूप में परिवर्तित हो जाएगा।

दीनदयाल जी के अनुसार एक संघात्मक ढाँचा भी शक्तियों के केंद्रीकरण वाला हो सकता है, जैसा कि हमारा वर्तमान ढाँचा प्रशासनिक नौकरशाहीकरण के कारण बना हुआ है तथा एकात्मक ढाँचा अपनी अंगभूत संवैधानिक इकाइयों को संवैधानिक और जनतांत्रिक स्वायत्तता प्रदान कर, राजनीतिक सत्ता के विकेंद्रीकरण को योग्य व्यवहार दे सकता है।

‘दीनदयाल जी द्वारा वर्णित शासन-व्यवस्था में कहा कि ‘एकात्मक शासन’ की संरचनात्मक तकनीकी के विषय में व्यावहारिक राज्यशास्त्र के लिए अपेक्षित सब बातों का कोई क्रमबद्ध विवेचन उपाध्याय ने नहीं किया। उन्होंने संघात्मक व एकात्मक शासन की मान्य अवधारणाओं के प्रकाश में संस्थापित संरचनाओं का खंडन-मंडन नहीं किया। अपनी स्वतंत्र भावभूमि एवं राष्ट्रीय परिवेश में उन्होंने अपने विचार प्रस्तुत किए। एक कटु सत्य को उजागर किया जिसकी कि वास्तव में उपेक्षा हो गई थी। संघात्मक व एकात्मक बने-बनाए ढाँचों में से एक को चुनना या दोनों का कुछ-कुछ

लेकर ढाँचा बनाने के प्रयत्न के कारण भारतीय स्थानीय स्वशासन की स्वयंभू इकाई 'ग्रामपंचायत' की उपेक्षा हुई।

बाबू जयप्रकाश नारायण अपनी दीनदयाल जी की बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "स्वराज्य के बाद हमारे देश की गाड़ी विपरीत दिशा में कैसे मुड़ गई, इसके कारण तलाशने की आवश्यकता है। गांधीजी चाहते थे कि भारतीय राज्य की इमारत 'ग्रामस्वराज्य' की बुनियाद पर खड़ी की जाएगी; किंतु स्वतंत्र भारत का संविधान बनाते समय हमने कहीं अमेरिका की नकल की, कहीं इंग्लैंड के संविधान के अंश ज्यों-कै-त्यों ले लिए और कहीं दूसरे देशों की कल्पना के चिथड़े जोड़कर अपने संविधान की गुदड़ी तैयार कर ली।"

"एक उदाहरण दूँ। जब संविधान का संपूर्ण मसविदा तैयार हो गया तब किसी ने, श्री संधानम् ने या श्री टी. प्रकाशम ने, ध्यान खींचा कि गांधीजी ने 'ग्रामस्वराज्य' की कल्पना को स्वराज्य के ढाँचे की बुनियाद माना था; किंतु हमारा संविधान तो इससे सर्वथा विपरीत बन गया है। उन्होंने संविधान सभा के अध्यक्ष डीण् राजेंद्र प्रसाद से बात की। डॉ. राजेंद्र प्रसाद को धक्का लगा। उन्होंने तुरंत संविधान सभा के कानून निष्णात डॉ. राव को बुलवाया और उनके सामने यह बात रखी।

डॉ. राव ने कहा कि अब यदि हम ग्रामस्वराज्य की बुनियाद बनाकर यह संविधान सुधारने बैठेंगे तो उसका सारा स्वरूप ही बदल जाएगा। नेहरू और सरदार के कानों तक भी बात पहुँच गई। उन्हें भी लगा कि अब संविधान सुधारने में बहुत वक्त लग जाएगा। इस संबंध में कुछ आवेशपूर्ण चर्चाएँ भी हुई; परंतु इन सबसे अंत में मात्र इतना ही निष्कर्ष निकला कि संविधान में एक धारा बड़ी जिसमें राज्यों को यह निर्देश दिया गया कि संविधान के मूल मार्गदर्शक सिद्धांतों को ध्यान में रखकर ग्राम पंचायत को स्वशासन की इकाई माना जाए। राष्ट्रीय क्रांति के केंद्र रूप गांधीजी के इस राजनीतिक विचार को हमारे संविधान में मात्र इतना ही स्थान मिल सका। मैं ऐसा मानता हूँ कि उलटी दिशा में जाने की यह पहली महत्वपूर्ण शुरुआत थी।"

महात्मा गांधी भी अखंड मंडलाकार समाज रचना के समान ही सामुद्रिक वर्तुलाकार समाज रचना के पक्षपाती थे। उपराष्ट्रीयताओं के विघटनवादी खतरे तथा जनतंत्र की मूल इकाई ग्रामपंचायत की उपेक्षा के समाधान में उपाध्याय ने अपने 'एकात्म शासन' को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया। उनका भावात्मक अधिशन यदि संरचनात्मक तर्कशुद्धता को प्राप्त कर सके तो उनका यह चिंतन भारतीय राजनीतिशास्त्र के लिए मौलिक व महत्वपूर्ण देन हो सकती है।

भारतीय साम्यवादी दल

विविधता में एकता और विभिन्न रूपों में एकता की अभिव्यक्ति भारतीय संस्कृति की विचारधारा में रची-बसी हुई है।

दीनदयाल जी ने जिस दल का सर्वाधिक विरोध किया है वह भारत का साम्यवादी दल है। दीनदयाल साम्यवादी दल के आलोचक थे। राष्ट्रीय एकात्मता और अखंडता जनसंघ के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व प्रिय विषय था। संवेगात्मक देशभक्ति और भारतीयता उसकी कर्मप्रेरणा का अधिशन थी। अतः साम्यवादी दल और भारतीय जनसंघ दो समानांतर ध्रुवों का प्रतिनिधित्व करते थे। साम्यवादियों ने सर्वाधिक राजनीतिक आलोचना जनसंघ की ही की है तथा जनसंघ ने साम्यवादी दल की उतनी ही निंदा की है।

दीनदयाल साम्यवादी आर्थिक प्रयोगों को अच्छा मानते थे। उसमें समतावाद की सामाजिक अंतर्दृष्टि उन्हें वरेण्य लगती थी। एक स्थान पर दीनदयाल जी लिखते हैं कि “चीन की अर्थव्यवस्था का चित्रण भी ‘ऑब्जेक्टिवली’ नहीं हुआ है। चीन से सीखने लायक बहुत कुछ हो सकता है, और उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण यही, कि जिस प्रकार चीन ने रूस की अंधी नकल न करके कम्युनिज्म को अपना जामा पहनाया, उसी प्रकार भारतीय पृष्ठभूमि में रूस और चीन के तथाकथित साम्यवादी कार्यक्रम लेने के स्थान पर भारतीय जीवन का आर्थिक विकास करें। फिर उस विकास की रूपरेखा का साम्यवाद से कोई साम्य हो तो आपत्ति नहीं।”

लेकिन राजनीतिक एवं भावनात्मक दृष्टि से यह भारत भक्ति से शून्य ही नहीं, उपाध्याय इसे राष्ट्रविरोधी भी मानते हैं। उनके अनुसार तिब्बत पर

चीनी अधिकार का स्वागत, भारत पर चीनी आक्रमण को सीमा विवाद बताना तथा चीनी की सेना को 'मुक्ति सेना' कहकर प्रचारित करना राष्ट्रद्रोहात्मक कृत्य थे। द्वितीय महायुद्ध के समय भी सोवियत रूस व अंग्रेजों के समझौते के कारण भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने 'अंग्रेजपरस्त' होकर आजादी के आंदोलन के साथ विश्वासघात किया था। इस संदर्भ में उपाध्याय के ये शब्द उल्लेखनीय हैं- "जहाँ तक कम्युनिस्टों का संबंध है, जनसंघ उनके असली रंग को जानता है। वह केवल कम्युनिस्ट पार्टी को ही स्थायी पंचमांगी तत्त्व नहीं मानता; अपितु कम्युनिज्म को वह भारतीय संस्कृति और मानवता के विरुद्ध मानता है और इसलिए वह दोनों का कट्टर विरोधी है।"

दीनदयाल जी ने खा कि "हर देशभक्त भारतीय का कर्तव्य है कि वह इस बात पर नजर रखे कि कम्युनिस्टों को ऐसी शक्ति प्राप्त न होने पाए कि वे किसी दिन भारत की स्वतंत्रता और सुरक्षा को ही गंभीर खतरे में डाल सकें।"

सन् 1957 के द्वितीय महानिर्वाचन के बाद केरल में प्रथम गैरकांग्रेसी साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई थी। पाँच निर्दलीय सदस्यों को मिलाकर कम्युनिस्ट पार्टी ने सदन में दो तिहाई बहुमत प्राप्त कर लिया था। उसे 35 प्रतिशत लोकप्रिय मत प्राप्त हुआ था। उपाध्याय के अनुसार यह साम्यवाद की लोकप्रियता के कारण नहीं; वरन् कांग्रेस के ईसाईवाद एवं मुसलिम लीग की इसलामवाद के समानांतर ध्रुवीकृत हुए हिंदू वोट को कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा भुनाने का परिणाम था- "कम्युनिस्टों ने हिंदुत्व की भावना का लाभ उठाकर अपना उन्न सीधा करना प्रारंभ कर दिया। परिणाम हुआ साम्यवादी शासन।"

साम्यवादी सरकार अपनी दमनकारी पुलिस नीति के कारण बहुत बदनाम हुई। उसके खिलाफ प्रारंभ में गैरदलीय जन-आंदोलन श्रीमन्नाथ पद्मनाभन के नेतृत्व में प्रारंभ हुआ। बाद में सभी गैर-साम्यवादी दल इसमें आ जुटे। तत्कालीन कांग्रेस की अध्यक्ष श्रीमती इंदिरा गांधी की इसमें विशेष भूमिका थी। साम्यवादी दल तिब्बत एवं हिमालयी भारतीय सीमा पर चीनी आक्रमण का न केवल विरोध नहीं कर रहा था वरन् चीन का मुखर समर्थक बना हुआ था। केरल के साम्यवादी सरकार-विरोधी आंदोलन को इस तथ्य ने भी बल प्रदान किया। इसलिए भारतीय जनसंघ ने साम्यवादी दल की चीनपरस्ती को ही आलोचना का मुख्य मुद्दा बनाया। अंततः राष्ट्रपति शासन लागू हुआ।

साम्यवादी सरकार को बरखास्त किया गया। इस घटनाचक्र से उपाध्याय ने यह निष्कर्ष निकाला कि “तिब्बत और केरल ने प्रमाणित कर दिया है कि भारतीय जनता मूलतः कम्युनिस्ट विरोधी है।”

वस्तुतः कम्युनिस्ट सरकार की दमन नीति के खिलाफ उठे जनक्रोश को जनसंघ तथा कांग्रेस ने साम्यवादी केरल सरकार के विरुद्ध राजनीतिक रूप से भुनाया। भारत के अनेक वरिष्ठ राजनीतिज्ञों ने इसे गलत माना था। विशेषकर एक निर्वाचित सरकार को राष्ट्रपति शासन द्वारा गिराना चक्रवर्ती राजाजी जैसे लोकतंत्रवादियों को अच्छा उदाहरण नहीं लगा था। हिंदू महासभा तथा स्वातंत्र्यवीर सावरकर ने हिंदू मतों के आधार पर विजयी साम्यवादी दल की सरकार को अपना समर्थन दिया। इस संबंध में उपाध्याय ने अपना मत प्रस्तुत किया कि- “कतिपय संविधान पंडितों ने कम्युनिस्ट विरोधी होते हुए भी केरल के जन-आंदोलन के विरोध में अपना मत प्रकट किया। ...केरल मंत्रिमंडल के पतन पर आँसू बहाने वालों की संख्या उँगली पर गिनी जा सकती है। जनता के सहयोग से भारत को ‘लाल’ बनाने का स्वप्न देखना निरर्थक है। जनतांत्रिक विधियों से भारत में कम्युनिस्ट सत्ता स्थापित होना और टिके रहना असंभव है।”

लगता है साम्यवाद विरोधियों के लिए तो केरल सरकार का साम्यवादी होना मात्र इतना बड़ा अपराध था कि राष्ट्रपति द्वारा उसकी बर्खास्तगी उनको जायज लगी; लेकिन वस्तुतः यह कोई अच्छी घटना नहीं थी। एक विरोधी दल की सरकार को केंद्र द्वारा समाप्त किया गया। उसे पाँच साल काम करने का अवसर नहीं दिया गया। सरसंघचालक गोलवलकर भी केरल सरकार को इस प्रकार गिराने के विरुद्ध थे; लेकिन जनसंघ ने दीनदयाल उपाध्याय के नेतृत्व में इस संदर्भ में जो भी निर्णय लिया, वे बाधा नहीं बने तथा न ही सार्वजनिक रूप से अपने मत का इजहार किया है।

दीनदयाल उपाध्याय की संसार भर के साम्यवादी दलों से यह शिकायत थी कि साम्यवादी शासन में आने पर समाज व राजनीतिक दलों के लोकतांत्रिक अधिकारों को छीन लेते हैं; लेकिन जब वे वहाँ सत्ता में नहीं होते तो अपने षड्यंत्रकारी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लोकतांत्रिक अधिकारों का उपयोग जन-असंतोष को भड़काने में करते हैं। उदाहरणार्थ, सन् 1962 व 1965 के खर्चीले युद्धों के कारण जो देश की अर्थव्यवस्था पर एक भार

पड़ा था, परिणामस्वरूप देश को अनेक अभावों का सामना करना पड़ा, अन्य संकट एक बड़ी चुनौती थी। उसका सामना करने के लिए उपाध्याय ने समाज से आह्वान किया कि सप्ताह में एक दिन सोमवार को निराहार रहें, अथवा कम-से-कम अन्नाहार न करें; जबकि कम्युनिस्टों ने अन्न संकट के लिए सरकार के खिलाफ आंदोलन शुरू किया। उपाध्याय ने इसे लोकतंत्र पर चोट करने वाला लोकतांत्रिक अधिकारों का दुरुपयोग माना। इस प्रवृत्ति के खिलाफ उन्होंने संगठित होने का आह्वान किया।

साम्यवादियों द्वारा चलाए गए इन आंदोलनों में संसोपा ने भी भाग लिया। इस संदर्भ में उपाध्याय ने लिखा- “संसोपा व कम्युनिस्टों ने मिलकर प्रजातंत्र को चुनौती दी है। वे एक ऐसी स्थिति पैदा करना चाहते हैं कि व्यवस्था नाम की कोई चीज न रह जाए। इस चुनौती का सामना कैसे किया जाए? कौन इस बीड़े को उठाएगा? नि संदेह उन सभी लोगों को जो प्रजातंत्र में श्रद्धा रखते हैं, संगठित होकर प्रजातंत्र विरोधी शक्तियों का मुकाबला करना होगा। भारत की एकता के लिए प्रजातंत्र जरूरी है।”

साम्यवादी दल के साथ अपने मूल मतभेदों के कारण जनसंघ की यह नीति थी कि साम्यवादियों के साथ कभी गठजोड़ नहीं करेंगे; लेकिन राजनीतिक परिस्थितियों ने उसका यह संकल्प निभाने नहीं दिया। स्थितियाँ ऐसी उत्पन्न हुईं कि उन्हें कम्युनिस्टों के साथ काम करना पड़ा। सबसे पहले सर 1956 में ‘संयुक्त महाराष्ट्र समिति’ के कम्युनिस्ट नेतृत्व के बावजूद जनसंघ ने यह तय किया कि वह इस समिति के साथ जन-आंदोलन में भाग लेगा। फिर सर 1956 में दिल्ली नगर निगम में साम्यवादी-जनसंघ गठजोड़ के कारण श्रीमती अरुणा आसफ अली साम्यवादी दल की ओर से दिल्ली की महापौर व केदारनाथ साहनी दिल्ली के उपमहापौर बने। काफी बहस-मुबाहिसा के बाद सन् 1967 में बिहार में बनी प्रथम गैर-कांग्रेसी सरकार में जनसंघ कम्युनिस्टों के साथ सत्ता में आया तथा बाद में प्रदेशों में बनी सभी गैर-कांग्रेसी सरकारों में जनसंघ व कम्युनिस्ट साथ-साथ सत्ता में सहभागी हुए। सामान्यतः उपाध्याय सिद्धांतवादी एवं सत्तानिरपेक्ष राजनेता थे; लेकिन जब लोगों ने जनसंघ के इस व्यवहार को ‘सत्तालोलुप व सिद्धांतहीन’ व्यवहार बताकर आलोचना की तो उन्होंने इसकी सफाई इस तरह दी- “राजनीति में जहाँ सत्ता को ही जनता की सेवा का तथा अपने

आदर्श को साकार करने का एकमात्र साधन माना जाता है, वहाँ सत्ता की भूख और ईमानदारी पूर्वक सत्ता की आकांक्षा के बीच अंतर बहुत कम होता है। जनसंघ सदस्यों का भावी व्यवहार दर्शाएगा कि उक्त व्यवस्था के अनुसार प्राप्त पद का दायित्व वे किस तरह और किस सीमा तक उत्तरदायित्व पूर्वक निभाते हैं।” में लगता है उपाध्याय ने यह सफाई बहुत हिचकिचाते हुए की है।

इसीलिए इसमें तर्क की वह शक्ति नहीं है जो दीनदयाल के चिंतन का एक सहज एवं महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दीनदयाल उपाध्याय ऐसे गठजोड़ों के समर्थक नहीं थे। उपर्युक्त कथन उपाध्याय द्वारा सन् 1956 में दिल्ली नगर निगम में हुए जनसंघ-साम्यवादी गठबंधन के समय कहा गया था। तब उपाध्याय ने बहुत प्रयत्न किया था कि कांग्रेस चुनाव लड़ने का मत त्याग दे तथा नगर निगम में क्रमशः सर्वदलीय महापौरों की व्यवस्था हो; लेकिन कांग्रेस ने चुनाव की जिद्द की, परिणामतः उक्त गठबंधन करना पड़ा।

इस प्रकार राजनीतिक परिस्थितियों ने दीनदयाल से भी समझौते करवा लिए। यह एकसिद्धांतवादी राजनेता एवं सत्ता समीकरण की राजनीतिक परिस्थितियों के मध्य चलने वाले अंत संघर्ष का परिचायक, ध्यान देने योग्य तथ्य है।

आर्थिक चिंतन

संघर्ष सांस्कृतिक स्वभाव का एक संकेत नहीं है बल्कि यह उनके गिरावट का एक लक्षण है।

दीनदयाल जी को समकालीन भारत का चाणक्य का जाता है . उन्होंने अपने समय में न सिर्फ राजनीतिक प्रतिपादन किया बल्कि आर्थिक नीतियों की व्याख्या एवं विश्लेषण भी बड़े पैमाने पर किया किया है यही कारण है कि उनकी आर्थिक मुद्दों पर पकड़ के कारण उनको एक अर्थशास्त्री के रूप में भी जाना जाता है. उन्होंने कहा कि कुछ आर्थिक क्षेत्रों में कई संस्थाएं सृजित की गईं। हमारे आर्थिक ढाँचे की क्या प्रकृति अथवा व्यवस्था हो, हमें इसे देखना लाजिमी है। हमारी आर्थिक व्यवस्था उस तरह की हो जिसमें हमारी संस्कृति, मानवीय गुण तथा राष्ट्रीय धरोहर पुष्पित एवं पल्लवित हो और उसमें निरंतर विकास होता रहे। हमें अपनी बुराइयां तथा कुरीतियाँ त्याग कर ऊँचाइयों पर पहुंचाना ही हमारी व्यवस्था का उद्देश्य है। हमारी धारणा है कि मानवीय गुणों के निरंतर विकास की प्रक्रिया से ही संपूर्णता और भगवान तक पहुंचा जा सकता है। यदि हमें इस लक्ष्य तक पहुंचना है तो हमारी आर्थिक प्रणाली का ढाँचा तथा विनियम कैसे होने चाहिए, अब जरा इस बात पर विचार करें।

आर्थिक प्रणाली

देश के विकास और देशवासियों की दैनिक वस्तुओं की संपूर्ति के लिए और उत्पादन वृद्धि के लिए आर्थिक प्रणाली का महत्त्वपूर्ण योगदान है जिसे हर स्थिति में पूरी करने का उद्देश्य लेकर इस व्यवस्था को नए कीर्तिमान स्थापित करने चाहिए? मूलभूत आवश्यकताओं की संपूर्ति के उपरांत अधिक

समृद्धि और विकास के लिए क्या और अधिक उत्पाद किया जाना चाहिए। यह प्रश्न बार-बार उठता है और हम पाते हैं कि पाश्चात्य समाज इस बात को काफी आवश्यक समझता है कि अधिक से अधिक इच्छाएं जीवन में हों और उन इच्छाओं की पूर्ति के लिए हर संभव प्रयास किए जाएं। सामान्यतया होता यही है कि इच्छा के अनुरूप ही व्यक्ति उत्पादन करता है। लेकिन स्थिति अब बदल चुकी है। लोग अब उत्पादन के अनुरूप उसका प्रयोग करते हैं।

पाश्चात्य आर्थिक आंदोलन

मांग के अनुरूप उसका उत्पादन करने के बजाए तो बाजार अनुसंधान के जरिए मांग के सृजन के लिए प्रयास किए जाते हैं। पहले उत्पादन माँग के अनुसार होता था जबकि आज माँग उत्पादन के अनुसार है। यही पाश्चात्य आर्थिक आंदोलन की प्रमुख पहचान है। चाय का ही हम उदाहरण लें। चाय का उत्पादन इसीलिए है क्योंकि लोग चाहते हैं और उसे मांगते हैं। अब उसका उत्पादन वृहद स्तर पर है और लोगों के वह मुँह लग चुकी है और सामान्य उपयोग की वस्तु बन गई है। इतना ही नहीं आज वह हमारे जीवन का अंग बन गया है। इसी तरह वनस्पति घी का उदाहरण लें तो हम पाएंगे कि कोई भी इसे प्रयोग में नहीं लाना चाहता था। पहले इसका उत्पादन हुआ फिर हमें बताया गया कि इसका प्रयोग करें। यदि उत्पादित माल का उपयोग नहीं किया गया तो स्वाभाविक रूप से उसमें संकुचन हुआ।

1930-32 के वाक्ये को कौन नहीं जानता। जब माल था लेकिन उसकी मांग नहीं थी। अतः फैक्ट्रियों को बंद करना पड़ा। दिवालियापन तथा बेरोजगारी चारों तरफ देखी गई। इस प्रकार अब यह अत्यंत आवश्यक है कि जो कुछ भी उत्पादित हो रहा है उसका उपयोग किया जाए।

आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य

साप्ताहिक 'ऑर्गनाइजर' के संपादक एक बार अमेरिका गए जहाँ से लौट कर उन्होंने एक मजेदार घटना सुनाई। उन्होंने बताया कि अमेरिका में एक कंपनी आलू छीलने का उत्पाद बनाती थी। उत्पादन काफी बढ़ने के बाद जब इसकी बिक्री कम होने लगी तो कंपनी ने इसके विक्रेताओं की बैठक बुलाई कि किस तरह इस उत्पाद की बिक्री बढ़ाई जाए ताकि सभी

उपभोक्ता इसे बार बार खरीदने के लिए प्रेरित भी हों और विवश हों। एक सुझाव दिया गया कि इसकी पैकिंग बेहतर कर दी जाए ताकि लोग इसे नया समझ कर इसका प्रयोग करने लगे। एक सुझाव यह आया कि इसका रंग बिलकुल आलू के छिलके की तरह कर दिया जाए ताकि आलू के छिलकों के साथ चाहे गलती से ही, लोग इसे कूड़े में डाल दें और नए की मांग करें।

हालांकि यह कदम कोई अच्छा नहीं था लेकिन कंपनी ने ऐसा ही किया और उसकी मांग दिन पर दिन बढ़ती गई और अधिशेष स्टॉक बिक गया। लोगों की आवश्यकताओं और मांग को संतुष्ट न कर नई मांग का सृजन करना आज के आधुनिक अर्थशास्त्र का उद्देश्य बन गया है। पुराना फेंको नए खरीदो ही उनका आज का गणित है। माना कि हमें सीमित प्राकृतिक वस्तुओं की कोई चिंता नहीं है लेकिन प्राकृतिक संतुलन के लिए तो हमें चिन्ता करनी होगी। अतः बढ़ती हुई इच्छाओं के कारण उत्पादों को बनाया जा रहा है ताकि ग्राहक संतुष्ट हो सकें लेकिन दूसरी तरफ जो नई समस्याएं जन्म ले रही हैं, उस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता। जिससे सभ्यता और मानवता दोनों के लिए खतरा पैदा हो गया है।

अतः यह आवश्यक है कि प्राकृतिक संसाधनों का हम उतना ही दोहन करें जिसके लिए वह सक्षम हों। फलों की प्राप्ति के लिए पेड़ों को तहस-नहस नहीं किया जाता क्योंकि इससे उन पर असर तो होगा ही। लेकिन अमेरिका में अधिक उत्पादन के लिए जिन रसायनों का प्रयोग वहाँ की जमीन पर हुआ था, वह आज उपज योग्य नहीं रही। लाखों एकड़ ऐसी भूमि आज अमेरिका में है जिस पर खेती नहीं हो सकती। यह विनाश कब तक चलेगा?

आर्थिक प्रणाली द्वारा संसाधनों का उपयोग

दीनदयाल जी ने लिखा है कि जब मशीनों का धीरे-धीरे मूल्य ह्रास हो जाता है और बाद में वे बेकार पड़ जाती हैं तो उन मशीनों को खरीदने के लिए मूल्य ह्रास के लिए हम कब फंड बनाएंगे। इस दृष्टिकोण से हमें यह एहसास कर लेना चाहिए कि हमारी आर्थिक प्रणाली को उपलब्ध संसाधनों का इस तरह उपयोग करना चाहिए ताकि वह भविष्य के उपयोग के लिए वह बंजर न हो जाए। उद्देश्यपूर्ण जीवन, खुशहाली तथा प्रगति के लिए भौतिक उद्देश्यों पर सकारात्मक चिंतन आवश्यक है। प्रकृति ने मानव

के लिए सब कुछ व्यवस्था की है लेकिन उपभोग और उत्पादन की अंधी दौड़ ने हमें इस तरह का बना दिया है कि हम सोचते हैं कि मानव उपभोग के लिए ही पैदा हुआ है। विधिवत कार्य करने के लिए इंजन को कोयले की आवश्यकता है लेकिन वह केवल कोयले के उपयोग के लिए ही नहीं बना है। हमें यह देखना होगा कि न्यूनतम कोयले के प्रयोग से अधिकतम ऊर्जा हम कैसे ले सकते हैं। आर्थिक दृष्टिकोण भी ऐसा ही होना चाहिए।

न्यूनतम उपभोग अधिकतम शक्ति

दीनदयाल जी ने लिखा है कि मानव के बारे में भी हमें यही सोचना होगा कि न्यूनतम उपभोग से वह अधिकतम शक्ति कैसे प्राप्त करे। यही प्रणाली तो सभ्यता कहलाएगी जिसमें मानव के हर पहलू पर ध्यान देना होगा, यहाँ तक कि उसके परम लक्ष्य को हमें देखना होगा। इस प्रणाली से हम प्रकृति का दोहन अपनी आवश्यकतानुसार ही करेंगे जिसके साथ-साथ उसका पालन-पोषण भी हमारा दायित्व होगा। प्रकृति के साथ एक शिशु की तरह जीना हमारा उद्देश्य होना चाहिए न कि उसके दोहन में लीन होकर विनाश करना। तभी जाकर एक संतुलन स्थापित होगा और जीवन फलेगा-फूलेगा।

आर्थिक विषय वस्तु का केन्द्र बिन्दु मूल्य नहीं

दीनदयाल जी ने लिखा है कि इस तरह का मानवीय दृष्टिकोण आर्थिक प्रणाली को प्रेरित करता है जिससे हमारे चिंतन में आर्थिक प्रश्न नए रूप ले लेंगे। पश्चिमी अर्थशास्त्र में चाहे वह पूंजीवादी व्यवस्था हो अथवा सामाजिक मूल्य की स्थिति अत्यंत महत्वपूर्ण है। सभी आर्थिक विषय वस्तु का केन्द्र बिन्दु मूल्य पर आधारित है। मूल्य का विश्लेषण काफी महत्वपूर्ण है जो अर्थशास्त्रियों के दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण है। लेकिन सामाजिक दार्शनिक जो मूल्य पर ही आधारित है, इसे अपूर्ण, अमानवीय तथा कुछ हद तक तथ्यहीन मानते हैं। उदाहरण के लिए एक नारा जो हमेशा ही प्रयोग में लाया जाता रहा है, वह है कि “प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिए रोटी कमाना है।” सामान्यतया कम्यूनिस्ट इस नारे का प्रयोग करते हैं लेकिन पूंजीवादी भी इसे अस्वीकार नहीं करते। यदि उनके बीच में कोई मतभेद है, वह केवल इतना ही है कि कोई कितना कमाता है और कितना जमा करता है। पूंजीवादी यह मानते हैं कि पूंजी और उद्यम दोनों ही पूंजीगत व्यवस्था के अनिवार्य घटक हैं और यदि ये लाभ के प्रमुख अंश प्राप्त करते हैं तो

वे इसे इनकी योग्यता का मापदण्ड मानते हैं। दूसरी ओर कम्यूनिस्ट केवल श्रम को ही उत्पादन का प्रमुख उपादान मानते हैं। इन दोनों में से कोई भी विचार उपयुक्त नहीं है।

वास्तविक रूप से हमारा नारा यह होना चाहिए कि जो कमायेगा वह खिलाएगा और हर एक के पास खाने के लिए पर्याप्त होगा। भोजन की प्राप्ति तो जन्मसिद्ध अधिकार है। कमाने की योग्यता शिक्षा और प्रशिक्षण है। समाज में जो कमाता नहीं है उसे भी भोजन का अधिकार है। बच्चे और बूढ़े, बीमार तथा अपाहिज सभी कमाते तो नहीं हैं लेकिन खाने के अधिकारी हैं। आर्थिक प्रणाली इस कार्य के लिए मुहैया करवाई जानी चाहिए। विज्ञान के रूप में अर्थशास्त्र इस उत्तारदायित्व के लिए उत्तारदायी नहीं है। एक आदमी केवल रोटी के लिए ही नहीं कमाता, वह अपने उत्तारदायित्व के निर्वाह के लिए भी कमाता है। अन्यथा जिनके पास खाने की व्यवस्था है, वे काम क्यों करते?

आवश्यक आवश्यकताओं व्यवस्था

दीनदयाल जी ने लिखा है कि किसी भी आर्थिक प्रणाली को व्यक्ति की आवश्यक आवश्यकताओं को पूर्ण करने की व्यवस्था करनी ही चाहिए। रोटी, कपड़ा और मकान जैसी आवश्यकताएं हर व्यक्ति के लिए आवश्यक हैं। समाज के दायित्व को निर्वाह करने के लिए शिक्षा भी बेहद आवश्यक है। अंत में यदि कोई व्यक्ति बीमार पड़ता है तो उसके विधिवत इलाज तथा देख रेख का दायित्व समाज का है। यदि कोई सरकार इन न्यूनतम आवश्यकताओं को पूर्ण करती है तो उसे हम धर्म का राज कहेंगे अन्यथा उसे अधर्म राज्य कहा जाएगा। राजा दिलीप का वर्णन करते हुए कालीदास ने रघुवंश में कहा है कि वे “अपनी प्रजाजनों की देख-रेख एक पिता की तरह करते थे और उनकी रक्षा और शिक्षा के पूरे दायित्व का निर्वाह करते थे।” राजा भरत जिनके नाम से इस देश का नाम भारत पड़ा था, वे भी अपनी प्रजा की “देख-रेख, लालन-पालन और उनकी रक्षा पिता की तरह करते थे।” यह उन्हीं का देश भारत है। यदि आज उनके इस देश में प्रजा की देख-रेख और रक्षण जो प्रजाजनों के लिए अत्यन्त आवश्यक है, नहीं किया जाता तो भारत का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

समाज के हित एवं विकास

मानव प्रकृति में दोनों प्रवृत्तियां रही हैं- एक ओर क्रोध और लालच तो दूसरी ओर प्रेम और बलिदान।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि समाज के हित एवं विकास के लिए बच्चों की शिक्षा अत्यंत आवश्यक है। जन्म से एक बच्चा जानवर के समान ही है। वह समाज का जिम्मेदार सदस्य केवल शिक्षा और संस्कृति के कारण ही बन पाता है। समाज के हित के लिए शुल्क लेने का प्रचलन हुआ। यदि शुल्क न दे पाने के कारण कोई अशिक्षित रह जाता है, तो समाज इस स्थिति को सहन नहीं कर सकता। हम पेड़ पौधों को लगाने और उसके संभरण के लिए कोई शुल्क नहीं देते। इसके विपरीत हम अपना धन और प्रयास इस व्यवस्था में लगाते हैं क्यों कि हम जानते हैं कि जब पेड़ बड़ा हो जाएगा तो उसमें फल लगेंगे। जिनका हम उपयोग करेंगे।

शिक्षा भी इसी तरह का निवेश है। एक शिक्षित व्यक्ति समाज की सेवा करता है। दूसरी ओर इसमें भी कोई आश्चर्य नहीं है कि लोग शिक्षा प्राप्त कर समाज से विमुख भी हो जाते हैं। 1947 से पूर्व सभी रियासतों में शिक्षा के लिए कोई फीस नहीं ली जाती थी। उच्चतर शिक्षा गुरुकुलों में निःशुल्क थी और यहाँ तक कि खाने और रहने की व्यवस्था भी वहाँ निःशुल्क दी जाती थी। विद्यार्थी समाज में शिक्षा प्राप्ति के लिए जाते थे। कोई भी घर विद्यार्थियों को भिक्षा देने के लिए इंकार नहीं करता था। दूसरे शब्दों में समाज शिक्षा के बोझ को वहन करता था।

चिकित्सा उपचार निःशुल्क

दीनदयाल जी ने लिखा है कि इसी तरह यह कम आश्चर्यजनक नहीं है कि चिकित्सा पर किए गए खर्च को देना पड़े। वास्तव में चिकित्सा उपचार

भी निःशुल्क होना चाहिए जैसा कि प्राचीन समय में हुआ करता था। प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति, देख-रेख और प्रगति के दायित्व की समाज को गारंटी दी जानी चाहिए। अब यह प्रश्न खड़ा होता है कि यदि हर व्यक्ति को न्यूनतम आवश्यकताओं की संपूर्ति की गारंटी दी जाती है तो उसके लिए संसाधन कहाँ से आ पाएँगे?

स्वदेशी और विकेंद्रीकरण

दीनदयाल जी ने लिखा है कि 'स्वदेशी' और 'विकेंद्रीकरण' संक्षेप में वर्तमान परिस्थितियों के लिए उपयुक्त आर्थिक नीति को संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं, जो दो शब्द हैं। केंद्रीकरण और एकाधिकार जानबूझकर या अनजाने में, इन सभी वर्ष के लिए दिन का आदेश दिया गया है। योजनाकारों केवल बड़े पैमाने पर केंद्रीकृत उद्योग आर्थिक और इसलिए इसके बुरे प्रभावों के बारे में चिंता है, या जानबूझकर लेकिन असहाय होकर वे उस दिशा में जारी किया है बिना एक विश्वास है कि के कैदियों बन गए हैं।

एक ही पुराने जमाने और प्रतिक्रियावादी के रूप में उपहास है "स्वदेशी" "स्वदेशी की अवधारणा" के साथ मुकदमा किया गया है। हम गर्व मानकों और खपत के रूपों भी करने के लिए आदि सोच, प्रबंधन, पूंजी, उत्पादन के तरीकों, प्रौद्योगिकी, से, हर चीज में विदेशी सहायता का उपयोग करें। इस प्रगति और विकास के लिए सड़क नहीं है। हम अपने व्यक्तित्व को भूल जाते हैं और एक बार फिर से आभासी गुलाम बन जाएगा। 'स्वदेशी' की सकारात्मक सामग्री हमारी अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण की आधारशिला के रूप में इस्तेमाल किया जाना चाहिए।"

पश्चिमी अर्थशास्त्र पर निर्भरता

दीनदयाल जी ने लिखा है कि जीवन के विभिन्न आदर्श की बल्कि इसलिए भी कि समय के संदर्भ में विभिन्न परिस्थितियों की और हमारे आर्थिक विकास के रास्ते में जगह न केवल पश्चिम के उस से अलग होना पड़ेगा। लेकिन हम मार्शल और मार्क्स से बंधे हैं। हम वे चर्चा की है आर्थिक सिद्धांतों अनन्त हैं कि विश्वास करते हैं। यहां तक कि वे कुछ सिस्टम पर निर्भर हैं एहसास है कि जो लोग अपने कक्षाओं से बाहर कदम करने में सक्षम नहीं हैं। पश्चिम की आर्थिक समृद्धि के उत्पादन के पश्चिमी

प्रणाली के बारे में अमेरिका में एक अंधा विश्वास पैदा हो गया है। पश्चिमी अर्थशास्त्रियों हम इसे आसानी से से अभिभूत महसूस करते हैं कि इतना महत्वपूर्ण साहित्य का उत्पादन किया है। हम इसे ऊपर उठकर नहीं कर सकते।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि अर्थशास्त्र के इस विज्ञान समय, स्थान या प्रणाली पर निर्भर नहीं है कि कुछ सिद्धांतों हो सकता है और सभी के लिए उपयोगी साबित हो सकता है, लेकिन बहुत कुछ इस गुणवत्ता का आकलन करने की क्षमता है कि संभव है। हमारी शिक्षा एक ऐसी क्षमता के साथ लोगों को नहीं बना सकते। हमारे अर्थशास्त्री पश्चिमी अर्थशास्त्र में विशेषज्ञों का हो सकता है, लेकिन वे भारतीय अर्थव्यवस्था न उन्हें आवश्यक सोचा और न ही प्रयोग के लिए आवश्यक क्षेत्र प्रदान कर सकते हैं, क्योंकि यह करने के लिए कोई ठोस योगदान करने में सक्षम नहीं किया गया है।

कोई अधिकार नहीं शाश्वत

दीनदयाल जी ने लिखा है कि कोई मौलिक अधिकारों, संपत्ति या अन्य चीजों से संबंधित है, चाहे अनन्त हैं। वे समाज के हित पर सब निर्भर हैं। वास्तव में इन अधिकारों को वह अपने सामाजिक कर्तव्यों का पालन हो सकता है कि आदेश में अलग-अलग करने के लिए दिया जाता है। अपने कर्तव्य को समाज की रक्षा के लिए है, क्योंकि एक सैनिक हथियारों दिया जाता है। वह अपने कर्तव्य से नहीं करता है तो वह हथियारों को सहन करने का अधिकार खो देता है। वह समाज द्वारा अपने कर्तव्य से कर सकता है, ताकि इसी संपत्ति के अधिकार को एक व्यक्ति को दिया जाता है। इस प्रयोजन के लिए यह समय-समय पर इन अधिकारों को परिभाषित करने और संशोधित करने के लिए आवश्यक हो जाता है। संपत्ति का कोई अधिकार नहीं समाज के निरपेक्ष है।

स्वामित्व के अधिकार

स्वामित्व के अधिकार वास्तव में निश्चित सीमा के भीतर है और एक निश्चित उद्देश्य के लिए एक विशेष बात यह है कि उपयोग करने का अधिकार है। इन अधिकारों के समय के साथ बदलते रहते हैं। इसलिए सिद्धांत की बात के रूप में हम व्यक्ति के अधिकारों और समाज के

अधिकार के बीच झगड़े में उलझ नहीं मिल सकता है। हमारे लिए राज्य समाज का ही रूप नहीं है। हम व्यक्तिगत, परिवार, समाज, राज्य समाज को व्यक्त करता है और खुद को पूरा जिसमें सभी विभिन्न रूपों का मानना है कि। संयुक्त परिवार में हम हर व्यक्ति कमाने का अधिकार है जिसमें व्यक्ति, में सामाजिक भावना को बनाए रखने के लिए की तलाश में जो इस देश में व्यावहारिक इकाई है, लेकिन परिवार के स्वामित्व में निहित का अधिकार है। वेल्थ परिवार के लाभ के लिए प्रयोग किया जाता है। यह गांधी जी, गुरुजी और अन्य विचारकों द्वारा प्रतिपादित किया गया है कि ट्रस्टीशिप के इस भारतीय सिद्धांत है।

श्रमिकों के लिए मालिकाना हक

दीनदयाल जी ने लिखा है कि यह एक उद्योग में काम करने वाले मजदूर, सेट, जबकि अपने लाभ में हिस्सेदारी को छोड़कर कंपनी के साथ कोई अन्य कनेक्शन है, जो संयुक्त स्टॉक कंपनियों में एक शेयर धारक, स्वामित्व अधिकारों का प्रयोग करने में सक्षम होना चाहिए कि आज आश्चर्य की बात है इसकी प्रस्ताव में मशीनों और अपनी आजीविका के लिए इस पर निर्भर करता है कि यह करने के लिए एक अजनबी होने का अहसास का अनुभव होना चाहिए। इस भावना के लिए उचित नहीं है। यह शेयर धारक के साथ कार्यकर्ता इसके प्रबंधन और लाभ में स्वामित्व का अधिकार है और एक हिस्सा दिया जाना चाहिए कि इसलिए आवश्यक है।

सभी के लिए भोजन

दीनदयाल जी ने लिखा है कि नारा सामान्यतः “एक उसकी रोटी अर्जित करना चाहिए” अब एक दिन है सुना। आम तौर पर कम्युनिस्टों इस नारे का उपयोग करें, लेकिन यह भी पूंजीपतियों इसके साथ असहमति में मौलिक रूप से नहीं कर रहे हैं। उन दोनों के बीच किसी भी कपसिमतमदबम नहीं है, तो यह केवल कमाता है, जो संबंध है और कैसे ज्यादा के रूप में है। पूंजीपतियों के उत्पादन का महत्वपूर्ण कारक के रूप में पूंजी और उद्यम पर विचार और वे लाभ का एक प्रमुख हिस्सा लेने के लिए अगर वे यह उनकी वजह से है क्योंकि उन्हें लगता है, यह है। दूसरी ओर, कम्युनिस्टों केवल श्रम उत्पादन में मुख्य कारक होने का विश्वास है। इसलिए वे मजदूरों को

उत्पादन का एक बड़ा हिस्सा मानते हैं। इन विचारों का न तो सही है। सच पूछिये तो, हमारा नारा है कि वह जो कमाता फीड होगा और हर व्यक्ति को खाने के लिए पर्याप्त होगा कि होना चाहिए। भोजन के अधिकार एक जन्मसिद्ध अधिकार है। अर्जित करने की क्षमता शिक्षा और प्रशिक्षण का एक परिणाम है। एक ऐसे समाज में भी खाना चाहिये कमाना नहीं है जो लोग। बच्चों और बूढ़े, बीमार सभी समाज के लिए परवाह किया जाना चाहिए। हर समाज में आम तौर पर इस जिम्मेदारी को पूरा करता है। मानव जाति की सामाजिक और सांस्कृतिक समर्थक अनुमान है कि इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए तत्परता में निहित है।

खाद्य बनाम स्वतंत्रता

दीनदयाल जी ने लिखा है कि आयात के लिए हमारे वर्तमान कठिनाइयों पर हमें ज्वार में मदद कर सकते हैं, समस्या का वास्तविक समाधान देश में कृषि उत्पादन को बढ़ाने में निहित है। हम इस दिशा में पर्याप्त रूप से नहीं किया है कि कोई कह रहा है की जरूरत है। वर्तमान समझौते इस मोर्चे पर सरकार की विफलता के लिए एक भाषण प्रमाण है। समय बीतने के साथ हम विदेशी स्रोतों पर निर्भर हो गए हैं। हम कारण वर्तमान में प्रचुर मात्रा में भोजन की उपलब्धता के लिए सरकार ने स्थानीय स्तर पर उत्पादन बढ़ाने के लिए उनके प्रयासों में संतुष्ट हो जाते हैं कि हो सकता है डर लगता है। अमेरिकी राजदूत अमेरिका केवल लोकतांत्रिक दुनिया के लिए संघर्ष कर लोगों को “स्वतंत्रता और भोजन दोनों वहाँ हो सकता है पता है कि” जाने के लिए इस नीति का पालन कर रहा है कि लगता है। लेकिन क्या हम चाहते हैं कि हमारे स्वतंत्रता और हमारे भोजन है। यही कारण है कि हम “विदेशी भोजन से मुक्ति” के हमारे पुराने नारे को पुनर्जीवित तभी संभव है। विदेशी स्रोतों पर निर्भरता साधनहीन और हमें उलझाना होगा।

आर्थिक लोकतंत्र

दीनदयाल जी ने कहा है कि हर किसी के लिए एक वोट राजनीतिक लोकतंत्र का स्पर्श पत्थर है, तो हर किसी के लिए काम करते आर्थिक लोकतंत्र का एक उपाय है। काम करने के लिए यह सही साम्यवादी देशों में दास परिश्रम मतलब नहीं है। काम केवल एक व्यक्ति को आजीविका के

साधन नहीं देना चाहिए लेकिन यह उस व्यक्ति की पसंद का होना चाहिए। कि काम करने के लिए कार्यकर्ता राष्ट्रीय आय में एक उचित हिस्सा मिल नहीं होता है, तो वह बेरोजगार पर विचार किया जाएगा। देखने के इस बिंदु से एक न्यूनतम मजदूरी, वितरण की एक बस प्रणाली और सामाजिक सुरक्षा के कुछ प्रकार के लिए आवश्यक हैं।

राजनीतिक आय-व्यय

दीनदयाल जी मानना था कि दीवाली के मौसम पर उद्योग में लगा हुआ प्रत्येक व्यक्ति अपना आय-व्यय देखता है, पुराना खाता ठीक करता है, जाँच-पड़ताल करके बंद कर देता है तथा आगे के लिए नया खाता खोलता है। इससे उसे अपनी सच्ची स्थिति का ज्ञान हो जाता है कि उसको कितना लेना-देना है। अपनी इस स्थिति और पूँजी का अंदाजा लगाकर ही अगले वर्ष का कारोबार और उसका विस्तार निश्चित किया जाता है। इसी के आधार पर नई योजनाएँ बनाई जाती हैं।

भारतवर्ष का कारोबार बहुत पुराना है। दुनिया में सब लोग अच्छी तरह व्यापार करना न जानते थे तब से इसका उद्योग चल रहा है। अपनी उत्पत्ति तथा उनकी विशेषताओं के लिए वह बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहा है, इसलिए इसकी साख बहुत ही मूल्यवान् रही। बहुत दिनों तक तो ज्ञान, विज्ञान, कला, कौशल आदि की उत्पत्ति पर एकाधिकार रहा और इस कारण वह दुनिया में सबसे अधिक धनवान ही नहीं, प्रतिभावान भी समझा जाता था। व्यापार में 'एक बात' इसका गुण था जिसे इसने सत्य का ट्रेड मार्क दे रखा था, सहिष्णुता इसकी दूसरी विशेषता थी। इधर कुछ सदियों से कारीगरों और प्रबंधकों में मन-मुटाव तथा भेद-भाव होने के कारण इसकी साख गिर गई और वह विदेशियों के हाथ में भी चली गई जिसने इसकी मशीनों को नष्ट करने और उनमें आमूल परिवर्तन करने का प्रयत्न किया। फलतः उत्पत्ति भी गिर गई तथा इनके स्टैंडर्ड में भी फर्क आ गया।

कुछ वर्ष से इसका प्रबंध अपने हाथ में लेने की कोशिश हो रही थी। और वह प्रयत्न 15 अगस्त, 1947 को सफल हुआ। तब से तथा उससे कुछ वर्ष पहले से भी कुछ कम रूप में इसका प्रबंध इंडियन नेशन कांग्रेस की स्थापना सन् 1885 में हुई थी। पहले तो यह एक प्राइवेट लिमिटेड कंपनी

थी किंतु बाद में यह पब्लिक हो गई। इसके संचालक बीच-बीच में बदलते रहे हैं। अपने हाथ में प्रबंध लेने के पूर्व इसके डाइरेक्टरों का कहना था कि हिंदुस्तान के शासन में बहुत सी बुराइयाँ हैं। यहाँ अत्याचार और भ्रष्टाचार का बोलबाला है।

कामगारों की बुरी हालत है, उन्हें भर पेट रोटी नहीं मिलती और न बदल ढकने को कपड़ा। अगर उनके हाथ में प्रबंध आ गया तो वे सबको सुख, शांति, सम्मान और वैभव देंगे तथा दीनता और भुखमरी दूर हो जाएगी। अब प्रबंध उनके हाथ में है। यह आनंद की बात है। यह व्यय सब भागीदारों की राय से होना चाहिए था। किंतु संचालकों ने राय न लेकर अनियमितता की। इसके संबंध में अभी तक कुछ निश्चित नहीं हुआ, डर है कि यह भावना डूब न जाए। संभावना है तथा इसीलिए बैलेंस-शीट पूरी नहीं मिली है। शासन, योग्यता, भारतीयता।

पंचवर्षीय योजना : एक विश्लेषण

अंग्रेजी का शब्द 'रिलीजन' धर्म के लिए सही शब्द नहीं है।

स्वतंत्र भारत के नियोजित आर्थिक विकास के लिए आयोजित पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारंभ करते समय, जिस ओर हमें बढ़ना है, वह दिशा स्पष्ट होनी चाहिए। यदि एक बार कदम गलत दिशा में चला गया, तो बाद में उसे लौटाना कठिन होता है। जुलाई 1951 में योजना आयोग द्वारा प्रथम पंचवर्षीय योजना का 'आयोजना-प्रारूप' प्रथम महानिर्वाचन के एकदम पूर्व घोषित किया गया। 7 दिसंबर, 1952 को वह भारत सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया गया; 8 दिसंबर, 1952 को लोकसभा में बहस हुई तथा वह प्रारूप स्वीकृत हो गया। इस स्वीकृत योजना का कालखंड अप्रैल 1951 से मार्च 1956 था। इन तिथियों का वर्णन यहाँ इसलिए किया है कि योजना निर्माण के पूर्व कोई विशेष राष्ट्रीय विमर्श हो पाए इसकी स्थितियाँ नहीं थीं। योजना का कार्यकाल उसकी स्वीकृति की तिथियों से पूर्व प्रारंभ हो गया था। निर्वाचन के पूर्व प्रस्तावित 'आयोजना-प्रारूप' को दलीय दृष्टि से देखा गया। स्वाभाविक रूप से निर्वाचन काल दलीय स्पर्धा का होता है। अतः वस्तुनिष्ठ विमर्श उस समय संभव नहीं होता। उपाध्याय पंचवर्षीय योजना को लागू करने में की गई जल्दबाजी एवं योजनाओं के दलीय कारण को अनुचित मानते थे।

योजना-निर्माताओं की भयंकर भूल

यह वह काल था जब भारतीय जनसंघ की स्थापना हुई ही थी। उपाध्याय का राजनीति में प्रवेश सन् 1951 में ही हुआ। अतः उस समय इस संदर्भ में वे कोई विशेष समीक्षात्मक लेखन प्रस्तुत नहीं कर सके, जो उन्होंने बाद के काल में बहुत विस्तार एवं अध्ययन के बाद प्रस्तुत किया। 'आयोजना-प्रारूप' को संसद के समक्ष प्रस्तुत करने के एक सप्ताह पूर्व

संपन्न भारतीय जनसंघ के प्रथम कानपुर अधिवेशन में उन्होंने प्रस्ताव के माध्यम से प्रथम पंचवर्षीय योजना पर अपनी तात्कालिक प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस संबंध में उन्होंने सात मुद्दे उठाए-

बेकारी दूर करने एवं जीवनस्तर को उन्नत करने के लिए जैसा ध्यान देना चाहिए था, नहीं दिया गया।

यह योजना अमेरीकी कृषि पद्धति पर आधारित है जिसका आधार ही यंत्रीकरण है। स्वदेशी उपकरणों के विकास की उपेक्षा कर 'योजना-निर्माताओं ने भयंकर भूल की है।'

कृषि के साथ-साथ घरेलू उद्योगों का गाँवों में विकास होने से ग्रामीण बेरोजगारी दूर हो सकती है; लेकिन दो हजार करोड़ की योजना में पंद्रह करोड़ रुपए का व्यय पाँच लाख गाँवों में उद्योगों की स्थापना के लिए 'हास्यास्पद' है।

रक्षा संबंधी और आधार बड़े उद्योगों के विकास की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

इस योजना के अनुसार "देश के आधिक जीवन के सभी अंगों पर शासन का नियंत्रण रहेगा। हमारी आज की स्थिति में नियंत्रण जितना कम हो उतना ही समाज और शासन दोनों के लिए हितकर है।"

'साक्षरता-प्रसार' को, जिसके बिना लोकतंत्र और वयस्क मताधिकार निरर्थक रहते हैं-इस योजना में एकबारगी भुला दिया गया है।

जन स्वास्थ्य की भी उपेक्षा की गई है, विशेषकर अपनी स्वदेशी आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति की। यह एक तात्कालिक एवं औपचारिक प्रतिक्रिया थी। वास्तव में दीनदयाल उपाध्याय का आर्थिक चिंतन सन् 1953 से ही हमें लेखबद्ध रूप से प्राप्त होता है, जब उन्होंने उत्तर प्रदेश के कार्यकर्ता-प्रशिक्षण शिविर के लिए 'जनसंघ की अर्थनीति' नामक एक प्रारूप प्रस्तुत किया। अतः द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आयोजन के समय उन्होंने अपने लेखन के माध्यम से अधिक समीक्षात्मक व सुझावात्मक योगदान दिया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में प्रस्तुत योजना आयोग के सुझावों पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा- "ऊँची आकांक्षाओं को लेकर चलना अच्छा होता है; किंतु उसकी पूर्ति का साधन भी चाहिए। जो साधन अर्थमंत्री ने बताया हैं वे न तो सभी उपलब्ध हो सकेंगे और न वे

खतरों से खाली हैं। ...450 करोड़ के नए कर तो लगाए जा सकते हैं; किंतु आज की अर्थव्यवस्था में उन्हें उगाहना सरल नहीं। यदि धनिकों पर यह भार अधिकता से डाल दिया गया तो २२०० करोड़ की पूँजी, जो योजना के अंतर्गत निजी क्षेत्र में लगनी चाहिए नहीं आ पाएगी। यदि सामान्यजनों पर इसका बोझ पड़ा तो प्रथम तो उनके गिरे हुए जीवनस्तर को यह और नीचे गिराएगी तथा दूसरे, योजना की सफलता के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका चाहिए वह जनसाधारण की नहीं बन पाएगी। ...योजना में छोटे उद्योगों को जो मदद दी गई थी उसमें कर्वे कमेटी की सिफारिशों के बाद भी कोई वृद्धि नहीं की। हाँ कारखानों द्वारा निर्मित उपभोग-वस्तुओं के लिए दोगुनी राशि की व्यवस्था अवश्य कर दी है।”

स्कतम-आय-निश्चित प्रस्ताव

सन् 1953 में अपनी अर्थनीति की घोषणा करते हुए दीनदयाल उपाध्याय ने अधिकतम व न्यूनतम का अनुपात 201 होना चाहिए ऐसा निरूपित किया था तथा सुझाव दिया था कि अर्थनीति को इस प्रकार संचालित किया जाए कि धीरे- धीरे यह अनुपात 10 हो जाए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के निर्माण के समय देश में इस विषय पर बहस हुई। उपाध्याय ने पांचजन्य के अपने स्थायी स्तंभ 'विचार-वीथी' के अंतर्गत इस विषय में लेख लिखा- “प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने इसे अव्यावहारिक बताया है, और कहा है कि आय और पूँजी के समूचे प्रश्न की ओर देखने का यह अशुद्ध और काल्पनिक तरीका है। उन्होंने इस पर खेद प्रकट किया कि प्रस्तावक और उसके समर्थकों ने अपनी माँग को उचित प्रमाणित करने के लिए समाजवादी विचारधारा का सहारा लिया। हमारे असमाजवादी देश के समाजवादी दूत (श्री नेहरू) के अनुसार, वे लोग जीवन के सिद्धांत को बिलकुल नहीं समझ पाए हैं। श्री नेहरू का यह भी कहना है कि समाजवाद का युग लाने के लिए निजी लाभ व संपत्ति की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती। उपाध्याय अपने इसी लेख में नेहरू की इस आलोचना का प्रत्युत्तर देते हुए लिखते हैं- “हम नेहरूजी के समाजवाद को नहीं जानते; परंतु यह निश्चित रूप से समझते हैं कि आज हमारे देश में आय और संपत्ति के संबंध में जो असमानता है उसे कम करना समाजवाद का तात्पर्य होना चाहिए। ...द्वितीय

पंचवर्षीय योजना में भी उच्चतम और न्यूनतम आय में 301 का अनुपात ले आने का निश्चय किया गया है; परंतु योजना आयोग के अध्यक्ष की हैसियत से जो बात पं. नेहरू प्रस्तावित करते हैं, उसी को वे प्रधानमंत्री की हैसियत से ठुकरा देते हैं।

समाजवाद कोरी कल्पना और नारे मात्र से अधिक कुछ नहीं है। जब नए कर लागू करने का प्रसंग आता है तो वित्त मंत्री तर्क प्रस्तुत करते हैं कि समाजवादी व्यवस्था में सर्वसाधारण व्यक्ति को असाधारण विकास-योजनाओं का बोझ सहना ही पड़ेगा; परंतु जब धनिकों की बिना परिश्रम के एकत्र की हुई कमाई अथवा अनुचित आय में से कटौती करने का प्रश्न उठता है तो प्रधानमंत्री ऐसा करना अस्वीकार कर देते हैं; क्योंकि उनके विचार से व्यक्ति की प्रेरणा समाप्त हो जाएगी। हमारे जन सेवकों एवं उद्योगपतियों के लिए वास्तव में यह अशोभनीय है कि वे डंडे तथा स्वार्थ की ही भाषा समझते हैं। “अधिकतम आय इसलिए भी निर्धारित करना आवश्यक है क्योंकि हम बजट में होने वाले 1200 करोड़ रुपए घाटे के कुप्रभाव से बचना चाहते हैं। योजना के अंतर्गत काम मिलने की संभावना कम होने तथा कुटीर एवं अल्प पूँजी वाले उद्योगों के लिए केवल 200 करोड़ रुपए की व्यवस्था के कारण अर्जित किया हुआ अधिकांश धन उच्चपदों पर स्थित कर्मचारियों तथा बड़े उद्योगपतियों की जेबों में ही चला जाएगा। ...यदि योजना को सफल बनाना है तो हमें अपने विशाल जनसमुदाय को दुर्लक्ष्य नहीं करना चाहिए।”

दो योजनाएं वायदे अनुपालन आसार

दीनदयाल उपाध्याय ने सन् 1958 में दोनों पंचवर्षीय योजनाओं पर एक शोधपूर्ण अंग्रेजी पुस्तक ‘दो योजनाएं वायदे, अनुपालन, आसार 26 का सृजन किया, जो एक अर्थशास्त्री राजनेता द्वारा अनुसंधानपूर्वक की गई विवेचना है। निश्चय ही इस पुस्तक का अर्थशास्त्री एक प्रतिपक्षी राजनेता है। अतः विवेचन व व्याख्या में सत्तापक्ष पर राजनीतिक प्रहारों वाली भाषा का प्रयोग किया गया है।

यह पुस्तक केवल दोनों योजनाओं का ही नहीं, वरन् आर्थिक आयोजना की अवधारणा, इतिहास एवं तार्किक निष्पत्तियों का सर्वांगपूर्ण आकलन प्रस्तुत करती है। तथ्यात्मक, तुलनात्मक एवं व्याख्यात्मक अकिड़ों व सारणियों

की इस पुस्तक में इतनी भरमार है कि अर्थशास्त्र की शास्त्रीय पृष्ठभूमि के बिना उसको समझ पाना व रुचिपूर्वक पढ़ना, दोनों ही कठिन है। राजनीति विज्ञान के विद्यार्थी के नाते प्रस्तुत पंक्तियों के लेखक के सामने भी यह कठिनाई रही है।

उपाध्याय द्वारा लिखी गई इस पुस्तक के बारे में यज्ञदत्त शर्मा कहते हैं, “यह कार्य इतना अंतवेधी था कि उस समय के योजना आयोग के उपाध्यक्ष श्री श्रीमन्नारायण अग्रवाल ने सभी संबंधित अधिकारियों को एक परिपत्र जारी किया तथा कहा कि ऐसी गंभीर एवं तथ्यप्रकाशी योजना-समीक्षा मैंने नहीं देखी, जैसी पंडितजी की इस पुस्तक में है। “पुस्तक का विशद विवेचन यहाँ कठिन है। हम उसकी संक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत करेंगे। अंग्रेजी में लिखी गई इस पुस्तक के पाँच भाग हैं-

योजना की दिशा में इस प्रथम भाग में तीन परिच्छेद हैं, जो आयोजना की प्रकृति और क्षेत्र, भारतीय आयोजना की इतिहासात्मक समीक्षा तथा योजना आयोग के परिचय से संबंधित हैं। उपाध्याय विभिन्न देशों में आर्थिक आयोजनाओं एवं विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रस्तुत आयोजना अवधारणाओं की व्याख्या करते हैं। यह निरूपित करने का प्रयत्न करते हैं कि योजना किसे कहते हैं? क्या केंद्रित आर्थिक योजनाएं एवं लोकतंत्र एक साथ चल सकते हैं? समाजवादी देश व पंचवर्षीय योजनाओं का क्या संबंध है? वार्षिक बजट एवं निश्चित कालखंडीय आर्थिक योजनाओं में क्या अंतर है? पश्चिमी जगत् में उत्पन्न इस राज्यशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय चिंतन से अंततः हम समस्या के समाधान तक नहीं पहुँच सकते। हमें अपने देश के परिवेश में नवीन चिंतन उत्पन्न करना होगा, ऐसा वे निष्कर्ष निकालते हैं।

एम. विश्वेवरैया के सन् 1933 में लिखे ‘प्लैंड इकॉनमी फॉर इंडिया’ से प्रारंभ कर सन् 1949 में प्रस्थापित ‘योजना आयोग’ तक भारत में आर्थिक आयोजना के लिए चले चिंतन एवं प्रयत्नों का वृहद इतिहास दीनदयाल उपाध्याय ने इन परिच्छेदों में प्रस्तुत किया है। इनमें भारत के राजनेताओं, अर्थशास्त्रियों व अंग्रेजी राज्य की भूमिकाओं का सांगोपांग वर्णन एवं विवरण दिया है।

योजना आयोग का मूल प्रस्ताव जो मार्च 1950 में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत किया गया, उसके उद्देश्यों, कार्य व पद्धतियों के विषय में मूल

प्रलेखों को संदर्भित करते हुए उपाध्याय ने आयोग का पूरा परिचय पाठकों से करवाया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना का इतिहास भी इस परिच्छेद में उद्घाटित किया गया है। प्रथम योजना की सार्वदेशिकता व संघात्मक ढाँचे में उत्पन्न कठिनाई के संदर्भ में उपाध्याय ने अपने 'एकात्मक शासन' की आवश्यकता का आग्रह पुनः दोहराया है।

दीनदयाल जी ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रलेख के कलेवर से लेकर उसके अंदर अपनाई गई तकनीकी अवधारणाओं, उद्देश्यों व नीतियों का संबद्ध मूल साहित्य के उद्धरणों के साथ विशद वर्णन किया है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा के अंतर्गत उसके बजटीय स्रोतों, विभिन्न मदों में बजटीय आवंटन आदि का उल्लेख है। योजना की क्रियान्विति में नियोजित विदेशी धन, तकनीक एवं मनोवैज्ञानिक सहायता को उपाध्याय योजना के उद्देश्यों के प्रतिकूल मानते हुए व्यंग्यपूर्वक कहते हैं- "अमरीकी विशेषज्ञों के मार्गदर्शन व प्रेरणा से तथा उसी देश की वित्तीय सहायता से हम एक लोक-अभियान प्रारंभ करना चाहते थे। भारत के अनुभवी जन को प्रभावित करने में यह योजना असफल हुई तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।"

दीनदयाल जी ने लिखा है कि आर्थिक स्थिति, वित्त, विकास-कार्यक्रम, उद्योग, यातायात तथा कार्मिक आयामों का विवेचन है। इस भाग में वर्णन, विवेचन एवं आलोचना का एक सामंजस्य दिखाई देता है। आयोजनाकाल के पाँचों वर्ष का पृथक-पृथक आकलन प्रस्तुत करते हुए दीनदयाल उपाध्याय ने योजना आयोग के दावों को नकारा है- "...योजना आयोग ने अपने प्रतिवेदन में बहुत बड़ी सफलता के दावे पेश किए हैं। विशेषकर घरेलू उत्पादन और मुद्रास्फीति की प्रक्रिया को रोकने या सही कहना हो तो नियंत्रित करने के क्षेत्र में। लेकिन समानांतर रूप से ध्यान देने योग्य तथ्य है कि विश्वस्त एवं स्थिर मूल्य स्तर को बनाए रखने में व बेरोजगारी की समस्या को हल करने में एकदम असफल रही है। कई लोग यह महसूस करते हैं कि जो उपलब्धियाँ हैं, वे कृषि एवं निजी क्षेत्र में ही अधिक हैं। जबकि सरकार ने अपने नियंत्रण में आयोजना के जिन पहलुओं को कार्यान्वित किया, वे सफलतापूर्वक अपने उद्देश्यों को पूर्ण नहीं कर सके। उपाध्याय ने अपने कथन के पक्ष में इतने तथ्य तथा कड़े प्रस्तुत किए हैं कि उनका उल्लेख यहाँ संभव नहीं।

वित्तीय लागत एवं आवंटन तथा उसमें राजनीतिक हस्तक्षेप का भी विवेचन है। आंतरिक वित्तीय साधनों का दोहन, कराधान, रेलवे व अन्य सरकारी उपादानों की आमदनियों तथा अतिरिक्त करारोपण की विधियों का सविस्तार वर्णन हुआ है। संघात्मक ढाँचे के कारण वित्तीय आयोजना में उत्पन्न कठिनाइयों का वर्णन करते हुए वे मद्रास विश्वविद्यालय के प्रोफेसर आर. बालकृष्णन् को उद्धृत करते हैं- “...संघात्मक वित्त की समस्याएँ सुलझ नहीं पाई हैं। इनको सुलझा पाना भी सरल नहीं है। संघात्मक ढाँचे में वास्तविक ससाधनों को हस्तांतरित किए बिना समता (इक्विटी) आसान नहीं है। स्थानांतरण निश्चित रूप से संसाधन-नियोजन-पद्धति में बाधा उत्पन्न करेगा। ऐसे ही संघात्मक ढाँचे में पुनर्वितरण के सिद्धांत को छोड़ा नहीं जा सकता। एक सरल और क्रांतिकारी उपाय है कि हम ‘एकात्म-राज्य’ का निर्माण करें।” इस भाग में बाह्यधनस्रोतों, अदायगी-संतुलन, वित्तीय घाटा आदि पहलुओं का भी विवेचन किया गया है।

विकास-कार्यक्रमों के वृहदाकार आयोजन का समुचित लाभ भारत का न्यून क्रयशक्ति वाला आम जन नहीं उठा सकता। अनेक उदाहरणों से उपाध्याय ने यह सिद्ध करते हुए सुझाव दिया कि “बड़े प्रकल्पों के निर्णय पर हमें पुनर्विचार करना चाहिए। कम-से- कम जिन प्रकल्पों में अभी मूल रूप से ज्यादा कार्य नहीं हुआ है उनके विषय में तो यह किया ही जा सकता है।”

दीनदयाल जी ने लिखा है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना मुख्यतः कृषि विकास आयोजना थी। उससे औद्योगिकृत भारत की तसवीर उभरकर सामने नहीं आती। कृषि के साथ संबद्ध जिन कृषि सहायक कुटीर उद्योगों की आवश्यकता अनिवार्य रूप से है। इस योजना में उस ओर ध्यान नहीं दिया गया है। इस योजना के अंतर्गत औद्योगीकरण के लिए जो वित्त आर्बिटित हुआ वह मुख्यतः निजी एवं निगमीय क्षेत्रों के बल पर ही क्रियान्वित किया गया। स्वाभाविक रूप से वह पूँजी प्रधान व बड़े घरानों के अनुकूल आयोजन था। कुटीर उद्योगों की उपेक्षा के लिए उपाध्याय पुनः पुनः जब भी अवसर मिलता है, आयोजकों को कोसते हैं।

रेल व सड़क-यातायात, जल-यातायात, बंदरगाही व्यवस्थाएँ तथा उड्डयन आदि के आयोजना-प्रस्तावों को उन्होंने समीक्षित किया है। शिक्षा,

स्वास्थ्य, समाज कल्याण आदि के विषय में कोई सार्थक योजना न होते हुए भी इन्हें योजना प्रारूप में शामिल किया गया। उपाध्याय कहते हैं- “सत्तारूढ़ दल को राजनीतिक घोषणा पत्र के रूप में इस आयोजना का उपयोग करना था। अतः उन सब कार्यक्रमों को इसमें जोड़ दिया गया जिनके प्रति लोगों में कुछ लगाव था।” इस काल की उपलब्धियों व क्षतियों की समीक्षा करते हुए दीनदयाल उपाध्याय आगाह करना चाहते हैं कि “इस योजनाकाल में सार्वजनिक उद्योगों में जिस प्रकार से कार्य हुआ वह सरकार को यह शिक्षा देने के लिए पर्याप्त है कि राज्य की मिल्कियत एवं राज्य-उद्योजन, परस्पर पर्यायवाची नहीं है। मिल्कियत सरलता से प्राप्त की जा सकती है; लेकिन उद्योजन व व्यवस्थापन कला इतनी सरलता से स्थापित नहीं की जा सकती।”

दीनदयाल जी ने लिखते हैं कि प्रथम पंचवर्षीय योजना की वृहद् सिंचाई एवं विद्युत योजनाओं को भी उपाध्याय प्रशंसा की नजर से नहीं देखते हैं। इन वृहद् योजनाओं के सार्वदेशीकरण पर उन्हें संदेह है तथा लघु नियोजनों की उपेक्षा के प्रति वे क्षोभ व्यक्त करते हैं।

दीनदयाल जी ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना की दिशा एवं रूपरेखा की विषयवस्तु को अपना अधर बनाया है पहली अप्रैल, 1956 को राष्ट्रीय विकास परिषद् ने इस आयोजना को स्वीकृति दी। मार्च 1955 में प्रो. पीसी. महालनोबिस ने एक ‘ड्राफ्ट रेकमेंडेशन फॉर द फॉर्म्यूलेशन ऑफ द सेकेंड फाइव इयर पौन’ प्रस्तुत किया। योजना आयोग ने सामान्यतः उसे स्वीकार कर लिया। महालनोबिस एक सोवियत-समर्थक वामपंथी अर्थशास्त्री थे। इस संदर्भ में दीनदयाल उपाध्याय बाबू जयप्रकाश नारायण को उद्धृत करते हैं, “पंडित नेहरू की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के सभी सातों लेखक, लौहआवरण के पीछे से आए व्यक्ति हैं।”

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के तीन उद्देश्य बताए गए: प्रथम, राष्ट्रीय आय में 25 प्रतिशत की अभिवृद्धि; द्वितीय, एक करोड़ बीस लाख लोगों को रोजगार प्रदान करना और तृतीय, समाजवादी समाज व्यवस्था की स्थापना करना। दीनदयाल उपाध्याय ने तृतीय उद्देश्य को भारतीय अर्थव्यवस्था के सरकारीकरण अथवा रूसीकरण की संज्ञा दी है।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि रूपरेखा, लागत, आवंटन एवं विभिन्न मदों का भी प्रथम योजना के समान ही दीनदयाल उपाध्याय ने विस्तृत आकलन

किया है। सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का नियोजन, उत्पादन एवं विकास तथा बड़े उद्योगों की प्राथमिकता का विवरण प्रस्तुत किया है। आंतरिक व बाह्य आय स्रोतों का भी वर्णन है। उपाध्याय के अनुसार, यह वृहदाकार योजना है जिसका क्रियान्वयन आयोग द्वारा पूर्वशर्त के रूप में निरूपित विभिन्न 'यदियों' की पूर्ति पर ही संभव है। उपाध्याय एक प्रश्नवाचक लगाते हैं, 'क्या इस बड़ी 'यदि' के 'य' और 'दि' दोनों शीर्षाक्षर हैं?'

दीनदयाल जी द्वितीय योजना की सर्वाधिक विवेचना करते हैं। प्रथम व द्वितीय योजनाएँ में अंतर, तकनीकी खामियों, आंतरिक व बाह्य साधन-लघुता, निजी विनियम, कार्यक्रम व प्राथमिकताएँ निष्कर्ष एवं सुझाव तथा आयोग की अवास्तविक स्तुति एवं क्षोभ शीर्षकों में यह भाग विभक्त हैं।

प्रथम व द्वितीय योजना में उपाध्याय चार मुख्य फर्क मानते हैं। प्रथम व सर्वाधिक महत्वपूर्ण फर्क है 'समाजवादी समाज रचना' को अपना लक्ष्य बनाना। आयोजकों ने यह इसलिए घोषित किया है क्योंकि 'अवधारणात्मक आदर्शवाद' समाज को भावात्मक रूप से सक्रिय कर देता है तथा सिद्धांतवाद की अपील लोगों में बलिदान की भावना भर देती है। उपाध्याय इसे स्वीकार करते हैं; लेकिन उनके मतानुसार 'समाजवाद' एक भ्रामक सिद्धांत है। वह लोगों में त्याग की भावना पैदा नहीं कर सकता। समाजवाद ने सर्वत्र एकाधिकारवादी राज्यों का निर्माण किया है तो फिर भारत इसका अपवाद कैसे हो सकता है?

दूसरा फर्क उपाध्याय यह मानते हैं कि प्रथम योजना कार्यात्मक थी जबकि द्वितीय योजना संरचनात्मक है। कार्यात्मक योजना व्यवस्था के मूल ढाँचे में परिवर्तन नहीं करती। वह उपस्थित ढाँचे को दुरुस्त करने का प्रयत्न करती है। उसकी पुनर्रचना नहीं करती। जबकि संरचनात्मक योजना वर्तमान आर्थिक ढाँचे को आआग्र बदलने के लक्ष्य से अभिप्रेरित रहती है।

तीसरा फर्क है कि प्रथम योजना कृषिप्रधान थी, द्वितीय योजना उद्योगप्रधान। प्रथम का लक्ष्य प्राप्त किए बिना ही द्वितीय की नवीन घोषणाओं को उपाध्याय अनावश्यक उतावलापन मानते हैं।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि द्वितीय योजना प्रथम की तुलना में विषद है। केवल आकार में ही नहीं वरन् क्षेत्रीय कार्यक्रमों में भी। उपाध्याय की मान्यता है कि यह हमारी क्रियान्वयन-क्षमता के परे है। दीनदयाल उपाध्याय

द्वितीय योजना में निम्न तकनीकी खामियाँ निरूपित करते हैं- यह गलत पूर्वानुमानों पर आधारित है; क्योंकि जनसंख्या वृद्धि का स्तर, प्रतिव्यक्ति आय तथा पूँजीनिष्पत्ति अनुपात को ठीक नापने की हमारे पास कोई वैज्ञानिक विधि नहीं है। परिणामतः प्रथम पंचवर्षीय योजना के हमारे अनुमान सत्य सिद्ध नहीं हुए।

अंतर्बाह्य आर्थिक स्रोतों के संपूर्ण दोहन के बावजूद इस योजना की व्ययसाध्यता की संपूर्ति करना असंभव है। जनता इसके असह्य भार से पीड़ित होगी तथा हमें संसार के सम्मुख भिक्षापात्री बनना पड़ेगा।

योजना के कार्यक्रमों व प्राथमिकताओं को उपाध्याय बदलना चाहते हैं। प्रथम योजना कृषिप्रधान व द्वितीय योजना उद्योगप्रधान यह नारेबाजीवाला घीर्षक है। वास्तव में हम कृषि की उपेक्षा नहीं कर सकते। हमें भूमिसुधार व कृषिविपणन के अधूरे कार्यक्रमों को इस योजना के अंतर्गत पुनः हाथ में लेने चाहिए। शीर्ष औद्योगीकरण की आकांक्षा के साथ भारी उद्योगों की स्थापना की प्राथमिकता को बदला जाना चाहिए। लघु व कुटीर उद्योगों की प्राथमिकता वाली योजना का आयोजन करना चाहिए।

दीनदयाल उपाध्याय ने न केवल योजना-प्रलेखों का अक्षर-अक्षर पढ़ा है बल्कि संसद की कार्यवाही, राष्ट्रीय विकास परिषद् के भाषण एवं विभिन्न अर्थशास्त्रियों की टिप्पणियों का भी गहराई से अध्ययन किया है।

विश्लेषण व आलोचना की दृष्टि से यह एक प्रतिपक्षी राजनेता का प्रलेख है। सत्तापक्ष की राजनीति व रणनीति पर जहाँ-जहाँ उन्हें प्रहार का मौका मिला, उसका भरपूर उपयोग किया गया है। महत्त्व की बात यह है कि उन्होंने इस विषय में स्वतंत्रतापूर्वक सोचा और अपनी बात को निर्भीकतापूर्वक समाज के सामने रखा। उनके विचार न केवल हमारी योजनाओं की आलोचना प्रस्तुत करते हैं वरन् एक स्वतंत्र चिंतन भी इनमें रेखांकित किया जा सकता है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना

दीनदयाल जी अनुसार प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजना में किए गए भारी व्यय के बावजूद देश में अपेक्षित समृद्धि नहीं आ सकी। कृषि की उपेक्षा के कारण देश में खाद्यान्नों का भयंकर अभाव हो गया। परिणामतः

पीएल, 480 के अंतर्गत भारी मात्रा में खाद्यान्न आयात करना पड़ा तथा चीनी आक्रमण के समय यह बात बुरी तरह स्पष्ट हुई कि हमने अपने सुरक्षा-उद्योगों की अपराधपूर्ण उपेक्षा की है।

17 अप्रैल, 1960 को राष्ट्रीय विकास परिषद् की बैठक में तृतीय पंचवर्षीय योजना के दौरान मूल्य स्थिरीकरण के बारे में विचार किया गया; किंतु कोई निर्णय न हो सका। तृतीय पंचवर्षीय योजना की पूर्वसंध्या पर, खाद्यान्नों की कमी तथा मुद्रास्फीति के कारण, मूल्यों में अस्थिरता की समस्या का तत्काल इलाज जरूरी हो गया था। योजना आयोग ने राज्य-व्यापार का खाद्यान्न-व्यापार तक विस्तार करने का सुझाव दिया। इस पर बहुत मतभेद था। अतः अधूरे मन से इसका निर्णय लिया गया। राज्य सरकारों को कार्यान्वयन का भार सौंपा गया। सामान्यतः इसमें वे असफल रहें। उपाध्याय इस विषय में अपने एक लेख में सी.राजगोपालाचारी व जयप्रकाश नारायण को संदर्भित करते हैं- “खाद्यान्न-व्यापारियों का एक सम्मेलन हुआ जिसका उद्घाटन श्री सी. राजगोपालाचारी ने किया। मुक्त अर्थव्यवस्था के कट्टर समर्थक होने के कारण उन्होंने तो खाद्यान्न-व्यापार के एकाधिकार के लिए सरकार द्वारा उठाए गए कदम का विरोध करने में व्यापारियों के-सुर में सुर मिलाया ही, स्वयं जयप्रकाश नारायण ने भी, जिन्हें एक समाजवादी होने के नाते सरकार का समर्थन करना चाहिए था, यह विचार व्यक्त किया कि खाद्यान्न-व्यापार के क्षेत्र में समाजवादी सिद्धांतों का विस्तार वांछनीय नहीं है। उन्होंने कहा कि व्यापारी पीढ़ी-दर-पीढ़ी से इस व्यापार में लगे हैं, और वे इस क्षेत्र के विशेषज्ञ हैं। सरकार इसे उनके समान कुशलता तथा दक्षता के साथ नहीं कर सकती, और इस मामले में किसी प्रकार के मतभेद या सैद्धांतिक विवाद की गुंजाइश नहीं है।”

दीनदयाल उपाध्याय ने जयप्रकाश नारायण के मत का मंडन किया तथा कहा कि योजनाकारों ने मूल्यों में स्थिरीकरण के नाम पर नियंत्रित व्यापार की नीति को अपनाया है; लेकिन फिलहाल इस सरकारी नीति ने गहरी अंतर्राज्यीय ईर्ष्या पैदा की है, “एक राज्य दूसरे राज्य के दुःख को बाँटने के लिए तैयार नहीं है। खाद्यान्न की बचतवाला राज्य उसे एक लाभदायक व्यापार समझता है, भावों को नीचे गिराने के लिए वह तैयार नहीं है। मध्य प्रदेश सरकार ने तेरह-चौदह रुपए प्रति मन की दर से गेहूँ खरीदा था;

किंतु उसने केंद्र सरकार को 19 रुपए प्रति मन के भाव से दिया, और केंद्र सरकार ने फिर उसे राज्य सरकार को 22 रुपए प्रति मन के भाव से बेचा। उपभोक्ता को वह 24 रुपए प्रति मन के भाव से उपलब्ध हुआ। इस प्रकार राज्य व्यापार ने मूल्यवृद्धि में ही योगदानद आर्थिक पर्यवेक्षण 227 दिया। दीनदयाल उपाध्याय ने सुझाव दिया कि “एक ही मार्ग है। एक केंद्रीय निगम या ऐसी ही कोई संवैधानिक संस्था गठित की जाय जो खाद्यान्नों की खरीद और बिक्री की पूरी जिम्मेदारी ले। बीच में राज्यों को नहीं आना चाहिए। केवल इसी से देश में मूल्यों में एकरूपता आ सकेगी।” उपाध्याय इस बात पर क्षोभ व्यक्त करते हैं कि सरकार मूल योजना में खाद्यान्न-उत्पादन पर तो ध्यान देती नहीं है, उसकी सब शक्ति ‘वितरण कैसे हो’ पर केंद्रित हो गई है। अभावग्रस्त सामाजिक परिस्थिति में सरकारी वितरण भ्रष्टाचार व नौकरशाही को बल देगा तथा निजी वितरण मुनाफाखोरी को। अतः उत्पादन पर ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है।

वेतन-कीमत दुष्चक्र

दीनदयाल जी ने योजनाकारों का ध्यान वेतन-कीमत दुष्चक्र की ओर भी खींचा जिसका परिणाम आर्थिक, प्रशासनिक व सामाजिक सब तरह से घातक होता है- “बड़े-चढ़े मूल्य मध्यम वर्ग के लोगों के लिए अथवा निश्चित आय वालों के लिए एक भीषण भार है। ऐसी कोई स्वप्रेरित मशीनरी नहीं है जो आय और मूल्यों के बीच समन्वय स्थापित कर सके। असंतोष व्याप्त है, संगठित माँगे रखी जा रही हैं। औद्योगिक उत्पादन व सरकारी काम को क्षति पहुँचती है। सतत् वृद्धिगत असंतोष के कारण अनुशासनहीनता को जन्म प्राप्त होता है। काम चलाने के लिए भ्रष्टाचार के अवलंबन को उपयुक्त साधन मान लिया जाता है। ये अनुचित उपाय उस समय भी चलते रहते हैं जबकि माँगे स्वीकृत हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप मूल्यों में और बढ़ोतरी होती है। इस प्रकार ‘वेतन-कीमत का दुम्बक्र’ चलता रहता है। “अतः उपाध्याय कहते हैं कि केवल वितरण-व्यवस्था के नियमन से ही मूल्यों का स्थिरीकरण संभव नहीं है। वेतनभोगी मध्यमवर्ग आज बहुत बढ़ गया है। जब तक वेतन व कीमत में संतुलन नहीं आएगा तब तक यह वर्ग मूल्यों को अस्थिर कर देनेवाली प्रवृत्ति को अपनाता रहेगा। इसका समाधान

खोजना आवश्यक है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में देश में विभिन्न आर्थिक मुद्दों पर बहस चल रही थी। इसी दौरान बंगलौर में भारतीय जनसंघ का वार्षिक अधिवेशन हुआ। तृतीय पंचवर्षीय योजना के स्वरूप के विषय में उन्होंने वहाँ अपना विशद विवेचन रखा। दीनदयाल उपाध्याय ने पंचवर्षीय योजनाओं के पंचवार्षिक चुनावों से जुड़ जाने को योजना के दलीयकरण के लिए जिम्मेदार माना है। इसी कारण योजना के निरूपण में देश के सभी दलों की सहभागिता संभव नहीं होती है। अतः कार्यान्वयन में सभी दल सहयोग दें, यह आह्वान निरर्थक है।

अब तक की दोनों योजनाओं को हम भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल नहीं ढाल सके। 'विदेशों की प्रगति के मॉडल' ही हमारी प्रेरणा के स्रोत रहे। इसीलिए योजनाओं के साथ समाजवाद व पूँजीवाद का पाष्टचात्यवादी वैचारिक संघर्ष जुड़ गया है। "समाजवाद हमारे देश व प्रकृति के लिए विदेशी है। व्यावहारिक रूप में जिसका अर्थ सत्तास्थ्य दल में शक्तियों का केंद्रीकरण है। (जनसंघ) पूँजीवाद के भी विरुद्ध है; क्योंकि वहाँ समस्त शक्ति कुछ व्यक्तियों के हाथ में केंद्रित हो जाती है। यथार्थ में पूँजीवाद तथा समाजवाद एक ही राग के दो रूप हैं। यूरोप में औद्योगिक क्रांति ने स्वावलंबी कर्मियों को ही समाप्त कर दिया है। यदि औद्योगीकरण का कार्यक्रम अपनाते समय सचेत रहे तो हम सिद्धांततः 'विकेंद्रीकरण' स्वीकार कर भारत को पूँजीवाद व समाजवाद, दोनों के दुर्गुणों से बचा सकते हैं। हमारा सिद्धांत होना चाहिए छोटी इकाइयों द्वारा उत्पादन। 'तृतीय योजना के संदर्भ में जनसंघ ने अपने प्रस्ताव में सात सुझाव दिए—उसका लक्ष्य 'पूर्ण रोजगार 'दिलाना होना चाहिए। कृषि-उत्पादन में वृद्धि को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।

किसान तथा मजदूर को उचित लाभ का आश्वासन दिया जाना चाहिए जिससे न केवल उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रेरणा बढ़ेगी बल्कि वर्तमान एवं बढ़ते हुए औद्योगिक क्षेत्र के लिए बाजार वृद्धि के अवसर बढ़ेंगे। मूल्यों में स्थिरता रखना भी आवश्यक होगा।

लघु उद्योगों, खासकर उन छोटे उद्योगों के विकास पर बल दिया जाना चाहिए जिनमें मशीनों का उपयोग होता है।

सिद्धांतों के अलावा व्यावहारिकता का तकाजा है कि सरकारी क्षेत्र को अपनी गतिविधियों का विस्तार करने की बजाय शुरू की गई गतिविधियों का दृढ़ीकरण करने पर अधिक बल देना चाहिए।

बड़ी की बजाय छोटी परियोजनाओं पर जोर दिया जाना चाहिए। इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि नई परियोजनाएँ दूसरी योजना के दौरान पूरी की गई परियोजनाओं से संबद्ध हों।

विकासशील अर्थतंत्र के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए शिक्षा और प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त सुझावों की व्याख्या करते हुए दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं— 'कांग्रेस ने भी लघु उद्योगों की चर्चा की है; किंतु उसने स्वयं को केवल 14 उद्योगों तक ही सीमित रखा है, जिनका पोषण अखिल भारतीय खादी तथा ग्रामोद्योग संघ द्वारा किया जाता है। यथार्थ में उन्होंने लघु उद्योगों के हितों को नुकसान ही पहुँचाया है। जनसंघ अनुभव करता है कि नवीन अभियांत्रिकी इकाइयों की ओर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। तनिक सा संशोधन ग्राम्य यंत्रों की उत्पादनशक्ति बड़ा देता है।'

दीनदयाल जी ने अपने जीते जी लगभग सभी पञ्च वर्षीय योजनाओं पर अपने विचार रखे और उनका गहराई से विश्लेषण किया। पंचवर्षीय योजना पर अपनी बेबाक राय देते हुए उन्होंने खा था कि योजना का विस्तृत रूप उससे भिन्न नहीं है, जैसा पहले प्रारूप में प्रकाश डाला गया था। कुछ कार्यक्रमों पर अधिक विस्तार से प्रकाश डाला गया है, पर बेकारी और मूल्य नीति आदि जैसे मामलों के बारे में, जिन्हें योजना का अंतिम रूप प्रकाश में आने तक के लिए विलंबित कर दिया गया है, योजनाकारों ने कोई स्पष्ट संकेत नहीं दिया है।

उद्देश्यों और प्राथमिकताओं की ओर ध्यान

इसके उद्देश्य, प्राथमिकताएँ और व्यूह रचना द्वितीय योजना में कोई भिन्न नहीं हैं, सिवाए इसके कि खाद्यान्नों में आत्मनिर्भरता और कृषि-उत्पादनों में वृद्धि की बात इस सूची में जोड़ दी गई है। यदि कोई ऐसी बात है जिसे योजनाकारों ने द्वितीय योजनावधि की कठिनाइयों से सीखा है, तो वह यह है कि उन्होंने देश के आर्थिक विकास में कृषि के महत्त्व को कुछ अधिक

पैमाने पर अनुभव किया है। फिर भी, हमें बाद में दिखाई देगा और यह खेदजनक है कि योजना के अंतर्गत कार्यक्रमों में इस दिशा में उद्देश्यों और प्राथमिकताओं की ओर ध्यान नहीं दिया गया है।

जनता में निराशा की भावना

योजना में जिन भौतिक कार्यक्रमों का समावेश है, उनकी अनुमानित लागत सार्वजनिक क्षेत्र में अस्सी अरब रुपए और निजी क्षेत्र में इकतालीस अरब रुपए हैं। फिर भी, वर्तमान में वित्तीय साधन सार्वजनिक क्षेत्र में पचहत्तर अरब रुपए अनुमानित है। इस प्रकार योजना के भौतिक और आर्थिक पहलुओं के बीच पाँच अरब रुपए का अंतर है, और यदि वह मान्य ही किया जाए कि अनुमान कम आंके गए हैं, जैसा कि अधिकांश योजनाओं में होता आया है, तो यह अंतर और अधिक हो सकता है। संभव है, आम चुनावों के ठीक पहले राजनीतिक उपयोगिता की दृष्टि से ऐसी अनेक योजनाओं को सम्मिलित करना आवश्यक समझा गया हो, जिन्हें अंततः त्याग दिया जा सकता है। फिर भी, इससे मिथ्या अपेक्षाएँ पैदा होती हैं, जिनकी पूर्ति न होने से जनता में निराशा की भावना पैदा होगी।

जनता पर बोझ

पचहत्तर लाख रुपए के इस आंकड़े में व्यय का केवल वह भाग सम्मिलित है जिसकी पूर्ति केंद्र सरकार और राज्यों द्वारा की जाने का प्रस्ताव है। इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं, जैसे नगरपालिका, निगमों, ग्राम-पंचायतों और जिला-परिषदों द्वारा भी, जिनका निर्माण हाल ही में सत्ता के विकेंद्रीकरण के नाम पर किया गया है, उनकी अपनी स्थानीय योजनाओं के वित्त-पोषण के लिए या अनुदानों के समकक्ष-पूरक के रूप में साधन जुटाए जाने की आशा है। इसमें विकास-सेवाओं और द्वितीय योजना के अंत तक स्थापित संस्थाओं पर होने वाले व्यय को भी जोड़ना होगा, जिसकी मात्रा पाँच वर्ष की अवधि में लगभग तीस अरब रुपए होने का अनुमान रहा है। सरकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के बाद जनता को योजना के निजी क्षेत्र वाले भाग की, जिसकी मात्रा इकतालीस अरब रुपए आंकी गई है, पूर्ति के लिए भी विभिन्न साधनों का सहारा लेना होगा।

बाईस अरब रुपए के विदेशी-पूँजी-आयात-अनुमान को घटा देने के

बाद योजना की लागत के मद में जनता को खरा-खरा एक अरब रुपए को बोझ वहन करना पड़ेगा।

पहली और दूसरी योजनाओं में क्रमशः सैंतीस अरब साठ करोड़ और सत्तर अरब रुपए पर खर्च हुआ। इस व्यय में से दस वर्ष की अवधि में निजी क्षेत्र ने इकतालीस अरब रुपए का योगदान किया। दो योजनाओं की अवधि में सार्वजनिक क्षेत्र ने पैसठ अरब पचास करोड़ रुपए व्यय किया।

दस वर्ष में पैसठ-पचास अरब रुपए के व्यय की तुलना में पाँच वर्ष में एक खरब बीस अरब रुपए का व्यय एक बड़ी छलांग है, और यदि प्रतिरक्षा के भारी व्यय एवं राष्ट्र के अन्य वायदों को देखते हुए विचारशील लोग इन बोझों को वहन करने की देश की क्षमता के बारे में स्वाभाविक संदेह व्यक्त करते हैं, या आर्थिक स्थिरता के गंभीर रूप से अस्त-व्यस्त हो जाने की शंका करते हैं, तो हमें उन्हें महत्वाकांक्षी आदि बताकर उनकी उपेक्षा करने के बदले उनकी बात सुननी चाहिए।

उपभोक्ता-उद्योगों की उपेक्षा

योजनाकारों द्वारा केवल एक ही तर्क दिया जा रहा है कि जनता की विशाल आवश्यकताओं की तुलना में योजना बहुत छोटी है। किंतु प्राथमिकताओं का निर्धारण करते समय या क्षेत्रीय योजनाओं को प्रस्तावित करते समय वे इस तर्क को भूल जाते हैं। उपभोक्ता-उद्योगों की पूर्णतः उपेक्षा कर आधारभूत और भारी उद्योगों पर बल देते हुए, देश के उपभोक्ताओं को उनकी उचित आवश्यकताओं से वंचित कर निर्यात बढ़ाने का तर्क देते हुए और उपभोग को नियंत्रित रखने के लिए नए कर लगाते हुए योजनाकार जनता की विशाल आवश्यकताओं के बदले किसी अन्य बात का ही ध्यान रखते हैं। विकास की दीर्घकालिक आवश्यकताओं और बेहतर जीवन स्तर के लिए जनाकांक्षा की पूर्ति की तात्कालिक आवश्यकताओं में संतुलन रखना होगा। हमने योजना-निर्माण की जिस पद्धति को अपनाया है, और जो रूसी आदर्श पर आधारित है, वह यह संतुलन बनाए रखने में विफल हो गई है। तृतीय योजना हमारी अर्थ-व्यवस्था पर पड़ रहे दबाव और तनाव को, जिन्हें हम पिछले सारे वर्ष में अनुभव करते आ रहे हैं, और घनीभूत करेगी।

योजना की मौलिक गलती

योजना की सबसे बड़ी गलती है उसके द्वारा भारत की परिस्थितियों पर विचार न किया जाना। उसने न तो भारत के साधनों का विचार किया और न उसकी आवश्यकताओं का। वह रूस और यूरोप के औद्योगीकरण के अनुकरण का एक क्षीण प्रयास मात्र है। उसमें भी इन देशों के सम्मुख औद्योगीकरण के काल में और उसके परिणामस्वरूप जो समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं उनका भी विचार नहीं किया गया।

विभिन्न परियोजनाओं और क्षेत्रों के बीच न तो संतुलन बिठाया गया और न समन्वय ही। किसी भी योजना की पूर्ति के लिए धन ही नहीं, भौतिक और मानवी साधनों की आवश्यकता है। हमारा संपूर्ण ध्यान धन की प्राप्ति के स्रोत ढूँढ़ना और उसके व्यय की मात्रा के अनुसार सफलता को कम से कम व्यय से अधिकतम लाभ का विचार ही भूल गए। जहाँ हमें मानवीय विकास का लक्ष्य रखना चाहिए था, वहाँ हमने भौतिक लक्ष्य रखे और उनका आधार भी वित्तीय लक्ष्य मान लिया।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के निर्माणकाल में ही प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू का देहावसान हो गया। स्वाभाविक रूप से भारत की पंचवर्षीय योजनाओं पर यदि किसी एक आदमी का सर्वाधिक प्रभाव है तो वह नेहरू का ही है। वे इस योजनाक्रम के सर्जक थे। आर्थिक प्रगति की उनकी महत्वाकांक्षी चेतना का बहुत प्रभाव इन योजनाओं में दिखाई देता है। जवाहरलाल नेहरू हुतगति से भारत का आर्थिक विकास करके दुनिया की प्रगति की दौड़ में देश को शामिल करना चाहते थे। दुनिया की गति के मुकाबले अपने देश की धीमी गति उनमें वेदना उत्पन्न करती थी। अतः उन्होंने कृषि व उद्योग के अधुनातन व वृहदत्तम साधनों वाली योजनाएँ यहाँ लागू कीं। दीनदयाल उपाध्याय सहज गति के पक्षधर थे। वे क्रमिक विकास को अधिक टिकाऊ व कम समस्याएँ पैदा करने वाला मानते थे। दुनिया की प्रगति की दौड़ में जहाँ हमारा राष्ट्रीय व्यक्तित्व आगे दिखाई देना चाहिए वहीं राष्ट्र का व्यक्ति-व्यक्ति उसमें सहभागी हो, इसकी भी चिंता करनी चाहिए। इसलिए उनका यह आग्रह सदा बना रहा कि पंचवर्षीय योजनाओं की प्रथम

वरीयता 'सबको काम' होनी चाहिए। अपनी ताकत से ज्यादा गति से दौड़ने के जो परिणाम स्वास्थ्य पर होते हैं वे हुए ही; लेकिन महत्वाकांक्षापूर्वक साहसी योजना के जो सुखद परिणाम होते हैं, वे भी हुए। नेहरू एवं उपाध्याय की यह असहमति अंत तक बनी रही। चौथी योजना भी तदनुकूल भारी थी। दीनदयाल उपाध्याय ने कहा, 'सोने का अंडा देने वाली मुरगी की ही हत्या हो जाने की संभावना है।' उनको लगा कि योजना आयोग ने अपना जो नोट तैयार किया है उसमें नवीन प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री के विचारों की उपेक्षा हुई है। अतः उन्होंने कहा, "आयोग अपने पूर्व विचारों से इस तरह प्रभावित है कि वह कुछ नया सोच ही नहीं सकता। यह वांछनीय है कि आयोग का ढाँचा बदला जाए। ऐसे लोगों को, जो अनुभव पर आधारित निर्णय ले सकते हों और प्रधानमंत्री की भावनाओं के अनुरूप योजना तैयार कर सकते हों, यह कार्य सौंपा जाए।"

लालबहादुर शास्त्री ऐसे क्रांतिकारी नेता न थे कि महान् आभासंपन्न अपने पूर्वप्रधानमंत्री के द्वारा बनाए गए योजना आयोग व योजना-प्रारूपों को आग्रहपूर्वक बदलवा देते। उपाध्याय ने चौथी पंचवर्षीय योजना पर अपनी टिप्पणी व समीक्षा पूर्व तीन योजनाओं की तुलना में अधिक व्यापक व क्रमबद्ध रूप से की है। उन्होंने इस संदर्भ में धारावाहिक रूप से पांचजन्य में 'योजना बदलो' शीर्षक से पाँच लेख लिखे हैं। उन्हीं के आधार पर हम यहाँ उनके विचारों का अध्ययन करेंगे।

योजनाओं की उपलब्धियाँ एवं कमियाँ तीन योजनाओं की उपलब्धियों को स्वीकार करते हुए उपाध्याय कहते हैं, "इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज हम देश में ऐसी बहुत सी चीजें पैदा कर रहे हैं जो 15 वर्ष पहले बाहर से मँगानी पड़ती थीं। कई नए कारखाने खुले हैं। नए-नए नगर बसे हैं। बाँध और नहरें बनी हैं। बिजली का विस्तार हुआ है तथा स्कूलों और अस्पतालों की संख्या बड़ी है। इसी प्रकार कई और भी उपलब्धियाँ गिनाई जा सकती हैं। किंतु विचार का विषय है कि यह सब हमें किस कीमत पर मिले हैं? इस प्रयत्न में हमने नई समस्याएँ तो नहीं निर्माण कीं?" इन योजनाओं के बावजूद हम कई समस्याओं का निदान नहीं कर सके तथा कुछ नई गंभीर समस्याएँ पैदा हो गईं जो सबके लिए चिंता का कारण है, "खाद्याभाव, बेकारी, महँगाई, मुद्रास्फीति, कर भार,

भुगतान-असंतुलन में वृद्धि, विदेशी कर्ज, परावर्तबिता, आर्थिक विषमता में वृद्धि, आवश्यक वस्तुओं की कमी तथा पूँजी-निर्माण में संकोच आदि इतनी गंभीर समस्याएँ पैदा हो गई हैं कि भविष्य के संबंध में प्रत्येक के मन में चिंता पैदा होती है।”

योजनाकारों की जिम्मेदारी इन गंभीर समस्याओं के लिए उपाध्याय योजना करने वालों को जिम्मेदार मानते हैं तथा योजना आयोग द्वारा इसके लिए क्रियान्वयन में कमी को दोषी ठहराने के लिए योजना आयोग को ही आड़े हाथों लेते हैं- “योजना आयोग अनेक क्रियान्वयन की कमी को बहुत-सी समस्याओं का कारण बताता है; किंतु नियोजक को योजना बनाते समय काम करने वालों की क्षमता और प्रेरणा का विचार करके ही योजना बनानी चाहिए। जो चीज व्यवहार में नहीं लाई जा सकती वह कितनी भी मनोहर क्यों न लगे, निरूपयोगी है। क्रियान्वयन की कमी के अतिरिक्त योजना की व्यूह-रचना की कमी भी रही है।” योजनाकार अपनी समाजवादी मानसिकता में सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करते चले गए। उपाध्याय के अनुसार यही व्यूह-रचना की सबसे बड़ी खामी थी- “दूसरी और तीसरी, दोनों ही योजनाओं में गैर-सरकारी तथा छोटे उद्योगों के क्षेत्र में योजना द्वारा कथित लक्ष्यों से अधिक काम हुआ है। यदि यह न हुआ होता तो आज चारों ओर का विद्यमान अभाव और बढ़ गया होता। यदि आयोग द्वारा सुझाया गया सहकारी खेती का कार्यक्रम अपनाया गया होता तो खेती की पैदावार और घट गई होती। ग्रामीण क्षेत्रों की बेकारी और भूमिहीन किसानों की तादाद बेशुमार बढ़ गई होती तथा खेती के लिए लगने वाली पूँजी या तो सरकार जुटा न पाती या उसके लिए और अधिक कराधान तथा मुद्रा विस्तार का सहारा लेती जिसका परिणाम महँगाई की और वृद्धि में होता। अतः केवल क्रियान्वयन को दोष देकर नीति संबंधी मूल गलती पर परदा डालने से काम नहीं चलेगा।”

चौथी योजना की उपर्युक्त पूर्वपीठिका के बाद उपाध्याय योजना की अपने चिरपरिचित तर्क के साथ आलोचना करते हैं। चौथी योजना की इस समीक्षा में उपाध्याय कोई नई बात कहते हुए दिखाई नहीं देते, वरन् अपनी अब तक की गई समालोचनाओं को क्रमबद्ध रूप से रखते हैं तथा नवीन तथ्यों पर आधारित गवाहियाँ प्रस्तुत करते हैं। हम उस समीक्षा का संक्षिप्त आकलन यहाँ करेंगे।

(क) अव्यावहारिक समय-सीमा व पूँजीप्रधानता: पूर्व की तीनों योजनाओं को उपाध्याय ने बहुत भारी-भरकम व असह्यबोझ वाली बताया था। यह योजना, जिसमें 22500 करोड़ रुपए व्यय का अनुमान था, इसके कारण बढ़ने वाला कराधान जनता के लिए कमरतोड़ होगा। अतः इतनी बड़ी योजना को केवल पाँच ही वर्ष में लागू करना, यह कोरी जिद्द है। जिन 'किंतु-परंतुओं' के साथ योजना आयोग ने धन जुटाने की बात की है उन शर्त की पूर्ति असंभव जैसी है। 'न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेगी।' सुरक्षा व पुनर्वास का व्यय हमारे हाथों में नहीं है। पाकिस्तान और चीन का जैसा रवैया चला आ रहा है, उससे यह मानना कि इन मदों में हमें अधिक खर्च नहीं करना पड़ेगा, यथार्थ से आँख मूँद लेना है। इस प्रकार के अयथार्थवादी अनुमानों का परिणाम यह होता है कि लक्ष्यों और उपलब्धि में भारी अंतर आ जाता है तथा जनता के ऊपर भार बढ़ जाता है। "योजना का इतना भारी होना उसकी पूँजीप्रधान प्रकृति के कारण है।" स्पष्ट है कि हम देश के विकास के लिए मानवशक्ति का पूरा उपयोग नहीं कर रहे। योजनाओं की यह मौलिक गलती है कि वे श्रम प्रधान नहीं हैं।"

(ग) छोटी नहीं, छोटी इकाइयों की बड़ी योजना: फिजूलखर्ची, पूँजीप्रधान दृष्टिकोण, करों के भारी बोझ तथा बेरोजगारी में अभिवृद्धि करने वाली योजनाएँ उपाध्याय द्वारा आलोचना का विषय बनाई गई हैं; परंतु वे बड़ी योजनाओं का विरोध करते हुए भी छोटी योजनाओं के हिमायती नहीं हैं। देश की विशाल व विराट् जनसंख्या के अनुसार योजना छोटी नहीं हो सकती। अतः उपाध्याय छोटी-छोटी इकाइयों की बड़ी योजना की हिमायत करते हुए अपने 'विकेंद्रीकरण' दर्शन को पुनः यहाँ प्रतिपादित करते हैं जो छोटी इकाई, छोटी मशीन व छोटी पूँजी के आधार पर व मानव श्रम के बल पर नियोजित की जा सकती है जो हमें विदेशी पूँजी की परावर्तितता से मुक्ति देगी व स्वदेशी मानवीय श्रम की प्रतिशपक होगी। थोड़े से पूँजीपतियों व सरकार की मिलिक्यत में चलनेवाली इन योजनाओं ने देश के आम आदमी को मजदूर मात्र बना दिया है अथवा बेरोजगारी का शिकार बना दिया है।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि इस योजना के अंतर्गत "विदेशी पूँजीपतियों को भारत में अपने उद्योग खोलने में पहल करने तथा उनकी इच्छानुसार भारतीय उद्योगपतियों में से अपना साथी खोजने की सुविधा दी

गई है। नियंत्रण व बहुतांश पूँजी स्वदेशी हो, यह शर्त भी खत्म कर दी गई है। इस छूट का सीधा नतीजा यह होगा कि विदेश के बड़े-बड़े केंद्रित उद्योग भारत में अपने कारखाने खोलकर छोटे उद्योगों को समाप्त कर देंगे। “हमारे उद्यमी बहुत सी वस्तुओं को बनाने के लिए रोक दिए गए हैं। विदेशी पूँजी के साथ जितने कारखाने बने हैं उनमें से अधिकांश का उत्पादन-कार्यक्रम विदेशी मालिकों के हाथ में है। तंत्रज्ञान वे हमको सिखाने को तैयार नहीं है। हाँ कुछ भारतीयों को उन्होंने संचालक मंडल में उनकी हाँ-में-हाँ मिलाने के लिए रख लिया है तथा बिक्री के लिए एजेंटों के रूप में भारी तनखाह देकर कुछ भारतीयों को नियुक्त किया है। “विदेशी कर्ज भी इतना हो गया है कि व्याज चुकाने के लिए चौथी योजना की अवधि में औसतन 245 करोड़ रुपए प्रतिवर्ष चाहिए।” आत्मनिर्भर होने के स्थान पर हम अधिकाधिक परावलंबी बनते जा रहे हैं।”

विदेशी पूँजी तथा मशीनों के खतरों की व्यापक हानियाँ गिनवाते हुए उपाध्याय निरूपित करते हैं, “विदेशों से मशीन लाकर लगाने से ही काम नहीं चलता, उनको चलाए रखने के लिए भी वहाँ से विभिन्न प्रकार का कच्चा माल तथा मरम्मत के लिए पुरजे मँगाने पड़ते हैं। इस मद में तीसरी योजना में 3800 करोड़ रुपए के आयात का अनुमान लगाया गया था जो दूसरी योजना की अवधि के लिए किए गए कुल आयात से भी अधिक था। चौथी योजना भी इसी आधार पर बनाई गई है। विदेशी मुद्रा का संकट हमारी अर्थव्यवस्था का नासूर बन गया है।”

मूल्य वृद्धि एवं मुनाफाखोरी

दीनदयाल जी ने लिखा है कि “सामान्यतः धारणा यह है कि महँगाई के लिए व्यापारी जिम्मेदार है। अगर सरकार व्यापार को अपने हाथ में ले ले तो चीजें सस्ती हो जाएँ। अगर व्यापारी दाम बढ़ाता है तो वह कौन-सा व्यापारी है? उसे सरकार रोकती क्यों नहीं? साथ ही जो चीजें सरकार बेच रही है उनका दाम भी क्यों बढ़ा दिया जाता है? पोस्टकार्ड, लिफाफे के, तार की दर, रेल का किराया, बिजली और खाद, स्टील और पेनिसिलिन आदि के भाव तो सरकार ही तय करती है, वे सब क्यों बढ़ गए? बाहर से आने वाले गेहूँ का भाव सरकार ने क्यों बढ़ा दिया? सरकार की नीतियाँ तथा योजना बनाने वाले इसके लिए कुसूर वार हैं।”

“चौथी योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि सरकारी कारखानों में मूल्यनीति का इस प्रकार निर्धारण किया जाए कि उसमें कम-से-कम 12 प्रतिशत मुनाफा हो। यदि यह मुनाफा खर्च में क़िफ़ायत अथवा प्रबंध में कुशलता तथा वैज्ञानिकता से हो तो शलाध्य है। किंतु कीमतों को बढ़ाकर मुनाफा कमाना तो मुनाफ़ाखोरी ही कहलाएगी।”

प्राथमिकताएँ व रूस की नकल

दीनदयाल जी पुनः आग्रह करते हैं कि उत्पादन की प्राथमिकताओं को बदला जाए। ऐशो-आराम की चीजें न पैदा करते हुए रोटी, कपड़ा और मकान की प्राथमिक आवश्यकता की पूर्ति ही एक योजना का परमलक्ष्य घोषित कर तदनुकूल आयोजना का निर्माण होना चाहिए।

आयोग का यह कथन कि “जीवनोपयोगी वस्तुओं के मूल्यों को बाँधने के लिए प्रत्यक्ष नियंत्रण का उपयोग करने के लिए देश को तैयार रहना चाहिए।” उपाध्याय ने इस सरकारी नियंत्रण को ‘जादू की छड़ी’ मानने वाली प्रवृत्ति का द्योतक बताया है। उपाध्याय कहते हैं कि इससे चीजें तो सस्ती नहीं ही होंगी, किसान व व्यापारी दोनों खत्म हो जाएँगे। जीवनोपयोगी चीजें बाजार से गायब हो जाएँगी।

“खाद्यान्नों में उत्पादन वृद्धि हेतु ‘सूरतगढ़ के फार्म के नमूने पर’ रूस हिंदुस्तान में हर प्रांत में सरकारी फार्म खोलने के लिए मदद को कह रहा है। रूस के सरकारी फार्म असफल हो गए। वह अमेरिका से गेहूँ ले रहा है तथा अपने यहाँ सरकारी फर्म को बंद कर रहा है, पर हमें सलाह दी जा रही है कि हम ये फार्म बनाएँ। किताबी सिद्धांतों के चक्कर में पड़कर योजना आयोग भी इसी दिशा में सोच रहा है।”

किसान व मध्यम वर्ग त्रस्त

दीनदयाल जी ने लिखा है कि भारी औद्योगिक प्राथमिकता व सिंचाई तथा खाद वृहद् प्रकल्पों ने आम किसान को कोई राहत नहीं पहुँचाई। साथ ही “जब कीमतों की बात होती है तो साधारणतः शहर में रहने वाले लोगों का ही विचार होता है, किसान को वे भूल जाते हैं। कुछ लोग तो स्थिर मूल्यों का अर्थ अनाज के नीचे भावों को ही समझते हैं।” किसान को जब तक अपनी फसल का अच्छा दाम नहीं मिलेगा तब तक न तो देश

की पैदावार बढ़ेगी और न मूल्य ही स्थिर होंगे। अन्नपूर्णा (भारतीय कृषि) भिखारिन क्यों बन गई? यद्यपि हमारी राष्ट्रीय आमदनी का लगभग आधा खेती से मिलता है। “तो भी हमने उसकी उपेक्षा की।” पूँजी गाँवों की ओर जाने के स्थान पर शहरों की ओर जा रही है।”

“विषमताओं को कम करने का विषय नारों से आगे नहीं बढ़ पाया। ‘समाजवाद’ का दुधारा मध्यमवर्गीय धंधों पर चल रहा है। शासन में व्याप्त भ्रष्टाचार तथा अन्य बड़े-बड़े लोगों द्वारा काले बाजार तथा कर चोरी के कारण कालाधन ‘नियोजन’ को सुरंग लगाकर ध्वस्त कर रहा है। न तो सरकार के छापे प्रभावी हुए हैं और न वित्त मंत्री की सुविधाएँ आकर्षक समझी जा रही हैं। नियंत्रण के नाम पर बनाए गए कानून भी केवल मध्यमवर्गीय दुकानदार को ही तंग करते हैं। उपाध्याय अंत में कहते हैं, “हम नियोजन के विरुद्ध नहीं हैं, पर हमारी योजनाएँ न तो यथार्थ पर आधारित हैं तथा न समाज में कर्म की प्रेरणा पैदा करती है।” उपाध्याय माँग करते हैं— “एक स्वतंत्र आयोग बैठाना चाहिए जो पिछले पंद्रह वर्ष की आर्थिक स्थिति तथा अपनाई गई नीतियों की जाँच करे और मौलिक गलतियों को बताए।”

दीनदयाल उपाध्याय द्वारा की गई चारों योजनाओं की समीक्षा एवं आलोचनाओं में तार्किक विश्लेषण है हैं। एक ही बात को विभिन्न प्रसंगों पर भिन्न- भिन्न प्रकार से प्रस्तुत किया गया सरकार की योजनाओं में पुनः पुनः अपने ‘समाजवाद सार्वजनिक क्षेत्र’ व ‘भारी योजनाओं’ आर्थिक पर्यवेक्षण 235 की प्राथमिकता को दोहराया है। ये तीनों बातें चारों योजनाओं में यथावत् थीं। अतः स्वाभाविक रूप से हर बार प्रस्तुत की गई उन्हीं बातों की आलोचना भिन्न तर्क से की गयी है । दीनदयाल उपाध्याय ने इन तीनों बातों के खिलाफ अपना ‘स्वदेशीकरण’ राष्ट्रीय अथवा स्वयंसेवी क्षेत्र एवं ‘विकेंद्रीकरण’ की मूलभूत अवधारणाओं का आग्रह निरंतर बनाए रखा। हर प्रसंग का खंडन-मंडन इन्हीं अवधारणाओं के आधार पर होता था। दीनदयाल जी एक नित्य सक्रिय राजनेता थे। उन्हें अपने कार्यकर्ताओं व जनता के सम्मुख सतत रूप से अपनी बातें रखनी होती थीं। अपनी विचारधारा के प्रति कार्यकर्ताओं व समाज में आस्था उत्पन्न करने के लिए भी विषयों की बारंबार आवृत्ति आवश्यक होती है। हर नए प्रसंग पर अपनी मूल अवधारणा को सही सिद्ध करने के लिए भी तर्क की पुनरावृत्ति होती है। एक अध्येता

के लिए इतनी आवृत्तियाँ सुखद नहीं होतीं; लेकिन राजनीतिक कार्यकर्ता की यह अनिवार्यता है।

आर्थिक क्षेत्र में अपने दल को राष्ट्रीय दृष्टि से सन्नद्ध करने के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम व अध्ययन किया। उपाध्याय की टिप्पणियों व विभिन्न संदर्भ की समीक्षाओं को देखकर जनसंघ के बारे में फैली इस धारणा के प्रति आश्चर्य होता है कि जनसंघ के पास आर्थिक विचारों का अभाव था। शायद इस धारणा का कारण यह है कि सार्वदेशिक स्तर पर जनसंघ राष्ट्रीय अखंडता व संस्कृतिवाद को जिस प्रकार आंदोलनों के माध्यम से मुखरित कर सका उसी भावात्मकता व मुखरता के साथ उसने आर्थिक आयामों को मुखरित नहीं किया। भावात्मक रूप से जनसंघ का कार्यकर्ता आर्थिक अन्यायों के प्रतिकार, विधायक अर्थव्यवस्था के सृजन एवं आर्थिक नारों के प्रति अपने को उतना संबद्ध नहीं कर पाया जितना कश्मीर, बेरुबाडी की घटनाओं व पाक-चीन के आक्रमण के खिलाफ उसने अपने को संवेगात्मक रूप से जोड़ रखा था। जनसंघ के नेतृमंडल में उपाध्याय ही थे जो आर्थिक विषयों पर अधिकारपूर्वक बोलते थे। जनसंघ को राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की पृष्ठभूमि के कार्यकर्ता प्राप्त होते थे। उनकी भी सामान्यतः आर्थिक विषयों में अधिक रुचि नहीं होती। संघ-जनसंघ के ऐसे परिवेश में रहते हुए भी दीनदयाल उपाध्याय ने इन विषयों पर अपने आपको अभिकेंद्रित किया। राजनीतिक दल के नेतृत्व के लिए यह आवश्यक था। इससे भी उनके व्यक्तित्व की दायित्वपूर्णता व अध्यवसायिता का पक्ष उजागर होता है।

हमारी अर्थ-नीति का मूल आधार

यहाँ भारत में, व्यक्ति के एकीकृत प्रगति को हासिल के विचार से, हम स्वयं से पहले शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की चौगुनी आवश्यकताओं की पूर्ति का आदर्श रखते हैं।

दीनदयाल जी ने विकासोमुख भारतीय अर्थनीति की दिशा की ओर संकेत अनेक बार किया है। यह निश्चित है कि काफी लंबे अर्से से परागति की ओर जाने वाली व्यवस्था को प्रगति की दिशा में बदलने के लिए प्रयास करने होंगे। स्वतः वह ह्रास से विकास की ओर नहीं मुड़ सकती। वास्तव में जब कोई व्यवस्था शिथिल हो जाती है तो उसके स्वतः सुधार का सामर्थ्य जाता रहता है। विकास की शक्तियों का प्रादुर्भाव होने एवं गति देने के लिए योजनापूर्वक प्रयास करने पड़ते हैं। स्वतंत्र देश के शासन के ऊपर स्वाभाविक रूप से यह जिम्मेवारी आती है।

अपने इस दायित्व का निर्वाह करने के लिए योजना और नीतियों के निधरण की आवश्यकता होती है। किंतु शासन कई बार गलती कर जाता है। वह अर्थ-व्यवस्था को गति देने के स्थान पर स्वयं ही उसका अंग बनकर खड़ा हो जाता है। इस प्रयास में उसे उन लक्ष्यों और उद्देश्यों का भी विस्मरण हो जाता है जिनको लेकर उसने अपने प्रयत्न प्रारंभ किए थे।

अर्थ-व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्तन संपूर्ण जनता के नाम पर 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' के नामाभिधान से तानाशाही चलावे और चाहे वह सही माने में प्रतिनिधि शासन हो, जनता का स्थान नहीं ले सकता। वह जनता का मार्गदर्शन कर सकता है, सहायक बन सकता है, उसका नियंत्रण कर सकता

है, आदेश दे सकता है, उसे गुलाम बना सकता है। इनमें से उसे किस रूप में व्यवहार करना है इस पर ही उसकी योजनाओं की मर्यादाएँ और स्वरूप निर्भर करेंगे।

नियोजन का स्वरूप

दीनदयाल जी ने लिखा है कि 'नियोजन' शब्द का पहले रूस द्वारा व्यवहार होने के कारण उसे साम्यवादी अर्थ-व्यवस्था का आवश्यक अंग ही नहीं, नियोजित अर्थनीति का अपरिहार्य परिणाम भी साम्यवाद माना जाता है। किंतु आज नियोजन साम्यवादियों तक सीमित नहीं। अमेरिका और ब्रिटेन भी नियोजन में विश्वास करते हैं। पर रूस और इन देशों की नियोजन की कल्पनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। चूँकि साम्यवादी देश एक अत्यंत ही सूत्रबद्ध योजना बनाए तथा संपूर्ण आर्थिक गतिविधियों, उत्पादन, वितरण और उपभोग का पूरी तरह नियंत्रण करें। इसके विपरीत प्रजातंत्रवादी अपने विशेष दृष्टिकोण के कारण ही बहुत अधिक नियंत्रित योजना को, यदि वह, आर्थिक कारणों से संभव भी हो, नहीं अपनाएँगे। इसी आधार पर सन् 1948 में ब्रिटेन की चतुर्वर्षीय योजना में लिखा थायूनाइटेड किंगडम का आर्थिक नियोजन इन मूलभूत तथ्यों पर आधारित है आर्थिक तथ्य कि यू.के. की अर्थव्यवस्था अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर अत्यधिक निर्भर है, राजनीतिक तथ्य कि वह (यू.के) एक प्रजातंत्र है और रहेगा; तथा प्रशासनिक तथ्य कि कोई भी नियोजक भावी आर्थिक विकास की सामान्य प्रवृत्तियों से अधिक का ज्ञान नहीं रख सकता।

नियोजन और प्रजातंत्र

दीनदयाल जी ने लिखा है कि आर्थिक नियोजन में यह अंतिम तथ्य अत्यधिक महत्त्व का है। जब कोई भी मनुष्य किसी जीवनमान एवं विकासशील अर्थव्यवस्था के भावी व्यवहार के संबंध में भविष्यवाणी करता है तो वह केवल अपने अनुभवों एवं कल्पनाओं के आधार पर ही कुछ अनुमान लगाता है। यह निश्चित नहीं कि वे पूरी तरह सत्य उतरें। अतः उसे उनमें सदैव परिवर्तन के लिए तैयार रहना चाहिए। किंतु तानाशाही शासन परिवर्तन स्वीकार करने के स्थान पर अर्थ की गतियों को अपनी भविष्यवाणी के अनुसार बदलने का आग्रह करता है। उसमें से संकट पैदा होते हैं। इसी

प्रकार जब कोई नियोजक योजना के विभिन्न प्रकार संबद्ध अंगों में संभाव्य परिवर्तनों के लिए गुंजाइश छोड़कर नहीं चलता तो विभिन्न प्रकारों के संकट खड़े हो जाते हैं। उन्हें टालने के लिए शासन अधिकाधिक शक्ति अपने हाथ में लेता जाता है। रूस आदि साम्यवादी देशों में यदि पहला प्रकार दिखता है तो भारत में दूसरा। एक में तानाशाही ही अर्थनीति का नियंत्रण करती है तो दूसरे में अर्थनीति की कठिनाइयां तानाशाही को जन्म दे रही हैं। हमें दोनों से बचना होगा।

मानव-ज्ञान की इन सीमाओं के अतिरिक्त भी नियोजन की मर्यादाएँ जीवन के अन्य मूल्यों के आधार पर निश्चित करनी पड़ती हैं। जहां शासन ही संपूर्ण अर्थोत्पादन कर स्वामी है वहाँ योजना बनाना और कार्यान्वित करना सरल है। जहाँ व्यक्तियों को आर्थिक क्षेत्र में खुली छूट है वहाँ भी अधिक कठिनाई नहीं, किंतु जहाँ एक मिश्रित अर्थ-व्यवस्था है वहाँ नियोजन एक दुष्कर कार्य है। उदाहरण के लिए जहाँ केवल सैन्य-संचालन का कार्य करना है वह सरलता से किया जा सकता है।

नीति और नियोजन

प्रजातंत्रीय देशों में शासन मौद्रिक एवं वित्तीय नीतियों, अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के नियंत्रण आदि से अर्थ-व्यवस्था की गतिविधियों को ठीक रखता है। उनका नियोजन नीति-निर्धारण, बजट आदि तक सीमित रहता है। वे एक-एक क्षेत्र और एक-एक इकाई की गतिविधि की चिंता नहीं करते। इसे हम बृहत् आर्थिक नियोजन कह सकते हैं। इसके विपरीत जहाँ छोटे-छोटे लक्ष्यों का निर्धारण तथा सूक्ष्म से सूक्ष्म आर्थिक गतिविधियों का नियोजन किया जाए उसे अणु-आर्थिक नियोजन कहेंगे। रूस दूसरी पद्धति का पालन करता है तो अमेरिका और ब्रिटेन पहली का। हमने दोनों का मेल बिठाने की कोशिश की है किंतु पूर्ण समाजवाद न होने के कारण दूसरा असफल होता है तो सार्वजनिक क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार होने के कारण पहला प्रभावी नहीं हो पाता। आवश्यकता है कि शासन अपने हाथ में बहुत ही थोड़े एवं अपरिहार्य उद्योग ले तथा शेष का नियंत्रणों के द्वारा नियमन करता चला जाए।

औद्योगीकरण एवं औद्योगिक शिक्षा

जब राज्य में समस्त शक्तियां समाहित होती हैं-राजनीतिक और आर्थिक दोनों-परिणामस्वरूप धर्म की गिरावट होता है।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि आज की आवश्यकता है कि वेग के साथ औद्योगीकरण का कार्यक्रम अपनाया जाए। इसके लिए कुटीर एवं ग्रामोद्योगों को आधार बनाकर, बड़े उद्योगों को उनके साथ समन्वित किया जाए। वे एक-दूसरे के प्रतिस्पर्धी न बने इसका ध्यान रखा जाए। इस दृष्टि से कुछ सुझाव नीचे दिए जाते हैं

केंद्र में एवं प्रांतों में उन उद्योगों के रक्षण एवं विकास के लिए आयोगों की स्थापना हो। छोटे उद्योगों को कच्चा माल दिलाने की पूर्ण व्यवस्था की जाए। सहकारी संस्थाओं की स्थापना करके अथवा पुरानी आदत की पद्धति का प्रचार करके यह व्यवस्था की जा सकती है। सरकार अपनी ओर से गोदाम खोल सकती है।

कारीगरों को कम दर पर कर्जा मिलने की व्यवस्था हो। छोटी मशीनें जो विद्युत से भी चल सकें उन्हें उपलब्ध कराई जाएँ तथा उन्हें विद्युत शक्ति देने का प्रबंध हो। मशीन और कच्चा माल मिल सके तथा उसका भुगतान तैयार माल से अथवा किशतों में हो।

तैयार माल की बिक्री के लिए उचित व्यवस्था हो। सहकारी संस्थाओं के द्वारा अथवा सहकारी क्रय भंडारों द्वारा यह व्यवस्था हो। सरकार इस बात का दायित्व ले कि वह कारीगरों द्वारा तैयार माल को, यदि वह बाजार में नहीं बिकता, तो उचित मूल्य पर खरीद लेगी।

स्थान-स्थान पर इन उद्योगों की दृष्टि से अनुसंधान केंद्र खोले जाएँ। रेल भाड़े की दरों में कुटीर उद्योगों के माल के अनुरूप परिवर्तन किया जाए। बड़े कारखाने केवल उन वस्तुओं के खोले जाएँ जिनका विकेंद्रीकरण संभव

न हो, इनके उत्पादन की सीमाएँ एवं क्षेत्र, निश्चित कर दिए जाएँ।

विदेशी माल पर नियंत्रण कर स्वदेशी को प्रोत्साहन दिया जाए। सरकारें अपनी आवश्यकता की पूर्ति कुटीर उद्योगों के माल से ही करें। कारीगरों को शिक्षा देने के लिए उद्योग शिक्षा केंद्रों की स्थापना की जाए। कुटीर उद्योगों के माल को बिक्री कर आदि करों से मुक्त कर दिया जाए। दूतावासों में केवल स्वदेशी तथा विशेषतः कुटीर उद्योग निर्मित वस्तुओं का ही उपयोग हो।

बेकारी को रोकने एवं उद्योग-धंधों को प्रोत्साहन देने के लिए सर्वसाधारण की क्रयशक्ति बढ़नी चाहिए। इसके लिए आय की विषमता दूर कर उसमें समानता स्थापित करनी होगी। शासन की कर-नीति इस लक्ष्य की प्राप्ति में दूर तक नहीं ले जाती। निम्न और मध्यवर्ग के लोगों को कर मुक्त कर ऊपर के वर्ग पर कर का भार बढ़ाना होगा। बड़े-बड़े लोग पूँजी के दब जाने का शोर मचाकर भार से बचते रहते हैं किंतु यह ठीक नहीं। यदि आर्थिक विषमता बनी रही तथा नीचे के लोगों की क्रय शक्ति नहीं बढ़ी तो पूँजी निकालकर भी कोई लाभ नहीं। वास्तव में तो जो चीज पैदा होती है उसके खरीददार मिलते गए तो उद्योग पनपता जाएगा। अतः पैदा किए हुए माल के लिए माँग पैदा करना उद्योगों को बढ़ाने के लिए आवश्यक है। इस माँग की कमी के कारण ही बेकारी पैदा होती है।

अक्षर और साहित्य ज्ञान के साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि विद्यार्थी को किसी न किसी प्रकार की औद्योगिक शिक्षा दी जाए। औद्योगिक शिक्षा की दृष्टि से यद्यपि विचार बहुत दिनों से हो रहा है किंतु अभी तक सिवाय कुछ औद्योगिक शिक्षा केंद्रों के खोलने के साधारण शिक्षा का मेल औद्योगिक शिक्षा से नहीं बैठाया गया है। टेक्निकल और वोकेशनल शिक्षा केंद्रों में भी शिक्षा प्राप्त नवयुवक इस योग्य नहीं बन पाते कि वे स्वयं कोई कारोबार शुरू कर सकें। वे भी नौकरी की ही तलाश में घूमते हैं। कारण, जिस प्रकार की शिक्षा उन्हें दी जाती है वह उन्हें अपने पैरों पर खड़ा होने के अयोग्य बना देती है। अतः आवश्यक तो यह होगा कि गाँवों के धंधे, खेती और व्यापार के साथ हमें शिक्षा का मेल बैठाना होगा।

शिक्षा का प्रबंध रुचि अनुसार

दीनदयाल जी ने लिखा है कि प्रथमतः शिक्षा की प्रारंभिक एवं माध्यमिक अवस्थाओं में हमें विद्यार्थी को उसके घरेलू धंधे के वातावरण से अलग करने की जरूरत नहीं। बल्कि हम ऐसा प्रबंध करें कि वह उस

वातावरण में अधिक-से-अधिक रह सके तथा अज्ञात रूप से वह धंधा सीख सके। धीरे-धीरे हमें यह भी प्रयत्न करना होगा कि वह अपने अभिभावकों का सहयोगी बन सके। माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने तक नवयुवक को अपना धंधा भी आ जाना चाहिए। हो सकता है कि उन धंधों की योग्यता के प्रणाम पत्र की भी हमें कुछ व्यवस्था करनी पड़े। माध्यमिक शिक्षा तक कुशाग्र बुद्धि सिद्ध होने वाले नवयुवकों की आगे शिक्षा का प्रबंध उनकी रुचि के अनुसार किया जाए।

प्रत्येक को काम

दीनदयाल जी ने लिखा है कि जनसंख्या उसकी आवश्यकता में उन आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन एवं व्यवस्था, इन तीनों का पारस्परिक संतुलन जब बिगड़ जाता है तब अर्थ-संबंधी समस्याएँ पैदा हो जाती हैं। आज देश की जनसंख्या बढ़ती जा रही है किंतु उसके अनुपात में उत्पादन के साधन और उत्पादन नहीं बढ़ रहा। फलतः हमारी आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो पातीं। अतः हमारा रहन-सहन स्तर बहुत ही नीचा है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि हम उत्पादन के साधनों की वृद्धि के लिए आवश्यक वस्तुओं का उत्पादन करें। इसके लिए हमारी निगाह स्वाभाविक ही पश्चिम के बड़े-बड़े कारखानों के द्वारा उत्पादन की ओर चली जाती है और हम पिछले छह वर्ष से उसके लिए प्रयत्नशील हैं।

किंतु प्रश्न उठता है कि क्या उन साधनों से हम देश के सभी लोगों को काम दे सकेंगे यदि नहीं तो उन साधनों के स्वामी एवं उन पर काम करने वाला एक छोटा सा वर्ग रह जाएगा। फलतः उत्पादित वस्तुओं का समान रूप से वितरण नहीं होगा। बचे हुए लोगों को या तो जनसेवा के रूप में लगाना होगा अथवा हमारी आवश्यकताएँ इतनी विभिन्न प्रकार की हो जाएँ जिससे उसकी पूर्ति के लिए सबको खपा सकें तथा उनके साधन जुटा सकें। यह भी संभव है कि हम कानून बनाकर जहाँ चार लोगों से काम चल जाएँ वहाँ दस लोगों को रखने की सलाह दें यह प्रजातांत्रिक देश में व्यापक रूप से संभव नहीं है।

आज बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना के साधन जुटाना भी हमारे लिए कठिन हो रहा है तथा उस प्रतिक्रिया में हम छोटे उद्योगों के साधनों को भी नष्ट कर रहे हैं। अब बेकारी प्रमुखतया यांत्रिक है। यंत्र मनुष्य की जगह लेता

जा रहा है तथा मनुष्य बेकार होता जा रहा है। यंत्र का अर्थ प्रगति समझा जाता है और इसलिए हमारी प्रगति वादी मनोवृत्ति यंत्रीकरण से विमुख नहीं होने देती। हमें इस संबंध में समन्वयात्मक दृष्टि से काम करना होगा। हमारी नीति का आधार होना चाहिए प्रत्येक को काम।

प्रत्येक नागरिक का अधिकार है कि उसे काम मिले। काम न मिलने से उसकी व्यक्तिगत आजीविका का सहारा तो जाता ही रहता है, वह राष्ट्र की संपत्ति के अर्जर में सहायता देने से भी वंचित हो जाता है। प्रत्येक को काम का सिद्धांत यदि स्वीकार कर लिया तो 'समवितरण' की दिशा में निश्चित हो जाती है। अधिक केंद्रीकरण के स्थान पर हम विकेंद्रीकरण की ओर बढ़ते जाते हैं।

स्वदेशी वस्तुओं के प्रति प्रेम की भावना

सरकार की आयात-नीति के कारण हमारे बाजार विदेशी माल से पट गए हैं। उनके सस्ते और अच्छे होने तथा 'स्वदेशी' प्रेम के अभाव के कारण उनकी भारी खपत है। बेकारी बढ़ रही है। इसे रोकने के लिए जहाँ एक ओर विदेशी आयात की उन वस्तुओं पर जो स्वदेशी तैयार माल पर अनुचित रूप से दबाव डाल रही हों प्रतिबंध लगाना होगा तो हमारी ओर समाज में 'स्वदेशी' की भावना को भी जाग्रत करना होगा। विदेशी आयात पर नियंत्रण आयात-निर्यात एवं तटकर नीति के द्वारा किया जा सकता है। बड़े-बड़े उद्योगों को संरक्षण देने की नीति तो शासन में अंग्रेजी काल से ही अपनाई है। घरेलू ग्रामोद्योगों की ओर इस दृष्टि से कभी ध्यान नहीं दिया गया। उन्हें संरक्षण की नितांत आवश्यकता है और वह हमें देना ही होगा।

हमारी बहुत सी चीजों की विदेशों में खपत है। लड़ाई के जमाने में कपड़ा एवं कई अन्य वस्तुओं के लिए हमने मध्यपूर्व एवं सुदूर पूर्व के देशों में अपने बाजार बना लिए थे। काम की वस्तुओं के लिए तो आज भी अमेरिका और यूरोप के देशों में हमारे माल की काफी पूछ होती है। यदि प्रयत्न किया जाए तो ये बाजार भी बढ़ सकते हैं। फर्रुखाबाद की छींट और बनारस के रेशम के रुमालों की अमेरिका में बहुत भारी माँग है। किंतु सरकारी नियंत्रण नीति के कारण यह माँग ठीक तरह से पूरी नहीं हो पाई जबकि हम डालर कमाने के लिए बड़े उत्सुक रहे।

स्वाभाविक विकास की अवधारणा

आज देश में दो प्रकार के वर्ग हैं। एक तो आधुनिक यंत्रीकरण के बिलकुल विरोधी है तथा उसे कतई नहीं चाहते। दूसरे वे हैं जो अनियंत्रित रूप से यंत्रीकरण की वृद्धि चाहते हैं। हम समझते हैं दोनों ही दृष्टिकोण गलत हैं। अतः हमारा सिद्धांत है कि ज्यों-ज्यों देश की क्रय शक्ति एवं प्रभाव माँग बढ़ती जाए हम यंत्रों का अधिकाधिक उपयोग करते जाएँ। इस पद्धति में हमारा स्वाभाविक विकास होगा तथा हो सकता है कि हम अपनी स्थिति के अनुकूल अधिक उपयोगी यंत्रों का आविष्कार और निर्माण भी कर सकें।

औद्योगिक शिक्षा अनिवार्य

दीनदयाल जी ने लिखा है कि बेकारी के इन कारणों को दूर करके समस्या को मौलिक रूप से हल करने के साथ ही आज जो बेकार हो गए हैं अथवा हो रहे हैं उनको फिर से काम देने की तथा जब तक काम नहीं मिलता तब तक उनकी व्यवस्था करने की जिम्मेदारी भी सरकार की है। आज के बेकारों में बहुत बड़ी संख्या पढ़े-लिखे लोगों की है। उनको खपाने के लिए स्कूल खोलने की नीति सरकार ने अपनाई है। इस नीति को और भी व्यापक करना होगा।

स्कूल और कॉलेजों में तुरंत ही औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा का प्रबंध कर देना चाहिए। जो 'अंतिम परीक्षा' पास करके निकलने वाले हैं उनके लिए एक वर्ष की औद्योगिक शिक्षा अनिवार्य कर दी जाए। इससे पढ़े-लिखे बेकारों की समस्या के हल की दौड़ में एक वर्ष तुरंत आगे बढ़ जाएँगे तथा संभव है कि एक वर्ष की औद्योगिक शिक्षा प्राप्त नवयुवकों में से बहुत से लोग बाबूगिरी की और न दौड़कर हाथ से रोजी कमाना शुरू कर दें।

जीविका की व्यवस्था

युद्धकाल में कारखानेदारों को भारी मुनाफा हुआ था जो आजकल संभव नहीं है। अतः आज गिरे हुए मुनाफों को हानि की आशंका से चारों ओर बचत की योजनाएँ प्रारंभ हो गई हैं जिसका परिणाम मजदूरों पर भी पड़ता है। उनकी छटनी की जा रही है। सरकार भी अपने विभिन्न विभागों में छटनी कर रही है। कई विभागों का जैसे रसद और पूर्ति विभाग तथा युद्धकालीन अनेक विभागों का काम अब समाप्त हो गया है। उनके कर्मचारियों की भी

छटनी अनिवार्य सी प्रतीत होती है। ये बेकारी समस्या को और भी भीषण बनाए हुए हैं। आवश्यकता है कि इस प्रकार के व्यक्तियों को जब तक कहीं दूसरी नौकरी न मिल जाए उनकी जीविका की व्यवस्था की जाए। यूरोप के कई देशों में बेकारी बीमा योजना चालू है। अनैच्छिक रूप से बेकार होने वाले श्रमिकों को इस योजना के अंतर्गत सहायता मिलती है।

भारत सरकार के श्रममंत्री श्री गिरि ने एक त्रिदलीय मिल मालिक, श्रमिक और शासन के बीच समझौता कराता है जिसके अनुसार किसी भी व्यक्ति के अनिच्छा से काम से अलग होने पर उसे पैंतालीस दिन तक अपने वेतन एवं महँगाई भत्ता का आधा मिलता रहेगा। इस संबंध में एक विधान भी लोकसभा में प्रस्तुत होने की आशा है। यह पग ठीक दिशा में उठाया गया है। किंतु मालिकों के ऊपर यह भार न छोड़कर शासन को इसकी अलग से व्यवस्था करनी चाहिए तथा मालिकों से इस बीमा योजना में चंदा लेना चाहिए। साथ ही पैंतालीस दिन की अवधि न रखकर यह अवधि जब तक दूसरी नौकरी न मिले तब तक की रखनी चाहिए।

रचनात्मक कार्य

पढ़े-लिखे तथा लोगों की शिक्षा के औद्योगिक शिक्षा केंद्र खोले जाएँ जहाँ वे शिक्षा के साथ-साथ काम भी कर सकें। ये केंद्र सरकार के द्वारा बड़े पैमाने पर खोले जाने चाहिए।

गाँवों की बेकारी को दूर करने के लिए सहायता कार्य प्रारंभ किए जाएँ। सड़कें, इमारतें, बाँध, कुएँ और तालाब आदि की बहुत सी योजनाएँ शुरू की जा सकती हैं। पंचवर्षीय योजना के अंतर्गत भी जो योजनाएँ हैं उनमें जन-शक्ति का अधिकतम उपयोग करना चाहिए। अभी तो वहाँ भी श्रम बचाने वाली बड़ी-बड़ी मशीनों का ही उपयोग किया गया है।

अपने क्षेत्र के छोटे-छोटे उद्योगों की तालिका बनाकर उनमें शिक्षार्थी के रूप में एक-एक, दो-दो व्यक्तियों को रखा जा सकता है। आज बहुत से कारोबार ऐसे हैं जिनमें रोजी कमाई जा सकती है। हाँ सीखे हुए लोगों की कमी है। छोटे-छोटे उद्योग केंद्र भी सहकारी आधार पर चलाए जा सकते हैं। स्वदेशी की भावना एवं पारस्परिक संबंधों के सहारे उनके लिए बाजार भी मिल सकता है। इनके अतिरिक्त और भी रचनात्मक कार्य हाथ में लिए जा सकते हैं।

भारतीय अर्थरचना के राष्ट्रीय लक्ष्य

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (मानव प्रयास के चार प्रकार) की लालसा व्यक्ति में जन्मगत होता है और इनमें संतुष्टि एकीकृत रूप से भारतीय संस्कृति का सार है।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि “पश्चिमी अर्थव्यवस्था में - वह चाहे पूंजीवादी हो या समाजवादी - मुद्रा विषयक मूल्यों को बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं केंद्रीय स्थान प्राप्त हुआ है। उनकी चारों दिशाओं में आर्थिक विचार निरंतर मंडराता रहता है। मूल्य के बारे में उपयोगिता के दृष्टिकोण से किए गए विश्लेषण पर जीवन-दर्शन बहुत ही अधूरा अमानवीय एवं कुछ मात्रा में नीतिविहीन भी है।”

आजकल यह नारा दिया जा रहा है कि ‘कमाने वाला खाएगा।’ सामान्यतः यह नारा कम्युनिस्टों दिया करते हैं। किंतु पूंजीवादी भी इस नारे में निहित मूल सिद्धांत से असहमत नहीं हैं। दोनों में झगड़ा इस बात का है कि इस कमाई में बड़ा भाग किसका होगा? पूंजीवादी पूंजी तथा औद्योगिक साहस को अधिक महत्त्व देते हैं इसलिए उनका मानना है कि कमाई में उनका भाग बड़ा होना चाहिए। इसके विपरीत कम्युनिस्ट मानते हैं कि कामगार ही सम्पत्ति का निर्माता है और इसलिए सम्पत्ति पर सच्चा अधिकार उसी का है। किंतु ये दोनों विचार उचित नहीं हैं। वास्तव में नारा तो यह होना चाहिए कि ‘कमाने वाला खिलाएगा’ और ‘जो जन्मा है वह खाएगा।’ कारण खाने का अधिकार जन्मतः ही प्राप्त होता है। कमाने की योग्यता शिक्षण से आती है। समाज में उन लोगों को भी खिलाना होता है जो कमाते नहीं। बच्चे बूढ़े बीमार अपाहिज-सबकी चिंता समाज को करनी पड़ती है।

प्रत्येक समाज यह कर्तव्य करता रहता है। इस कर्तव्य को निभाने की क्षमता उत्पन्न करना ही अर्थव्यवस्था का काम है। पश्चिमी अर्थशास्त्र इस कर्तव्य की प्रेरणा का विचार नहीं करता। जैसे कारखाने की पूर्ण क्षमता का उपयोग न करना आर्थिक दृष्टि से उचित नहीं है वैसे ही देश के लोगों की श्रमशक्ति को बेकार रखना भी घाटे का सौदा होगा। बंद पड़ा यंत्र केवल पूँजी को ही अनुपयोगी बनाता है किंतु बेकार मनुष्य को तो प्रतिदिन खाने-पीने के लिए भी कुछ न कुछ करने की आवश्यकता होती है। अतः आज 'कमाने वाला खाएगा' के स्थान पर 'खाने वाला कमाएगा' का लक्ष्य सम्मुख रखकर देश की अर्थ-रचना करनी पड़ेगी। चरखे के स्थान पर यंत्र अवश्य चाहिए किंतु सभी कामों के लिए स्वचालित यंत्र काम के नहीं होते। हमें उत्पादन का विचार संपूर्ण आजीविका रोजगार का लक्ष्य रखकर करना चाहिए।

“हमारे देश को दीर्घ प्रयासों के बाद स्वतंत्रता मिली है। इसलिए इस राजनीतिक स्वतंत्रता को जो सुरक्षित रखे ऐसी व्यवस्था हमें करनी चाहिए। यही हमारा प्रथम लक्ष्य है। दूसरी बात हमारी जनतंत्रीय प्रणाली जिसमें संकट पड़ जाए या जो उसके लिए बाधक सिद्ध हो, ऐसा आर्थिक नियोजन हम न करें। तीसरा लक्ष्य है, हमारे सांस्कृतिक मूल्य अपने राष्ट्र जीवन के लिए ही नहीं सारे संसार भर के लिए भी अत्यंत उपयोगी हैं अतः उनकी रक्षा करनी है।”

अपनी संस्कृति को खोकर हम आर्थिक समृद्धि लाते हैं, तो वह व्यर्थ सिद्ध होगी। चौथा लक्ष्य हमें सैनिक दृष्टि से आत्मरक्षा में समर्थ बनाने का होना चाहिए। पाँचवाँ लक्ष्य आर्थिक स्वावलंबन का हो। जो राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से दूसरों पर निर्भर रहता है उसका स्वाभिमान नष्ट हो जाता है। स्वाभिमानशून्य राष्ट्र अपनी स्वतंत्रता की रक्षा कभी नहीं कर सकता। राजनीतिक स्वतंत्रता की रक्षा करनी हो तो आर्थिक स्वतंत्रता परमावश्यक है। आर्थिक स्वतंत्रता के लिए आर्थिक स्वावलंबन आवश्यक है। छठा लक्ष्य है प्रजातंत्र में वयस्क मताधिकार की भांति हर हाथ को काम देने वाली अर्थव्यवस्था। काम की भांति न्यूनतम वेतन न्यायोचित प्राप्ति एवं उसका न्यायोचित वितरण भी सामाजिक हित के लिए आवश्यक होते हैं। इसके लिए प्राप्ति की सीमा निर्धारित करना आवश्यक है। उपभोग की निरकुंश

स्वतंत्रता नहीं दी जा सकती। व्यक्ति-स्वातंत्र्य या व्यक्ति-साहस का पूँजीपति या कारखानेदार जो अर्थ लगाते हैं; उसका अभिप्राय उनका अपना स्वातंत्र्य ही होता है। हमें गिने-चुने टाटा-बिड़ला की स्वतंत्रता नहीं चाहिए करोड़ों मानवों की स्वतंत्रता चाहिए। अतः केंद्रीकरण के हम विरोधी हैं। पूँजीवाद में विमुक्त व्यक्ति-स्पर्धा धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है और आर्थिक शक्ति मुट्ठी भर लोगों के हाथों में केंद्रित हो जाती है। समाजवाद में यह आर्थिक शक्ति शासन के अधिकारों में चली जाती है और अंत में वह नौकरशाही के हाथों में खेलने लगती है। फलस्वरूप मानव-जीवन 'मशीन' बन जाता है। इन दोनों ही प्रणालियों में मनुष्य का विचार आर्थिक साधन के नाते किया जाता है, मनुष्य के नाते नहीं। इसलिए पूँजीवाद एवं समाजवाद दोनों से मुक्त होकर मानववाद का विचार करना होगा। तंत्र-विज्ञान का उपयोग भी मानव के लिए होना चाहिए। इसके लिए विकेंद्रित अर्थव्यवस्था आवश्यक है। प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकताओं एवं उसके गुणों का विचार कर उसे सुयोग्य काम देने से ही मनुष्य का विकास होता है। विकेंद्रित अर्थव्यवस्था में ही यह संभव है। एक बार बड़े कारखाने प्रारंभ हो गए तो उन्हें बंद करने के लिए कई बातों का विचार करना पड़ता है, अतः अगला पग उठाने से पूर्व ही इस दिशा में सोचना होगा। संक्षेप में संरक्षण पूर्ण सेवायोजन रोजगार मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने का प्रबंध तथा विकेंद्रीकरण ही जनसंघ की अर्थरचना के लक्ष्य हैं।

गाँव, खेती और किसान

रिलीजन का मतलब एक पंथ या संप्रदाय कहे और इसका मतलब धर्म तो कतई नहीं।

दीनदयाल जी जमीन से जुड़े व्यक्ति थे इसीलिए उन्होंने गांव खेती और किसान के विषय में भी बहुत लिखा है आज उनके विचार बहुत ही प्रासंगिक हो गए हैं क्योंकि खेती किसानों से लोग बड़े पैमाने पर पलायन कर रहे हैं। दीनदयाल जी ने भूमिसुधार का एक वास्तविक एवं व्यापक कार्यक्रम सामने रखा है। गोबेल्स की शैली में एक प्रचार चल रहा है कि जनसंघ को मध्ययुगीन अर्थव्यवस्था का पुनर्जीवन करना है। उसका उत्तर इस कार्यक्रम द्वारा अपने आप मिल जाएगा। नारेबाजी न करते हुए जनसंघ इस कार्यक्रम को अपने हाथ में लेगा। आज के विधान में जो त्रुटियाँ हैं उन्हें दूर कर जनसंघ किसानों को ही भूमि का स्वामी बनाना चाहता है। जीतने वालों से भूमि छीन लेने के वह विरुद्ध है। उन्हें 'बेदखल' करने की सारी घटनाओं को जनसंघ समाप्त करेगा। जिनके पास भूमि की अधिकतम सीमा से कम भूमि है उनकी भूमि को वह हाथ नहीं लगाएगा। जोतने वालों को दी जाने वाली भूमि की अधिकतम सीमा पाँच एकड़ रहेगी। विधवाओं अपंगों सेना से मुक्त सैनिकों धर्मादाय संस्थाओं तथा अनाथ बच्चों की भूमियाँ इस सीमा में नहीं आएँगी। खेती का यंत्रीकरण इस देश में नहीं चलेगा। सहकारी खेती से जनसंघ का विरोध है। सरकार द्वारा खेती-बाड़ी के लिए दी जाने वाली सहायता एवं सुविधाओं में किसानों के साथ कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा। सिंचाई वाली पाँच एकड़ भूमि किसान के परिवार का भरण-पोषण करने के लिए पर्याप्त है। इसलिए जनसंघ ऐसा नियोजन करेगा जिनमें सभी किसानों को इतनी भूमि मिल सके। जनसंघ की धारणा है कि भूमि का कर (लगान) कम करना चाहिए। लगान की राशि पंचायतों को मिलनी चाहिए। ग्रामीण जनता से पर्याप्त मात्रा में कर वसूले नहीं जाते ऐसी भ्रांति और गलत सिद्धांत आजकल

प्रसारित किया जा रहा है। भारतीय जनसंघ छोटे-छोटे प्रकल्पों पर बल देकर खेती का विकास करना चाहता है। अतः जनसंघ को दिया गया मत छोटे किसानों को स्वतंत्र एवं समृद्ध करने की अवधारणा को मत देने जैसा है।

उत्पादन की सीमाएं

दीनदयाल जी ने लिखा है कि “उत्पादन के जिन प्राकृतिक साधनों का उपयोग करके हम नई वस्तुओं का निर्माण करते हैं वे साधन सीमित ही हैं। मनुष्य ने यद्यपि अपनी प्रतिभा से एक ही वस्तु के निर्माण के लिए अनेक साधनों का उपयोग किया है ऐसे अविचार से इस सीमित साधन-सम्पदा को मनमाने ढंग से खर्च करना कदापि बुद्धिमानी नहीं होगी। वास्तव में प्रकृति से हमें उतनी ही साधन-सामग्री लेनी चाहिए और वह भी इस प्रकार लेनी चाहिए कि उसके कारण होने वाली क्षति को प्रकृति स्वयं अपने आप पूरा कर सके। उदाहरण के लिए पेड़ से पत्ते तोड़ लेने के कारण कोई हानि नहीं होती उल्टे लाभ ही होता है। किंतु भूमि से अधिकतम उपज लेने के लिए लोग ऐसे प्रयोग कर रहे हैं जिनसे कुछ समय के बाद भूमि की उत्पादन शक्ति समाप्त हो जाएगी। कारखानों के स्वामी यंत्रों की टूट-फूट-सुधार आदि के लिए कुछ मूल्य-हास निधि का अलग से प्रबंध कर रखते हैं। किंतु प्रकृति के इस कारखाने के लिए हम ऐसा कोई प्रबंध नहीं करते। यह कैसे चल सकता है? इस दृष्टि से विचार करने पर कहना पड़ेगा कि हमारी अर्थव्यवस्था का उद्देश्य असीम भोग न रहकर संयमित भोग ही होना चाहिए। प्रकृति का दोहन कर ही हम जी सकते हैं न कि उसका शोषण करके।”

खेती एवं पशु-धन

दीनदयाल जी ने लिखा है कि हमारे देश में खेत आकार में बहुत छोटे-छोटे हैं अतः यांत्रिकीकरण पद्धति से अर्थात् ट्रैक्टर चलाकर उन्हें जोतना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त ट्रैक्टर का प्रयोग किया तो बैल निरुपयोगी हो जायेंगे और फिर देश में प्राकृतिक खाद एवं ईंधन की समस्या भी खड़ी होगी। हमारे देश में खेती के लिए प्रति हेक्टेयर 36 अष्टवशक्ति ऊर्जा प्रयुक्त होती है। इसमें यंत्र शक्ति मनुष्य शक्ति पशुशक्ति आदि का समावेश है। इसमें से 50.8 प्रतिशत ऊर्जा बैल एवं अन्य पशुओं से उपलब्ध होती है। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि खाद (गोबर) तथा ईंधन (गोबर गैस) उपलब्ध कराने की भांति ऊर्जा-शक्ति की दृष्टि से भी हमारे देश के कृषि-उद्योग में पशुधन का योगदान कितना बड़ा है।

भूमि का वितरण

दीनदयाल जी ने लिखा है कि सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए एक किसान के पास अधिक-से-अधिक कितनी भूमि रहे इसे निश्चित करने की नितांत आवश्यकता है। एक बार यह अधिकतम सीमा निश्चित हो गयी तो उस सीमा से अधिक भूमि उस किसान से ली जा सकती है। किंतु आज भूमिहीन किसानों में से अधिसंख्य किसान हरिजन होने के कारण भूमि के वितरण के प्रश्न को आर्थिक के साथ-साथ सामाजिक एवं राजनीतिक आयाम भी प्राप्त हुए हैं। अतः भूमिहीनों को भूमि देने का प्रश्न अत्यंत विवादग्रस्त बन बैठा है। भूमि के वितरण के बारे में सभी परिकल्पनाएँ इस मूलभूत अवधारणा पर आधारित हैं कि हमें अपनी अर्थव्यवस्था को स्थिर रखना है। यदि हम अपनी अर्थव्यवस्था को गतिशील करें और समाज के सभी वर्ग को उनकी जीविका के लिए विभिन्न साधन उपलब्ध करा दें तो समाज में भूमि के स्वामित्व के बारे में आज जितनी भूख निश्चय ही नहीं रहेगी। उसके बाद सामाजिक सुरक्षा के लिए सभी सुविधाएँ देकर उनकी सहायता से हम सामाजिक समता प्रस्थापित करते हैं और खेतिहर श्रमिक को उचित पारिश्रमिक देने का प्रबंध करते हैं तो फिर यह आवश्यक नहीं रहेगा कि प्रत्येक के पास उसके अपने स्वामित्व की कुछ-न-कुछ भूमि हो।

इस दृष्टि से भूमि का वितरण करते समय अपने छोटे-छोटे खेतों से अपने जीवन-निर्वाह योग्य भी उपज न ले सकने वाले किसानों को भूमिहीन किसानों की अपेक्षा अधिक वरीयता देनी चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता तो भारतीय खेती के लिए अभिशाप बने अधिकाधिक खेत खड़े हो जाएंगे।

भूमि जोतने वाले की

दीनदयाल जी ने लिखा है कि जोतने वाले की भूमि का अर्थ यह नहीं कि जो हल चलाएगा वही भूमि का स्वामी बनेगा और किसान अपने श्रम के अतिरिक्त अन्य लोगों के श्रम का थोड़ा भी उपयोग नहीं कर सकेगा। किसान को उसकी आवश्यकता के अनुसार मजदूर रखने और उनसे काम लेने का अधिकार अवश्य होना चाहिए। 'भूमि जोतने वाले' का अर्थ सामान्यतः वह किसान होगा जो खेती में होने वाले लाभ-हानि की जिम्मेदारी स्वीकार करते हुए खेती में पूँजी लगाता है और जो खेती का प्रबंध देखता है। खेती के विभिन्न कामों में वह स्वयं कितना काम करता है और कितना काम पारिश्रमिक देकर दूसरों से करवा लेता है इस बात को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं है।

विदेशी पूँजी

धर्म एक बहुत व्यापक अवधारणा है जो समाज को बनाए रखने के जीवन के सभी पहलुओं से संबंधित है।

दीनदयाल जी की वित्तीय पूँजी की संरचना पर गहरी पकड़ थी यही कारण है की यह विषय जब भी उनके सामने आया उन्होंने एक बड़े आर्थिक विश्लेषण की तरह अपनी राय प्रस्तुत की। दीनदयाल जी ने लिखा है कि आज पश्चिमी राष्ट्र उनके अपने हित के लिए नयी-नयी योजनाएँ प्रस्तुत करते हैं। उपनिवेशवाद तथा राजनीतिक दासता अब अतीत की बातें हो चली हैं। उनके स्थान पर आर्थिक एवं वैचारिक आधार पर अन्य देशों को अपने नियंत्रण में लाने की कुटिल योजनाएँ पश्चिमी देशों द्वारा प्रारंभ की गई हैं। संक्षेप में उपनिवेशवाद एवं राजनीतिक दासता की अपेक्षा आर्थिक सहायता का अर्थ यद्यपि भिन्न होता है, तो भी उसमें निहित उद्देश्य वही है। अन्य राष्ट्रों में किए जाने वाले पूँजी-निवेश को अब आर्थिक सहायता का नया नाम प्राप्त हो गया है। अनेक पश्चिमी राष्ट्रों के ध्यान में आ चुका है कि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के आवरण के नीचे पिछड़े देशों की अर्थव्यवस्था में अपने हाथ-पाँव पसारना संभव एवं सुविधाजनक है। उन्होंने इस दिशा में चलना प्रारंभ भी कर दिया है। हम प्रत्येक बार मन में कुछ-न-कुछ हिचकिचाहट रखकर इन राष्ट्रों द्वारा प्रस्तुत की गयी सहायता को अस्वीकार नहीं कर सकते। कुछ प्रसंगों में हमारे और उनके हित-संबंध परस्पर पूरक होने के कारण हमें उनकी सहायता स्वीकारनी पड़ सकती है तो कभी परिस्थितिवश हमें उनकी सहायता लेनी पड़ सकती है। किंतु अपनी अर्थव्यवस्था का इस दृष्टि से सुयोग्य पुनरीक्षण हमने नहीं किया तो हमारे हित और अहित का अचूक ज्ञान हमें नहीं होगा।

विदेशी पूँजी : विदेशी तंत्रविज्ञान

दीनदयाल जी ने लिखा है कि विदेशी पूँजी के साथ ही हमें विवश होकर विदेशों की उत्पादन-प्रणाली भी स्वीकार करनी पड़ती है। हमारे देश में आने वाले विदेशी पूँजीपति हैं। और विशेषज्ञ उनके अपने देश में प्रचलित उत्पादन-पद्धति के अनुसार और उपलब्ध यंत्र-सामग्री की सहायता से यहाँ उत्पादन प्रारंभ करते हैं। इससे हमारा देश औद्योगिकरण के मार्ग पर चार पग आगे तो बढ़ जाएगा किंतु गहरी जड़ों वाले विकासोन्मुख एवं व्यापक औद्योगिकरण की नींव कदापि नहीं रखी जा सकती। इस प्रकार की उत्पादन-प्रणाली हमारे देश पर लादी गई तो उससे जीविका रोजगार का निर्माण कम होगा।

अपनी पूँजी के प्रभाव से विश्व की अर्थव्यवस्था में औद्योगिक साम्राज्य निर्मित कर चुके विदेशी पूँजीपतियों के ही बड़े-बड़े गुट हमारे देश में आने के लिए उत्सुक रहते हैं।

केवल उत्पादक और मूलभूत वस्तुओं के ही नहीं अपितु साबुन माचिस सिगरेट बिजली का सामान सौन्दर्य-प्रसाधन जैसी उपभोग्य वस्तुओं के भी उत्पादन-क्षेत्र में घुसकर ये विदेशी पूँजी-वाले कारखाने स्वदेशी उद्योगों के लिए घातक सिद्ध होते हैं।

पिछले सौ वर्ष में हमारे देश में एक ऐसी प्रणाली का विकास हुआ है जिसने भारतीय अर्थव्यवस्था को पाश्चात्य देशों की औद्योगिक अर्थव्यवस्था के साथ जकड़ दिया है। परिणामतः भारत के आर्थिक हित-संबंधों का रक्षण होना तो दूर उल्टे हमारा नियमित रूप से शोषण ही हो रहा है। इन पाश्चात्य हित-संबंधियों ने भारत का आर्थिक शोषण करते समय अपने साथ भारत के कुछ वर्ग को पाश्चात्य अर्थव्यवस्थाओं के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित कर लिया है और कुछ मात्रा में उन्हें भागीदार भी बनाया है। हमारे देश के आर्थिक विकास पर इस वर्ग का बहुत ही प्रभुत्व रहा है।

विदेशी सहायता का विकट मार्ग

दीनदयाल जी ने लिखा है कि विदेशी सहायता और उसके द्वारा आने वाली विदेशी यंत्रसामग्री तथा उत्पादन-पद्धति के कारण नगरीकरण बढ़ता है और नगरवासी लोगों की आय में अवास्तविक वृद्धि हो जाती है। 'महालनोवीस समिति' ने 'आय का पुनरीक्षण' विषय पर अनुसंधान करते

हुए यही मत व्यक्त किया है। इस प्रक्रिया के कारण मुद्रास्फीति होती है और उसमें से महँगाई का दुम्बक्र प्रारंभ हो जाता है। असीम विदेशी तंत्रविज्ञान तथा नगरीकरण का दीनदयाल जी विरोध करते थे। उनके विरोध का यह भी एक कारण है। वे कहते थे कि “बिच्छल अनिवार्य हो तभी और उतनी ही विदेशी सहायता लेनी चाहिए और वह सहायता यथासंभव बिना शर्त की हो। इन परहेजों का पालन करते हुए खड़े होने वाले उद्योग राष्ट्र के आर्थिक विकास के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे। विदेशी सहायता की बैसाखियों को फेंक देने से ही भारत इससे आगे अपनी प्रगति कर सकेगा क्योंकि विदेशी सहायता के कारण हमारी सारी आदतें ही खराब हो गई हैं। हमने स्वदेशी के महामंत्र को भुला दिया है। हम उसे भुला दें यही विदेशी शक्तियों की योजना है। भारत के आर्थिक प्रश्न विदेशी सहायता कम पड़ने के कारण विकट नहीं हुए हैं बल्कि इसलिए कि आवश्यकता से अधिक सहायता आ रही है और फलस्वरूप हम स्वदेशी एवं स्वावलंबन को भुलाते जा रहे हैं। यह सहायता हमारे लिए उपयोगी सिद्ध न होकर विदेशों में आयी मंदी तथा बेकारी दूर करते हुए उनकी अर्थव्यवस्था को समृद्ध करने के लिए काम में लायी जा रही है।”

मुद्रा-स्फीति एवं अर्थसंकल्पीय नीति

पाषाणकालीन की समस्याएँ हमारी समस्याओं से मूलतः भिन्न थीं इसे भुलाना नहीं चाहिए। पाश्चात्य देशों के सम्मुख प्रमुख समस्या पूँजी एवं अन्य सामग्री इकट्ठी करने की नहीं थी। ये दोनों उनके पास विपुल मात्रा में हैं। उनके सम्मुख प्रश्न यह है कि इन सभी साधनों का अधिकाधिक उपयोग कैसे करें। हमारे यहाँ औद्योगिकरण प्रारंभिक अवस्था में है। ऐसी स्थिति में सरकार थोड़ा-बहुत पूँजीनिवेश कर भी ले तब भी उतनी मात्रा से अर्थव्यवस्था का गतिमान होना असंभव है। इसलिए केस का अर्थशास्त्र भारत जैसे देशों पर लागू होने वाला नहीं।

केस का अर्थशास्त्रीय सिद्धांत पाश्चात्य अर्थरचनाओं में भी पूर्णतः लागू होने वाला नहीं है क्योंकि पूँजीवादी देशों में आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण के कारण विवश होकर सामान्य जनता को अपने उपभोग के स्तर को नीचे लाना पड़ता है। अर्थात् माँग के अभाव में उत्पादन अर्थव्यवस्था को मंदी की ओर खींच ले जाता है।

समतावादी आर्थिक दृष्ट

एक राष्ट्र लोगों का एक समूह होता है जो एक लक्ष्य “एक आदर्श, एक मिशन” के साथ जीते हैं और एक विशेष भूभाग को अपनी मातृभूमि के रूप में देखते हैं। यदि आदर्श या मातृभूमि दोनों में से किसी का भी लोप हो तो एक राष्ट्र संभव नहीं हो सकता।

दीनदयाल उपाध्याय ने अपना आर्थिक प्रलेख ‘भारतीय जनसंघ की अर्थनीति’ शीर्षक से उत्तर प्रदेश के प्रादेशिक सम्मेलन, 1953 के अवसर पर कार्यकर्ता शिविर के लिए लिखा; लेकिन उसके पहले भी ऐसी कुछ घटनाएँ घटित हुईं जिनमें उनकी मूलभूत आर्थिक दृष्टि जो ‘समाजवादी’ है, का परिचय मिलता है। अपने दार्शनिक चिंतन व उसके विकास के परिणामस्वरूप कालांतर में ‘समाजवाद’ को तकनीकी अर्थों में उन्होंने अस्वीकार कर दिया था; लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्होंने अपनी मूलभूत ‘समाजवादी’ दृष्टि को छोड़ दिया था। इस दृष्टि के संकेत तभी से उपलब्ध हैं जब वे जनसंघ में नहीं आए थे, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के उत्तर प्रदेश के प्रचारक थे। संघ पर ‘पूँजीवादी’ होने के आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा था, “संघ पूँजीपति एवं जमींदारों को बनाए रखना चाहता है, इस प्रकार से सोचना निरी मूर्खता है। क्या केवल मुट्ठी भर जमींदारों को बनाए रखने के लिए देश के लाखों सुशिक्षित नौजवान रात-दिन सर्वस्व त्यागकर कार्य करेंगे?”

भारतीय जनसंघ तथा उसके अर्थनीति-नियामक दीनदयाल उपाध्याय के बारे में सामान्यतः दक्षिणपंथी पूँजीवादी विचारधारा के समर्थक होने की

धारणा लोगों में बनी हुई है; उपाध्याय के साहित्य से इस धारणा की पुष्टि नहीं होती। उनके चिंतन की मूल प्रवृत्ति आर्थिक समता तथा समष्टि का पोषण करने वाली है।

अर्थनीति का भारतीयकरण

दीनदयाल जी ने लिखा है कि अर्थनीति से संबद्ध वक्तव्यों व लेखों में समय-समय पर लिए गए सरकारी निर्णयों पर वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते थे। सामान्यतः अर्थनीति के क्षेत्र में पाश्चात्य नकल को वे बुरा मानते थे। हमारी व पाश्चात्य परिस्थितियों में बहुत फर्क है। अतः हमें अपनी 'अर्थनीति का भारतीयकरण' करना होगा। अपने इस मंतव्य को विवेचित करते हुए दीनदयाल उपाध्याय ने लिखा है- "देश का दारिद्र्य दूर होना चाहिए इसमें दो मत नहीं; किंतु प्रश्न यह है कि यह गरीबी कैसे दूर हो? हम अमेरिका के मार्ग पर चलें या रूस के मार्ग को अपनाएँ अथवा यूरोपीय देशों का अनुकरण करें? हमें इस बात को समझना होगा कि इन देशों की अर्थव्यवस्था में अन्य कितने भी भेद क्यों न ही इनमें एक मौलिक साम्य है। सभी ने मशीनों को ही आर्थिक प्रगति का साधन माना है। मशीन का सर्वप्रधान गुण है कम मनुष्यों द्वारा अधिकतम उत्पादन करवाना। परिणामतः इन देशों को स्वदेश में बढ़ते हुए उत्पादन को बेचने के लिए विदेशों में बाजार ढूँढ़ने पड़े। साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद इसी का स्वाभाविक परिणाम बना। इस राज्यविस्तार का स्वरूप चाहे भिन्न-भिन्न हो किंतु क्या रूस को, क्या अमेरिका को तथा क्या इंग्लैंड को, सभी को इस मार्ग का अवलंबन करना पड़ा। हमें स्वीकार करना होगा कि भारत की आर्थिक प्रगति का रास्ता मशीन का रास्ता नहीं है। कुटीर उद्योगों को भारतीय अर्थनीति का आधार मानकर विकेंद्रित अर्थव्यवस्था का विकास करने से ही देश की आर्थिक प्रगति संभव है।"

उपाध्याय बड़े उद्योगों के आधार पर रचित अर्थव्यवस्था को भारतीय परिस्थिति में उचित नहीं समझते थे। कृषि के क्षेत्र में वे छोटे तथा स्वामित्ववान् खेतों के हिमायती थे। सन् 1951 के कांग्रेस अधिवेशन में साम्यवादी चीन की कृषि योजना की नकल पर 'सहकारी खेती' का प्रस्ताव पारित किया गया था। उपाध्याय ने उसे अव्यावहारिक तथा अवांछनीय मानते हुए उसका विरोध किया।

सहकारी खेती

दीनदयाल मानते हैं कि अभी तक भूमि सुधारों का उद्देश्य खेतिहर किसान को भूमि पर अधिकार देना रहा है। 'सहकारी खेती' की कल्पना खेतिहर किसान को भूमि से वंचित करने वाली है। अतः हमारे लक्ष्यों के प्रतिकूल है। 'कृषक स्वामित्व' के आधार पर बनी भूमि व्यवस्था प्रजातंत्रीय सिद्धांतों के अनुकूल है तथा आर्थिक दृष्टि से फलदायी है। प्रस्तावित योजना से किसान केवल खेतिहर मजदूर रह जाएगा। उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता व प्रेरणा नष्ट हो जाएगी तथा अधिनायकवादी प्रवृत्तियों को बल मिलेगा।

उपाध्याय मानते थे कि यह स्वप्निल तथा अशास्त्रीय योजना है। स्वतंत्र मनुष्य की प्रवृत्ति के प्रतिकूल है। इससे अधिकारीकरण अथवा नौकरशाही की प्रवृत्ति बढ़ेगी। 'सहकारिताकरण' अधिकारीकरण का केवल दूसरा नाम है।

जनसंघ 'स्वामी कृषि' पर आधारित भूमिव्यवस्था का हामी है तथा कृषि के यंत्रीकरण को भारत की आज की अर्थव्यवस्था के अनुपयुक्त समझता है, वह अधिकतम जोत के निर्धारण की आवश्यकता को स्वीकार करता है। दीनदयाल जी ने लिखा है कि भूमि की प्राप्ति की अधिकतम मर्यादा निश्चित कर देनी चाहिए। खेतिहरों को जोतने के अधिकार का स्वामित्व देकर उन्हें निश्चित मूल्य पर जमीन को खरीदने की सुविधा देनी चाहिए। अधिकतम जोत से अधिक जमीनवाले भूमिहारों को कहा जाए कि वे तीन वर्ष के अंदर अपनी बकाया जमीन बेच दें। जमीन खरीदने के उत्सुक 'व्यक्तियों को सहकारी और अन्य बैंकों से रुपया उधार देने की व्यवस्था की जाए। जमीन के मूल्य को किशतों में चुकाने की व्यवस्था हो। संपूर्ण गाँव में पुनर्नियोजन की स्कीम बनाकर चकबंदी का कार्य शुरू किया जाए। ऋण, विक्रय आदि के लिए सहकारी समितियाँ स्थापित की जाएँ। उपाध्याय मानते हैं कि किसान के स्वामित्व के आधार पर खेती का पुनर्नियोजन ही व्यावहारिक व हमारी मानसिक रचना के अनुकूल है। "जापान एवं अन्य देशों में इससे सर्वाधिक अच्छा परिणाम निकला है। पोलैंड को सहकारिता कृषि के प्रयोग में असफलता प्राप्त करने के बाद फिर से इसी पद्धति का सहारा लेना पड़ा।"

सहकारी स्वामित्व के नाम पर नौकरशाह-प्रवृत्ति का ग्राम पंचायतीकरण करने के बजाय लोकतांत्रिक चेतनावाली ग्रामपंचायतों का गठन कर राजनीतिक

विकेंद्रीकरण का श्रीगणेश करें। ग्रामपंचायतें हमारे प्राचीन संगठित ग्रामदर्शन की प्रतीक होनी चाहिए।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि खाद्यान्न-व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण के बारे में कांग्रेस के प्रस्ताव में सहकारी खेती, उत्पादन एवं वितरण पर नियंत्रण तथा इसके लिए खाद्यान्न-व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण का सुझाव दिया गया था। उपाध्याय इसे अव्यावहारिक मानते थे। दीनदयाल जी ने लिखा है कि गल्ले के थोक व्यापारियों को तुरंत लाइसेंस देने चाहिए। काफी संख्या में सस्ते गल्ले की दुकानें सभी नगरों तथा अभावग्रस्त क्षेत्रों में खोलनी चाहिए। इस काम में पुराने थोक और परचून व्यापारियों की सेवाएँ ही काम में ली जाएँ। नए तथा अनुभवहीन लोगों को काम में लगाकर अव्यवस्था पैदा नहीं करनी चाहिए। प्रत्येक स्तर पर गल्ले के वितरण की व्यवस्था की देखरेख करने के लिए सर्वदलीय समितियाँ बननी चाहिए।

उपाध्याय का मत था कि “यह प्रश्न व्यावहारिक है, इसके लिए सैद्धांतिक उड़ान की ज्यादा जरूरत नहीं है।” जनसंघ की ‘सहकारी-खेती नीति ‘की आलोचना करते हुए कांग्रेस के मुखपत्र’ इकनामिक रिव्यू ने 1 अप्रैल, 1959 के अंक में जनसंघ को ‘पूँजीपतियों का समर्थक’ ‘अस्पष्टता का अभ्यासी’ एवं ‘पुरातनवादी दृष्टिकोण ‘वाला दल निरूपित किया। उसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा: “सहकारी कृषि के कार्यक्रमों की सफलता अंततः मानसिक वातावरण पर निर्भर करती है, न कि उसके प्रबंध के आयोजन पर। यह वातावरण दूसरे व्यक्तियों के दृष्टिकोण को समझने और अधिक जानकारी की दृष्टिसे उसे मान लेने पर ही सुधरेगा, न कि अपने ही गलत विचारों पर अड़े रहने से।”

उपाध्याय ने इस बात पर दुःख प्रकट किया कि मुखपत्र ने जनसंघ द्वारा की गई दार्थिक पर्यवेक्षण 209 नीतिगत आलोचना व रचनात्मक सुझावों से अपनी असहमति के तर्क प्रस्तुत करने की बजाय दलीय आलोचना एवं गालीगलौच की भाषा का उपयोग किया। सहकारी खेती के संदर्भ में देश के आर्थिक राजनीतिक नेतृवर्ग का दृष्टिपात उपाध्याय द्वारा की गई आलोचनाओं के अनुकूल था। नागपुर कांग्रेस में जवाहरलाल नेहरू ने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से प्रस्ताव तो पारित करवा लिया; लेकिन मोरारजी देसाई, कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी, प्रोणू रंगा तथा चौधरी चरण सिंह ने सहकारी खेती योजना

का खुलकर विरोध किया। परिणामतः 'सहकारी खेती' के इस कांग्रेस प्रस्ताव के आधार पर संसद में विधेयक लाने का विचार टाल दिया गया।

'सहकारी खेती' योजना को लागू नहीं किया जा सका। कांग्रेस के इस प्रस्ताव का; साम्यवादी दल के अलावा किसी ने समर्थन नहीं किया था।

अपने दो दशकों के सक्रियतम राजनीतिक जीवन के दौरान होनेवाली सभी अर्थरचना संबंधी घटनाओं तथा नीतियों की समीक्षात्मक एवं रचनात्मक आलोचना दीनदयाल उपाध्याय करते थे। इनमें पंचवर्षीय योजनाओं के संदर्भ में उनके द्वारा की गई समीक्षा सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उस समीक्षा के पूर्व अन्य तीन संदर्भों पर उनके द्वारा की गई समालोचना को भी इस अध्याय के लिए चुनना समीचीन लगता है।

पीएल. 480

दीनदयाल जी ने लिखा है कि चीनी आक्रमण के दौरान न केवल हमारी सैनिक एवं वैदेशिक नीतियाँ ही निरावृत्त हुईं वरन् खाद्यान्न के क्षेत्र में भी हमें इतनी भयानक अभावग्रस्तता का सामना करना पड़ा कि हमें विदेशी सहायता लेनी पड़ी। आर्थिक नियोजन में भारी उद्योगों को प्राथमिकता व कृषि की उपेक्षा का यह परिणाम था। अतः 1960 में एक ओर हम अपनी तृतीय पंचवर्षीय योजना का प्रारूप निर्माण कर रहे थे तो दूसरी ओर हमने अमेरिकी सार्वजनिक कानून 480 (पीएल 480) के अंतर्गत संयुक्त राज्य अमेरिका से 6 अरब 7 करोड़ रुपए के गेहूँ-ऋण के लिए समझौता किया।

भारत की आर्थिक व्यवस्था एवं युद्धप्रयत्नों में एकाग्रता के लिए इस प्रकार की तत्काल राहत बहुत जरूरी थी। अतः तत्कालीन खाद्यमंत्री सका, पाटिल की यह बड़ी सफलता मानी गई। अमेरिका के लिए इस समझौते के आर्थिक कूटनीतिक व राजनीतिक सभी तरह के लाभ महत्वपूर्ण थे। इसलिए राष्ट्रपति आइजनहावर ने इस संदर्भ में अभूतपूर्व उत्साह दिखाया। परंपरा से हटकर राष्ट्रपति आइजनहावर ने स्वयं समझौते पर हस्ताक्षर किए जबकि भारत सरकार की ओर से न तो राष्ट्रपति उपस्थित थे और न प्रधानमंत्री। खाद्य व कृषिमंत्री सका, पाटिल ने हस्ताक्षर किए थे।

भारत के साम्राज्यवाद-उपनिवेशवाद विरोधी दृष्टिकोण तथा समाजवादी रुझान के कारण अमेरिका-भारत संबंध सदा ही कुछ तनावग्रस्त रहे हैं।

चीन तो साम्यवादी था ही, भारत भी अमेरिका से इस प्रकार कट जाए यह बात अमेरिका की एशिया नीति के लिए अनुकूल नहीं थी। चीन के आक्रमण ने उसे अवसर दिया कि वह साम्यवादी साम्राज्यवाद के खिलाफ भारत की सहायता कर एशिया में अपनी मित्रता का विस्तार करे। भारत के अमेरिकावादी लोगों ने भी इस समझौते का बहु-चढ़कर स्वागत किया तथा साम्यवादी आक्रमण के खिलाफ स्वतंत्र विश्व के नेता के नाते अमेरिका की काफी प्रशंसा हुई। तब दीनदयाल उपाध्याय ने 'ऑर्गेनाइजर' के अपने नियमित स्तंभ 'पालिटिकल डायरी' में इस संदर्भ में एक लेख लिखा। इस लेख में वे लिखते हैं- "...यह समझना गलत होगा कि यह समझौता केवल एक दया या कूटनीति का कार्य है और इससे अमेरिका को कोई लाभ नहीं है। तथ्य तो यह है कि अमरीकी कृषि की आर्थिक स्थिरता और कृषि वस्तुओं के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के उद्देश्य से ही अमेरिकी कांग्रेस ने 1954 में सार्वजनिक कानून 480 पीएल, 480) पास किया गया था। 31 दिसंबर, 1956 तक ३८ देशों को निर्यात बाजार के भाव से 4 अरब 15 करोड़ 60 लाख डॉलर (11 अरब 78 करोड़ रुपए) की कृषि वस्तुएँ वह बेच चुका है। इसलिए यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि इस समझौते से दोनों देशों के आर्थिक हितों का पोषण होता है और इसलिए निहित पक्ष इसका जो भी राजनीतिक महत्त्व बताने की कोशिश करे, हमें इस पर यथार्थवादी एवं सोद्देश्य दृष्टिसे विचार करना चाहिए।" 14 इस राजनीतिक एवं कूटनीतिक स्थिति के अलावा उपाध्याय को भारतीय अर्थनीति के परावलंबन एवं आर्थिक क्षेत्र में विदेशी हस्तक्षेप के दुष्परिणामों की भी चिंता थी। अतः इस दिशा में सावधान रहने की आवश्यकता पर उन्होंने जोर दिया, "यद्यपि हम इस समझौते के अंतर्गत खाद्यान्न के भारी आयात से भारतीय अर्थव्यवस्था के लाभ को कम आँकना नहीं चाहते तथापि हम चाहते हैं कि सरकार सतर्क नीति का अनुसरण करे। हमारे देश में 70 प्रतिशत से अधिक जनता क्रयशक्ति प्राप्त करने के मुख्य साधन के रूप में खाद्यान्न एवं अन्य कृषि वस्तुओं पर निर्भर करती है। अगर सरकार की भंडार जमा करने की नीति से कृषि वस्तुओं के मूल्य में तीव्र गिरावट हो जाए तो देश की दशा कुछ अच्छी नहीं होगी। क्या इसका अर्थ भारतीय किसान की कीमत पर अमरीकी किसान का संभरण करना नहीं होगा? इस आशंका का एक कारण

और भी है। इस समझौते के अंतर्गत गेहूँ और चावल के आयात के साथ भारत विश्वबाजार से एक करोड़ 46 लाख 80 हजार कुंतल गेहूँ खरीदने के लिए वचन दे चुका है। यह शर्त कनाडा और आस्ट्रेलिया को संतुष्ट करने के लिए हम पर लादी गई है; क्योंकि उन देशों को भय है कि भारत-अमेरिका समझौते के परिणामस्वरूप उनका गेहूँ बाजार काफी कम हो जाएगा। यह शर्त इस अर्थ में पूर्णतः अन्याययुक्त है कि भारत पर सामान्य आवश्यकता से काफी अधिक खाद्यान्न की विदेशों से खरीद करने के लिए दबाव डाला गया है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय कृषि मूल्यों में गिरावट होगी।”

इस समझौते में यह भी प्रावधान है कि भारत द्वारा अदा की गई राशि में से 15 करोड़ रुपए अमेरिकी दूतावास द्वारा भारतीय वित्तपोषण के लिए भारत में ही व्यय किया जाएगा। दीनदयाल उपाध्याय इसे भारतीय वित्तपोषण नहीं वरन् अमेरिकी वित्तपोषण और भारतीय अर्थव्यवस्था में विदेशी घुसपैठ मानते हैं। अमेरिका ने अपने इस कानून के अंतर्गत प्रस्तावित किया है कि “निजी अमेरिकी फर्म या संबंधित देश में कार्यरत उनकी सहकंपनियों को या अमेरिकी फर्म के साथ संबद्ध देशी फर्म को, या ऐसी देशी फर्म को, जो अमेरिकी कृषि उत्पादनों की बिक्री में सहायक हों, ऋण के रूप में दिया जाना चाहिए।” उपाध्याय अमेरिकी सार्वजनिक कानून में ‘कूले संशोधन’ नाम से जाने जानेवाले इस प्रावधान को भारतीय अर्थनीति के स्वावलंबन एवं स्वदेशीकरण के संदर्भ में अहितकर मानते हैं, “...इस समझौते से न केवल अमेरिकी कृषि उत्पादनों के लिए उन्हें एक बाजार मिल गया, बल्कि इस देश में आने के इच्छुक उद्योगपतियों के लिए भी एक सुविधा की स्थिति पक्की हो जाती है। इन प्रस्तावों के दीर्घकालिक प्रभावों की ओर से आँखें मूँद लेना बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं होगा।”

अतः तात्कालिक राहत के बावजूद उसके दीर्घकालिक दुष्प्रभावों से बचने के लिए हमें सचेत रहना चाहिए। वे लिखते हैं- “समय की गति के साथ हम विदेशी साधनों पर अधिकाधिक निर्भर होते गए हैं। हमें भय है कि वर्तमान में पर्याप्त खाद्यान्न मिल जाने के कारण सरकार देश में उत्पादन बढ़ाने के अपने प्रयासों में शिथिल हो जाएगी। अमेरिकी राजदूत का कहना है कि अमेरिका जनतांत्रिक विश्व की संघर्षरत जनता को यह महसूस करा देने के लिए कि ‘स्वतंत्रता और भोजन दोनों साथ-साथ चल सकते हैं’ इस

नीति का अनुसरण कर रही है; किंतु हम जो चाहते हैं, वह है 'अपनी स्वतंत्रता और अपना भोजन।' यह तभी संभव है जब हम 'विदेशी भोजन से मुक्ति' के अपने पुराने नारे को फिर से गुंजरित करें। ...इसलिए हम भी पाटिल का उनके अमेरिका से लौटने पर नहीं; बल्कि तब अभिनंदन करेंगे जब वे देश में खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने में सफल हो जाएँगे, और विश्व को यह दिखा देंगे कि भिक्षापात्र लेकर विश्व में घूमने वाले वे स्वतंत्र भारत के अंतिम खाद्यमंत्री हे।”

स्वर्ण नियंत्रण क्रास

दीनदयाल जी ने लिखा है कि भारत के तत्कालीन वित्तमंत्री मोरारजी देसाई ने स्वर्ण नियंत्रण आदेशों को जारी किया। भारतीय समाज के स्वर्णमोह ने सोने की माँग इतनी बढ़ा दी कि भारत में सोने का भाव अंतर्राष्ट्रीय स्वर्णभाव से बहुत बढ़ गया। युद्धकाल से आहत भारतीय अर्थव्यवस्था को इससे बहुत कठिनाई हुई। सरकार को अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा विनिमय में ही कठिनाई नहीं हुई वरन् राष्ट्रीय आय का लोगों द्वारा सोने में विनियोजन, विकासशील अर्थव्यवस्था पर घातक प्रभाव डाल रहा था। अतः दीनदयाल उपाध्याय ने स्वर्ण नियंत्रण कानून के उद्देश्यों को उचित ठहराया; लेकिन जिस प्रकार सोने को बाहर निकलवाने का प्रयत्न किया गया, उपाध्याय ने उसे अव्यावहारिक तथा अवांछनीय बताया।

“मोरारजी भाई की स्वर्ण नीति यद्यपि उद्देश्यों की दृष्टि से शलाघ्य है तथापि उसकी भी मद्यनिषेध नीति के समान ही दुर्गति होगी। इसके कारण सामान्य व्यापार स्रोत भूमिगत हो जाएँगे जिसके परिणामस्वरूप राजस्व की क्षति होगी तथा कालाधन बढ़ेगा।”

उपाध्याय समाज की स्वर्णभूख को भी अवांछनीय मानते हैं, “देश के आर्थिक विकास को ध्यान में रखते हुए सोने में विनियोजन का कोई औचित्य नहीं है। यह अनुत्पादकीय है और गत दशाब्दि से यह हमारे अल्प विदेशी मुद्रास्रोत पर भारी दबाव डाल रहा है। सोने में धन लगाने से न व्यक्तिगत आय में और न राष्ट्रीय आय में ही वृद्धि होती है। अतिरिक्त रोजगार के लिए भी इससे पूँजी की व्यवस्था नहीं होती। इसलिए यदि लोग सोना खरीदने के बदले किसी उत्पादक उद्योग में अपनी बचत का विनियोजन करें तो उन्हें

दोहरा लाभ होगा। इससे उन्हें न केवल ब्याज और लाभ मिलेगा, अपितु विकास की प्रक्रिया भी पैदा होगी, जिससे बचत करने और विनियोजन करने के लिए भारी प्रोत्साहन मिलेगा। “उनका आग्रह था कि अपने समाज की ‘स्वर्णभूख’ के कारण जानकर उन्हें हटाने का प्रयत्न करना चाहिए। युद्ध की दुहाई का ‘भावना प्रधान आह्वान’ अधिक लंबे समय तक कारगर नहीं हो सकता। हमारी सामाजिक स्वर्णभूख के अनेक राजनीतिक व आर्थिक कारण हैं।

दीनदयाल जी ने लिखा है कि सोने की माँग में वृद्धि का सबसे बड़ा कारण मुद्रास्फीति है। अगर सरकार कीमतों और अपनी मुद्रा के मूल्यों को स्थिर नहीं रख सकती तो खरी धातु में विनियोजन करने की प्रवृत्ति पैदा होना अवष्यंभावी है। बैंकिंग व ऋण सुविधाओं की अपर्याप्तता भी इसका कारण है। गाँवों में लोगों के पास अपनी बचत को सुरक्षित रखने का अन्य कोई उपाय नहीं है। बिना अमानत रखे उधार धन प्राप्त करने की उनके पास कोई व्यवस्था नहीं है। आर्थिक असुरक्षा का भाव भी अपनी बचत को स्वर्ण में परिवर्तित करने के लिए लोगों को उत्प्रेरित करता है। भारत का मध्यमवर्ग इस भाव से पूरी तरह ग्रस्त रहता है। सरकार की औद्योगिक व व्यापारिक नीति भी सोने की माँग में अभिवृद्धि के लिए उत्तरदायी है। देश में ऐसी धनराशि है जो विनियोजन मार्ग खोज रही है। विनियोजन मार्ग को सरकार की तथाकथित समाजवादी नीति ने अवरुद्ध कर रखा है। राष्ट्रीयकरण की चर्चा से भी विनियोजकों के कान खड़े हो जाते हैं। फिर वे सोने के पीछे दौड़ते हैं, चाहे वह अवैध हो या वैध। कराधान कानून और सेवाओं में व्यापक रूप से फ़ैले भ्रष्टाचार ने भी सोने की माँग बढ़ाने में योगदान दिया है। इस भ्रष्टाचार ने लोगों के पास ‘कालेधन’ का सृजन किया है, जिसे ‘श्वेत’ नहीं बनाया जा सकता। इसलिए उसे स्वर्ण में परिणत कर दिया जाता है।

दीनदयाल उपाध्याय ने कहा कि अपने अर्थनीति व्यवहार में हमें समग्रतापूर्वक विचार करना होगा। उपर्युक्त कारणों के रहते हम सोने को देश की विकासशील अर्थव्यवस्था के साथ संबद्ध नहीं कर सकते। “चाहे किसी नीति के निर्माण के पीछे कितनी भी नेकनीयती हो, सभी पहलुओं से कुकल्पित नीति असफल होगी ही।”

भारतीय रूपए का अवमूल्यन

दीनदयाल जी ने लिखा है कि स्वर्णनीति का एक और मानवीय एवं सांस्कृतिक पहलू भी था। स्वर्णकारों की बेरोजगारी तथा युगों से संचित भारतीय स्वर्णकला पर इस कारण होनेवाले आघात के बारे में सरकार ने बिलकुल विचार ही नहीं किया। स्वर्णकारों के अनेक प्रतिनिधिमंडलों को अनसुना कर दिया गया। दमननीति का भी उपयोग हुआ। इसी समस्या का दूसरा पहलू यह था कि भारतीय ग्रामीण स्वर्णकार अशुद्ध 14 कैरेट सोने के आभूषणों के निर्माण का अभ्यस्त नहीं था तथा इसके लिए वह यंत्रों का भी उपयोग नहीं करता। वह उसकी विशुद्ध हस्तकला थी। उपाध्याय का मत था कि 14 कैरेट के कारण आनेवाली यांत्रिकता आभूषण-निर्माण-उद्योग को शहरी पूँजीपतियों के हाथ में केंद्रित कर देगी। कालांतर में यह सिद्ध भी हुआ कि स्वर्णनियंत्रण आदेशों से सरकार उतना सोना बाहर न निकलवा पाई जितना उसको लोगों ने स्वेच्छा से युद्ध के दौरान भारतीय सुरक्षाकोष के लिए दिया था। अर्थव्यवस्था, मुद्रास्फीति व अंतर्राष्ट्रीय मुद्राविनिमय का संतुलन बिगड़ता चला गया तथा अंततः 5 जून, 1966 को भारतीय रुपए का 'अवमूल्यन' करना पड़ा। भारतीय रुपए का अवमूल्यन 5 जून, 1966 को रात्रि में 11 बजे, शीष्टरता से बुलाई गई एक प्रेस परिषद् में तत्कालीन वित्तमंत्री शचींद्र चौधरी ने भारतीय रुपए के अवमूल्यन की घोषणा की। भारतीय रुपए का मूल्य 0.118516 ग्राम स्वर्ण हो गया। इस संदर्भ में दीनदयाल उपाध्याय ने एक पुस्तिका लिखी- 'डीवैल्युएशन: ए ग्रेट फल' अवमूल्यन-एक महान् क्षति । अपनी इस पुस्तिका में हमारी चारों पंचवर्षीय योजनाओं के विदेशी मुद्रा पर अवलंबन को उन्होंने बहुआयामी आंकड़ों एवं विभिन्न मंत्रालयी एवं आयोगीय प्रतिवेदनों को संदर्भित करते हुए उजागर किया है। एक गलत आर्थिक नीति के परिणामस्वरूप हमको रुपए का अवमूल्यन करना पड़ा। जितनी आपत्ति उपाध्याय को इस बात से है, इससे कहीं अधिक आपत्ति इस निर्णय की राजनीतिक अंतर्निहित से है। उपाध्याय मानते हैं कि यह निर्णय हमें संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव में लेना पड़ा। अमेरिका का यह दबाव भी आर्थिक कारणों के बजाय साम्राज्यवादी स्पध र्ण कारणों से हम पर आया और हमने उसके समक्ष घुटने टेक दिए। अपनी पुस्तक में वे लिखते हैं- "यह निर्णय राजनीतिक दबाव के कारण लिया गया है, इसे नकारा नहीं जा सकता। 'सरकार की नकारोक्ति से कोई भी

संतुष्ट नहीं है। यदि जनता को इस संदर्भ में विश्वास में लिया गया होता तो यह निर्णय अधिक ईमानदार तथा लोकतांत्रिक होता। भूतपूर्व वित्तमंत्री श्री टीटी. कृष्णमाचारी ने यह रहस्योद्घाटन किया। कांग्रेस कार्यसमिति को उन्होंने प्रतिवेदित किया कि पिछले दो सालों से विश्वबैंक तथा संयुक्त राज्य सरकार यह दबाव डाल रहे थे कि हम रुपए का अवमूल्यन करें और उसने यह दबाव बनाए रखा। हम यह भी जानते हैं कि सरकार ने बिना रुपए का अवमूल्यन किए अमेरिका से आर्थिक सहायता प्राप्त करने का प्रयत्न किया; लेकिन संयुक्त राज्य अपना दबाव बनाए रहा। शायद, विशेषतः ताशकंद के बाद, जहाँ हम सोवियत दबाव के सम्मुख झुके थे, वह अपनी शक्ति प्रदर्शित करना चाहता था। चाहे यह क्षोभपूर्ण एवं कष्टदायक है, पर हमें स्वीकार करना चाहिए कि यहाँ भी हम दबाव के सम्मुख झुके। हमने रुपए का अवमूल्यन किया और हमने लोकतंत्र तथा राष्ट्र दोनों को अवमूल्यित कर दिया। हमारी संप्रभुता को धक्का लगा।”

“जहाँ तक अवमूल्यन से अर्थव्यवस्था सुदृढ़ होने का प्रश्न है वह कोरी कल्पना मात्र है; क्योंकि अवमूल्यन के साथ कर्ज में अप्रत्याशित वृद्धि हो गई है। 5 जून, 1966 को जो विदेशी ऋण 2733 करोड़ रुपया था, वह अवमूल्यन के उपरांत 6 जून को 4100 करोड़ रुपया हो गया। ...मूलधन और ब्याज में वृद्धि हमारी टूटती हुई अर्थव्यवस्था के लिए अभिशाप सिद्ध होगी।”

अवमूल्यन के इस स्थिति तक पहुँचने के दीनदयाल उपाध्याय निम्न कारउपाध्याय ने अर्थशास्त्रीय एवं राज्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है; लेकिन उनका सर्वाधिक जोर ‘स्वदेशी’ पर है- “विनिमय-नियमन के विवेकीकरण के साथ ही न केवल नियोजन में वर्न् जीवन के संपूर्ण दृष्टिकोण में हमें क्रांतिकारी परिवहन लाना होगा। हम ‘स्वदेशी’ की प्रेरणा को जागृत करें। हम अपने को उस गलत धारणा से मुक्त करें जो एक मतवाद बन गया है कि समस्त प्रगति का उदम स्रोत विदेशी भूमियों में है, विशेषकर पश्चिम में। आत्मसम्मान एवं आत्मविश्वास की भावना ही डॉलर की आकांक्षा को अल्प कर सकती है। ‘परमावश्यक होने पर यात्रा’ यह रेलवे का युद्धकालीन घोष था। अत्यावश्यक होने पर ही विदेशी वस्तु खरीदिए, परमावश्यक होने पर ही विदेश यात्रा कीजिए, हमारे आज के घोष होने चाहिए।”

वे इस अवमूल्यन को अटल नहीं मानते थे। उनका मत था कि हमें अमेरीकी दबाव को नकार देना चाहिए था, “यदि हम अपने रुपए को अवमूल्यित करने से इनकार कर देते तो भारत को आर्थिक मदद करने वाले देश हमें वह न देते। हमको यह तय करना चाहिए था कि हम बिना विदेशी सहायता के अपना कार्य करेंगे, तो वह आर्थिक दृष्टि से लाभकारी एवं राजनीतिक दृष्टि से सम्मानजनक होता, उसका निश्चय ही यह अर्थ होता कि हम अपने नियोजन व नीतियों में उग्र परिवर्तन करते।”

चार पंचवर्षीय योजनाओं के बावजूद हम ‘स्वदेशी’ तथा ‘स्वावलंबन’ के लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सके। विदेशी दबाव हमें कदम-कदम पर झुकने को बाध्य करते हैं। उपाध्याय हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के गंभीर अध्येता थे। उन्होंने चारों पंचवर्षीय योजनाओं की विस्तारपूर्वक आलोचनात्मक समीक्षा की है।

मनोविज्ञान आर्थिक चिंतन

वर्तमान साम्यवाद तथा पूँजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरूप का अंतर छोड़कर और कोई फर्क नहीं है। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की कोई सुविधा नहीं है।

समग्रतावादी दार्शनिक होने के कारण पं. दीनदयाल उपाध्याय उन लोगों से हर विषय पर असहमत रहते हैं जो जीवन के किसी विशिष्ट आयाम को जीवन की समग्रता का नियामक मान बैठते हैं अथवा एक ही पहलू की ऐसी अतिरेकी व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं जिसमें जीवन के अन्य विविध पहलुओं की उपेक्षा हो जाती है। इस संदर्भ में उपाध्याय लिखते हैं- “भारतीय जनसंघ के पास एक स्पष्ट आर्थिक कार्यक्रम है; किंतु उसका स्थान हमारे संपूर्ण कार्यक्रम में उतना ही है जितना भारतीय संस्कृति में अर्थ का। पाश्चात्य संस्कृति भौतिकवादी होने के कारण अर्थप्रधान है। हम भौतिकवाद और अध्यात्मवाद दोनों का समन्वय करना चाहते हैं। अतः यह निश्चित है कि जनसंघ उन अर्थशास्त्रियों व दलों से, जो अर्थ के सामने जीवन के प्रत्येक मूल्य की उपेक्षा करके चलना चाहते हैं, इस मामले में सदैव पीछे रहेगा। जनसंघ हृदय, मस्तिष्क और शरीर तीनों का सम्मिलित विचार करता है। इसी कारण कुछ लोग जनसंघ पर यह आरोप लगाते हैं कि जनसंघ आध्यात्मिकता की उपेक्षा करता है, महर्षि अरविंद आदि महापुरुषों की भाषा नहीं बोल पाता। हम दोनों ही प्रकार के आरोपों का स्वागत करते हैं और इतना ही कहना चाहते हैं कि अर्थ समाज की धारणा के लिए आवश्यक है। जितने मात्र से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करके अन्य श्रेष्ठ मूल्यों की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके उतने को ही हमने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है।”

दीनदयाल उपाध्याय ने 'भारतीय अर्थनीति विकास की एक दिशा' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक में अर्थनीति की विवेचना करते हुए उन्होंने अपने 'एकात्म मानव' के अर्थायाम की व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। "समाज से अर्थ के प्रभाव व अभाव दोनों को मिटाकर उसकी समुचित व्यवस्था करने को 'अर्थायाम' कहा गया है।"

भारतीय संस्कृति में अर्थ

दीनदयाल जी ने लिखा है कि भारतीय संस्कृति में 'धर्म' को आधारभूत पुरुषार्थ माना गया है। 'सुखस्य मूलम् धर्मः। धर्मस्य मूलमर्थः।' चाणक्य के इस कथन के अनुसार 'अर्थ के बिना धर्म नहीं टिकता।' सन् 1953 में लिखे अपने प्रथम अर्थनीति प्रलेख में उपाध्याय लिखते हैं- "हम जानते हैं कि भारतीय ढंग सदा से ही धर्म का ढंग रहा है (मजहब का नहीं) और धर्म के इस ढंग पर ही आर्थिक नवनिर्माण के लिए नक्वो को तैयार करने की जरूरत है। धर्म की वेदों की व्याख्या हम लेते हैं जिसमें उसके 12 लक्षण गिनाए गए हैं। इनमें धर्म का आद्यलक्षण सबसे महत्वपूर्ण है (श्रमेण तपसा सट्टा और वह है 'श्रम' 'श्रम' को धर्म का पहला लक्षण बताया। श्रम की महत्ता का ज्ञान मार्क्स और एंजिल्स के जन्म तक रुका नहीं रहा। वह अति पुरातनकाल में सहज अनुभूति से हमने मानवता को दे दिया था। श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्तव्य है हठात्। इसी प्रकार मनुष्य को श्रम करने का यह अधिकार देना राज्य का मूलभूत कर्तव्य है। अतः श्रम का अधिकार मनुष्य का सवैधानिक अधिकार है। राज्य का यह पहला कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक को उसकी योग्यता व क्षमता के अनुसार काम करने का अवसर दे। इन अवसरों में किसी प्रकार का भेदभाव, न जाति का, न रंग का और न लिंग का होने दे। राष्ट्र के पुनर्निर्माण की जो भी योजना बनाई जाए उसका उद्देश्य सभी व्यक्तियों को काम दिलाना होना चाहिए। इसी आधार पर दीनदयाल उपाध्याय पंचवर्षीय योजनाओं के निर्माण के संदर्भ में सदैव यह आग्रह करते रहे कि हमें अपना आयोजना-लक्ष्य घोषित करना चाहिए 'सब को काम'।

धन का मनोविज्ञान

दीनदयाल जी ने लिखा है कि धन का अभाव मनुष्य को चोर बनाता

है। अभाव के क्षणों में की गई चोरी को भारतीय शास्त्रकार अपराध नहीं वरन् 'आपद्धर्म' की संज्ञा देते हैं- "उन्होंने (विश्वामित्र ने) धर्म की अनेक मर्यादाओं को भंग किया। आपद्धर्म की संज्ञा देकर शास्त्रकारों ने उनके इस व्यवहार को उचित ठहराया है। यदि अर्थ के अभाव की आपत्ति बनी रहे तो फिर आपद्धर्म अर्थात् चोरी ही धर्म बन जाएगा। यदि यह आपत्ति समष्टिगत हो जाए अथवा समष्टि का बहुतांश इससे व्याप्त हो जाए तो वे एक-दूसरे की चोरी करके अपने आपद्धर्म का निर्वाह करेंगे।"

अर्थात् समाज में अर्थ का अभाव अथवा अभाव मूलक नियोजन समाज में अधर्म को धर्म बना देता है। वैसे ही "अर्थ का प्रभाव भी धर्म का नाश करता है। अर्थ जब अपने में या उसके द्वारा प्राप्त पदार्थ में और उससे प्राप्त भोग-विलास में संग (आसक्ति) उत्पन्न कर देता है तब अर्थ का प्रभाव कहा जाता है। 'सर्वे गुणाः काव्वनमाष्टरयन्ति' जब समाज में सभी 'धनपरायण' हो जाएँ तो प्रत्येक कार्य के लिए अधिकाधिक धन की आवश्यकता होगी। धन का यह प्रभाव प्रत्येक के जीवन में अर्थ का अभाव उत्पन्न कर देगा। इसलिए वे यह प्रतिपादित करते हैं कि "समाज के मानदंड ऐसे बनाए जाएँ कि हर वस्तु पैसे से न खरीदी जा सके (पैसे से ही मूल्य आँकने का परिणाम यह होगा कि दुर्बल की रक्षा ही नहीं हो पाएगी। शरीर शक्ति में दुर्बल अपनी बुद्धि का उपयोग कर धूर्तता से धन कमाकर अपनी रक्षा का मूल्य चुकाएगा (घूसखोरी होगी)। श्रम का रुपए-पैसे में मूल्य आँकना असंभव है। श्रम और पारिश्रमिक दोनों का अर्थशास्त्र के क्षेत्र में घनिष्ठ संबंध होने पर भी व्यवहारजगत के लिए सर्वमान्य एवं सर्वकाल मूल्य सिद्धांत निश्चित करना न तो सरल है और न उपादेय ही। वास्तविकता तो यह है कि दोनों का मूल्यांकन पृथक मानदंड से होता है। श्रम की प्रतिश उससे मिलने वाले अर्थ के कारण नहीं अपितु उसके धर्मत्व से है। इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति को दिया गया पारिश्रमिक उसके द्वारा किए श्रम का प्रतिदान नहीं वरन् उसके 'योगक्षेम' की व्यवस्था है।"

उपाध्याय इस प्रकार के समाजशास्त्र व मनोविज्ञान के हिमायती हैं जिसमें कर्म की प्रेरणा का आधार लोभवृत्ति नहीं वरन् 'कर्तव्यसुख' है। वे उस अर्थशास्त्र के खिलाफ हैं जो मानवजीवन के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं की उपेक्षा करता है।

“व्यक्तियों की अबाध व असीम प्रतिस्पर्धा को न तो हम सामाजिक जीवन का नियामक मान सकते हैं और न सुरक्षापूर्ण ही। यह मान्यता ‘माक्य न्याय’ का प्रतिपादन करने वाली है। हमने इस न्याय को कभी धर्मसंगत नहीं माना। समाज में मानव की कुछ स्वतंत्रताओं पर मर्यादा आवश्यक होती है। अनियंत्रित स्वतंत्रता केवल कल्पना की वस्तु है। ही, यह नियंत्रण जितना बाहरी होगा, मानव को कष्टदायी होगा। शिक्षा और संस्कार, दर्शन और आदर्शवाद व्यवहार में मनुष्य को आत्मनियंत्रण सिखाते हैं।”

अपनी ही गति से चलनेवाले अर्थशास्त्र के हवाले समाज को नहीं किया जा सकता। अर्थचक्र को समाजशास्त्र व धर्मशास्त्र के अनुकूल नियोजित करना आवश्यक है। इसलिए वे कहते हैं, “अपनी ही गति से बराबर गतिमान अर्थव्यवस्था असंभव है। उसे गति देने के लिए और बाद में भी कम-से-कम रुकावट के साथ सुचारु रूप से चलते रहने के लिए व्यक्ति और समाज के जीवन में प्रेरणा का स्रोत अर्थ के अतिरिक्त कहीं अन्यत्र ढूँढ़ना होगा। राष्ट्र की राजनीतिक महत्वाकांक्षाएं व्यक्ति को सामाजिक प्रतिश की अभिलाषा, कुटुंब का प्रेम आदि अनेक प्रेरणाएँ वांछित अर्थरचना को बनाने व टिकाने में सहायक होती है।”

उपाध्याय की मान्यता है कि उपभोगवाद, स्पर्धावाद व वर्गसंघर्ष इन सबका आधार अनियंत्रित उपभोग है। “पश्चिम ने अधिकाधिक उपभोग के अपने पुराने सिद्धांत को ही चलने दिया और उसमें संशोधन की जरूरत नहीं समझी। वास्तविकता यह है कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धांत ही मनुष्य के दुःखों का कारण है। उपभोग की लालसा यदि पूरी की जाए तो वह बढ़ती चली जाती है। वर्गसंघर्ष, जिसके ऊपर समूचा साम्यवाद खड़ा है, ऐसे उपभोग के कारण ही उत्पन्न होता है। भारतीय मतवाद जब वर्गसंघर्ष का खंडन करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि उसने उपभोग को नियंत्रित कर लिया है तथा अधिकाधिक उपभोग की बजाय न्यूनतम उपभोग को आदर्श बनाया है। मनुष्य की प्राकृत भावनाओं का संस्कार करके उसमें अधिकाधिक उत्पादन, समान वितरण तथा संयमित उपभोग की प्रवृत्ति पैदा करना ही आर्थिक क्षेत्र में सांस्कृतिक कार्य है। इसमें ही तीनों का संतुलन है।”

साम्यवादी व पूँजीवादी विचारधाराएँ समाजशास्त्र, मानवशास्त्र, विधिशास्त्र

सभी को अर्थशास्त्र के हवाले कर देती है। अर्थशास्त्र की औद्योगीकरण-प्रवृत्ति ने वित्तीय सत्ता के केंद्रीकरण को पोषण प्रदान किया है। इससे मानव जीवन का ही मशीनीकरण हो गया है। उपाध्याय धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र व समाजशास्त्र में पारस्परिक संतुलन के हिमायती हैं। इस संतुलन कार्य को वे 'सांस्कृतिक' कार्य मानते हैं तथा इस दृष्टि से अनुकूल अर्थायाम की स्थापना के हिमायती हैं।

स्वामित्व का सवाल

दीनदयाल जी ने लिखा है कि 'संपत्ति किसकी?' यह सभ्य समाज का आदिकालिक प्रश्न है। संपत्ति को संपूर्ण समाजचक्र का नियामक मान लेने से इस सवाल की अहमियत और बढ़ गई। व्यक्तिवाद व समाजवाद के विचारधारात्मक संघर्ष ने इसे एक नवीन आयाम दे दिया, संपत्ति पर व्यक्ति का अधिकार अथवा संपत्ति पर समाज का अधिकार? उपाध्याय 'संपत्ति' के स्वामित्व के लिए व्यक्ति व समाज के द्वंद्व को ही गलत मानते हैं; अतः इस सवाल का सीधा उत्तर नहीं देते।

हर व्यक्ति समाज का प्रतिनिधि है। अतः वह समाज की संपत्ति के एक हिस्से का 'न्यासी' या संरक्षक है। उपाध्याय व्यक्ति को श्रीविहीन करने के खिलाफ हैं। व्यक्ति स्वयं 'समाजपुरुष' का अंग है। अतः वह स्वयं ही समाज की धरोहर है। इसलिए संपत्ति पर अमोघ अधिकार तो समाज का ही है; लेकिन वे समाज की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था के नाते 'राज्य' को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। यही कारण है कि निजी संपत्ति के अधिकार के नाम पर समाज के कुछ लोगों के हाथ में संपत्ति का केंद्रीकरण या संपत्ति के सामाजिक अधिकार के नाम पर राज्य में संपत्ति के केंद्रीकरण को वे समान रूप से गलत मानते हैं। आम आदमी को पूंजीपतियों अथवा राज्यसंस्था का मजदूर या गुलाम बना देना. वे मानवता का अपमान समझते हैं। उपाध्याय संपत्ति पर न तो व्यक्ति का अमर्यादित स्वामित्व स्वीकार करते हैं तथा न ही अमर्यादित राज्याधिकार। वे स्वामित्व के केंद्रीकरण के खिलाफ हैं। अतः वे विकेंद्रित राज्य व विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के समर्थक हैं।

उपाध्याय कहते हैं, "समाजवादी निजी संपत्ति को ही समाप्त करने की बात करते हैं। उनका सिद्धांत व व्यवहार दोनों ही दृष्टियों का समर्थन

करना कठिन है। यद्यपि सृष्टि के आरंभ से ही 'अपरिग्रह' एवं 'मा गृधः कस्वस्विद्धनम्' का उपदेश मिला है; किंतु यह संसार मेरे और तेरे का ही नाम है। साम्यवादी जो निजी संपत्ति की भावना को जड़मूल से समाप्त कर देना चाहते थे, पहले व्यक्तिगत और फिर कुछ-कुछ अंश में निजी संपत्ति को भी स्वीकार करने लगे। निजी संपत्ति के कारण बुराइयाँ उत्पन्न होने पर भी हम उसका बहिष्कार नहीं कर सकते। ही, हमें निजी संपत्ति की मर्यादाएँ अवश्य स्थापित करनी होंगी।”

व्यक्तिगत संपत्ति के नियमन एवं अर्थोत्पादकीय आयोजना के लिए उपाध्याय राज्याधिकार को भी स्वीकार करते हैं। जहाँ कुछ हाथों के पूँजी के केंद्रीकरण का खतरा हो वहाँ राष्ट्रीयकरण को वे वांछनीय मानते हैं—जहाँ तक कुटीर उद्योगों का सवाल है, यह खतरा बहुत कम है; लेकिन जहाँ बड़े उद्योगों का क्षेत्र शुरू होता है वहाँ यह खतरा उत्पन्न होता है। सुरक्षा-उद्योगों का तो राष्ट्रीयकरण अनिवार्य है। अब प्रश्न बचता है पूँजी-उद्योगों का। उनका भी अंतिम रूप से राष्ट्रीयकरण कर देना उद्देश्य होना चाहिए। आज पूँजी-उद्योग व्यक्तिगत क्षेत्र में आते हैं। उनसे व्यक्तिगत क्षेत्र का क्रमिक उन्मूलन किया जाना चाहिए। जब तक यह राष्ट्रीयकरण अंतिम रूप से संपन्न नहीं हो जाता तब तक बड़े उद्योगों के गुट बनने देने की प्रवृत्ति को रोकना चाहिए। जिन उद्योगों में ये गुट बन गए हैं उनका राष्ट्रीयकरण कर लिया जाए। कुटीर उद्योगों का विकास करते समय भी इस बात का ध्यान रखना होगा कि उनके गुट बनाकर पूँजीपति उन पर नियंत्रण स्थापित न कर लें। जापान में वितरण तथा संपत्ति की असमानता का कारण वहाँ के कुटीर उद्योगों पर पूँजीपतियों का नियंत्रण ही है। स्वामित्व के सवाल को जिस प्रकार पूँजीवादी व समाजवादी लोग प्रस्तुत करते हैं उसे वे उनकी विभक्त दृष्टि का परिचायक मानते हैं। उपाध्याय की नजर में संपत्ति के 'स्वामित्व' की बजाय 'केंद्रीकरण' का सवाल ज्यादा अहम है, साथ ही 'उपभोगवाद' की अवधारणा का सवाल भी महत्वपूर्ण है। अतः वे लिखते हैं— “स्वामित्व के साथ अनिबंध नियंत्रण एवं मनमाने उपभोग की धारणाओं ने इस विषय को गलत पृष्ठभूमि में प्रस्तुत किया है। किसी भी वस्तु पर मेरा स्वामित्व होने के बाद भी मुझे यह अधिकार प्राप्त नहीं कि मैं उसका चाहे जैसा उपभोग करूँ। स्वामित्व एवं उपभोग की दोनों भावनाओं को जब तक हम

अलग-अलग नहीं करेंगे तब तक कम होनेवाली बुराइयों को नहीं रोक सकेंगे। जिस वस्तु का मैं स्वामी हूँ उसका उपभोग समाज हित में ही करने का मुझे अधिकार है, यह विचार प्रत्येक व्यक्ति के सम्मुख चाहिए। राज्य भी जब स्वामित्व ग्रहण कर लेता है तो वह व्यक्तियों द्वारा ही व्यवस्था करता है। जो व्यक्ति आज अपनी चीज का मनमाना उपयोग करने से नहीं डरता वह समाज की वस्तु का उपयोग भी वैसा ही नहीं करेगा, इसकी गारंटी नहीं दी जा सकती। यदि उसके दुरुपयोग को रोकने के लिए दंडनीति आवश्यक समझते हैं तो वह उसके पास स्वामित्व का अधिकार रहते हुए भी काम में लाई जा सकती है।”

दीनदयाल उपाध्याय व्यक्ति के निजत्व को कुचलने वाले राज्याधिकार व समाज की उपेक्षा करने वाले वैयक्तिक अधिकारों के खिलाफ हैं। वे इसे मानव की अस्वस्थ अवस्था का परिचायक मानते हैं। संपत्ति पर व्यक्ति या राज्य के अनिबंध नियंत्रण के अधिकार का सवाल भी इस अस्वस्थ अवस्था की उपज है। उनका मत है, गंभीरता से देखें तो स्वामित्व का अधिकार वास्तव में निश्चित मर्यादाओं तथा निश्चित उद्देश्यों के लिए किसी वस्तु के उपयोग का अधिकार ही है। समय के साथ इन अधिकारों में परिवर्तन होता रहता है। अतः हम सैद्धांतिक दृष्टि से व्यक्ति और समाज के झगड़े में नहीं पड़ेंगे। संपत्ति का उपभोग कुटुंब (समाज) के हित में होता है, मनमाने ढंग से नहीं। ‘ट्रस्टीशिप’ का यह भारतीय सिद्धांत गांधीजी व गुरुजी आदि विचारकों ने समाज के सम्मुख रखा है। ‘ट्रस्टीशिप’ का सिद्धांत हर व्यक्ति को समाज का दायित्ववान घटक मानता है। समाज में दायित्वबोध का शिथिलन न आवे तथा दायित्व का संस्कार सामाजिक परिवेश का स्वाभाविक परिणाम हो ऐसी समाजरचना ‘मानवी’ समाजरचना है। व्यक्ति की शैतानियत पर राज्य का अंकुश एवं राज्य की हैवानियत के खिलाफ व्यक्तियों का विद्रोह, संस्कारहीन समष्टि का परिचायक है। ‘अंकुश’ व ‘विद्रोह’ मजबूरी के हथियार हैं। इनका यदा-कदा उपयोग व्यावहारिक माना जा सकता है; लेकिन अखंड अंकुश एवं अखंड विद्रोह की व्यवस्थाओं का नियोजन विवेकसम्मत नहीं माना जा सकता। व्यष्टि समष्टि के साझेपन में ही मानवता का सुख अंतर्निहित है। अतः संपत्ति पर यह साझा अधिकार ही उपाध्याय के एकात्म मानववाद को अभिप्रेत है।

पूँजीवाद का निषेध

दीनदयाल उपाध्याय पश्चिम की विचारसरणी से उत्पन्न व्यक्तिवाद के लोकतंत्रीय पक्ष के समर्थक हैं; लेकिन पूँजीवाद को व्यक्तिवाद की विकृति मानते हैं। उमुक्त आर्थिक स्पर्धा पूँजीवाद का आधार है। स्पर्धा-स्वातंत्र्य को ही पूँजीवादी लोग व्यक्ति-स्वातंत्र्य कहते हैं; लेकिन उपाध्याय इससे पूरी तौर पर असहमत हैं। उनका कहना है- “कहा जाता है कि स्वतंत्र एवं प्रतिस्पर्धी-पण, व्यक्ति को उपभोग की स्वतंत्रता प्रदान करता है। (यह सही नहीं है) विरोधियों स्पर्धियों के समाप्त होने पर एक या कुछ उत्पादकों का उस क्षेत्र में एकाधिपत्य हो जाता है तो वे उपभोक्ता से उसके प्रजातंत्रीय अधिकारों को छीन लेते हैं। फिर मूल्य, माँग और पूर्ति के नियमों से तय न होकर उत्पादकों की अपनी इच्छा और योजना से तय होते हैं। आर्थिक क्षेत्र में यह एक प्रकार की ‘डिक्टेटरशिप’ है। प्राप्त शक्ति तथा प्रचारतंत्र के सहारे उत्पादनों के स्वामी सामान्यजन को उसके अधिकार से वंचित करते हैं। एतदर्थ आवश्यक है कि उत्पादन के सामर्थ्य की मर्यादा निश्चित की जाए जो कि विकेंद्रीकरण से ही संभव है।”

उपाध्याय कुछ व्यक्तियों के हाथों में असीमित उत्पादन के सामर्थ्य के केंद्रीकरण के प्रबल विरोधी है, “यदि एक व्यक्ति द्वारा उत्पादन की स्वतंत्रता दूसरे के मार्ग में बाधक बनती है, तो वह नहीं दी जा सकती। एक बड़े कारखाने का मालिक यद्यपि स्वयं उत्पादन की स्वतंत्रता का उपभोग करता है; किंतु वह छोटे-छोटे उद्योगों को समाप्त कर, उनकी स्वतंत्रता का अपहरण करता है। फिर कई बार उसके कारखाने में मजदूरों की स्वतंत्रता भी बहुत सीमित हो जाती है। अतः नियमन आवश्यक है।”

पूँजीवाद की प्रवृत्ति वित्तीय सत्ता को कुछ हाथों में केंद्रीकृत कर देने की है। अपनी समाजनिरपेक्ष मानसिकता के कारण वह मनुष्यों के हित की बजाय अपने स्वामित्व के केंद्रीकरण पर ही अधिकबल देता है। यह केंद्रीकरण की प्रकृति ही पश्चिम के औद्योगीकरण में दिखाई देती है जहाँ मशीन मनुष्य के लिए सहयोगिनी बनकर नहीं वरन् स्पर्धिनी बनकर आई। नित नए यांत्रिक अभिनवीकरण ने पूँजीवाद को बल प्रदान किया। उपाध्याय बेतहाशा मशीनीकरण व औद्योगीकरण के खिलाफ हैं। वे कहते हैं, “उत्पादन पर अधिक बल देने के कारण अमेरिका आदि देशों में पूँजीवाद का विस्तार

हुआ। नवाविष्कृत यंत्र इस वृद्धिगत उत्पादन के कारण बने और इन यंत्रों के स्वामी ही उत्पादन के स्वामी भी बन गए। लाभ में जब श्रमिकों को भाग नहीं मिला तब उनमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई और उन्होंने एक नई प्रणाली समाजवाद या साम्यवाद का विकास किया जिसमें पुनः 'वितरण' पर ही अधिक बल दिया गया और इसके लिए राज्य द्वारा व्यक्ति को कुचलकर भी रख दिया गया।" पूँजीवादी व्यवस्था समाज में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है, सम्यक् जीवन का नियोजन नहीं करती। समाज के सांस्कृतिक मूल्यों को नष्ट कर उसे 'उपभोगवाद' के दुम्बक में फँसाकर 'लोलुप' बनाती है। पूँजीवाद द्वारा प्रस्तुत की गई 'आर्थिक मानव' की कल्पना भी भ्रमपूर्ण है। उपभोगवाद व आर्थिक मानव की कल्पनाओं ने आर्थिक जीवन एवं मानव्य को विभक्त कर दिया है; श्रम एवं आनंद के बीच एक गहरी खाई पैदा कर दी है। यंत्र को मनुष्य का सहयोगी बनाने के बजाय मनुष्य को यंत्र का पुर्जा बना दिया है। उत्पादन कार्य में से शिल्प व सृजन के सुख का अपहरण कर लिया है। दीनदयाल आगे कहते हैं, एक स्वतंत्र जुलाहे को समाप्त कर उसे विशाल कारखाने का मजदूर बना दिया गया। बजाज के स्थान पर एक विभागीय स्टोर्स बना दिया गया। दर्जी के स्थान पर रेडीमेड कपड़ा लाकर रख दिया गया। मनुष्य यानी एक जंतु जो आठ घंटे यंत्रवत मजदूरी करे और सोलह घंटे खाए। कार्य और जीवन के बीच एक दीवार खड़ी हो गई। पश्चिम के कई देशों में कहा जाता है, पाँच दिन काम के और दो दिन छुट्टी के। उन दो दिनों में केवल मस्ती, केवल खाना-पीना और मौज, काम की बात भी नहीं। अर्थात् वे पाँच दिन कमाई करते हैं तथा दो दिन जीवित रहते हैं। अतः हमें मनुष्य के कमाई के साधनों का इस प्रकार निर्धारण करना होगा कि उसके कार्य और वास्तविक जीवन के बीच कोई खाई न रहे। हाड़-मांस के मनुष्य के पास हृदय, मस्तिष्क व शरीर तीनों की भूख है। इन तीनों का ही विचार करना होगा। अन्यथा कार्य के आठ घंटों का जो अमानवीय प्रभाव होता है उसे समाप्त करने में ही उसके शेष सोलह घंटे व्यतीत हो जाते हैं। उनके समाप्त होते ही वह पुनः आठ घंटों के चक्र में फँस जाता है।

समाजवाद का निषेध

दीनदयाल जी ने लिखा है कि व्यक्तिवाद के समानांतर समाजवाद का विचार भी पश्चिम में पैदा हुआ। अंततोगत्वा 'सर्वहारा की तानाशाही वाला

साम्यवाद' समाजवाद का प्रतिनिधि बन गया। जो अलोकतांत्रिक राज्यवाद एवं वर्गवाद के साथ ही पूँजीवाद के समान औद्योगीकरण व केंद्रीकरण का भी समर्थक है। उपाध्याय समाजवादी वृत्ति के प्रशंसक हैं; लेकिन उसके राज्यवाद व केंद्रीकरण के व्यावहारिक उपायों के सर्वथा विरुद्ध हैं।

समाजवाद व्यक्तिवाद के अतिवाद का निषेध करता है। वह व्यक्ति की बजाय व्यवस्था में परिवर्तन का हामी है, व्यक्तिवाद को अव्यवस्था की ही उपज मानता है। उसका यह व्यवस्थावाद ही उसे अंततः 'राज्यवादी' बना देता है। उपाध्याय व्यक्ति बनाम व्यवस्था के विवाद को गलत मानते हैं। कोई व्यवस्था व्यक्तिनिरपेक्ष नहीं होती तथा कोई व्यक्ति व्यवस्थानिरपेक्ष नहीं हो सकता। वे इस प्रकार की समाज व्यवस्था के पोषक हैं जो अपने 'मनुष्य' की चिंता करती है।

“बुराई का वास्तविक कारण व्यवस्था नहीं, मनुष्य है। मनुष्य ही प्रथम आता है। बुरा व्यक्ति अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था में घुसकर बुराई फैला देगा। समाज की प्रत्येक परंपरा और व्यवस्था किसी-न-किसी अच्छे व्यक्ति द्वारा प्रारंभ की गई है; परंतु उसी अच्छी परंपरा पर जब बुरा व्यक्ति आ बैठा तो वहाँ बुराई आ गई। इसकी क्या गारंटी है कि यदि कोई व्यक्ति निजी क्षेत्र में स्वतंत्र रहकर बुराई करता है तो उसके स्थान पर राज्य का व्यक्ति बैठा देने पर बुराई न फैलेगी? अतः हमारा ध्यान व्यक्ति की कर्तव्यभावना को जगाने पर केंद्रित होना चाहिए था।”

केंद्रीकरण की प्रवृत्ति मनुष्य के कर्तव्यभाव को मारती है। उसमें 'मजदूर' का भाव आर्थिक चिंतन जगाती है। 'मजदूरी' का भाव 'मजबूरी' का भाव है। इसमें कर्ता का सम्मान एवं कर्तव्य का सुख नहीं रहता। उपाध्याय मानते हैं कि समाजवाद में केंद्रीकरणवादी पूँजीवाद के सब दोष विद्यमान रहते हैं। इसमें राज्यवादी नौकरशाही का एक अतिरिक्त दोष और जुड़ जाता है। अतः वे पूँजीवाद व समाजवाद दोनों की साझी आलोचना करते हैं- “वर्तमान साम्यवाद तथा पूँजीवाद दोनों में स्वामित्व के स्वरूप का अंतर छोड़कर और कोई फर्क नहीं है। अतः दोनों में ही व्यक्ति के विकास की कोई सुविधा नहीं है।” दोनों ही अपनी केंद्रित सत्ता की सुरक्षा के लिए प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य पर अपना अधिकार जमाते हैं। उपाध्याय विवेचित करते हैं कि “पूँजीवादी अर्थव्यवस्था पहले आर्थिक क्षेत्र पर आधिपत्य जमाकर फिर

परोक्ष रूप से राज्य पर अधिकार करती है तो समाजवाद राज्य को ही संपूर्ण उत्पादनों का स्वामी बना देता है। दोनों व्यवस्थाएँ व्यक्ति के प्रजातंत्रीय अधिकार एवं उसके स्वस्थ विकास के प्रतिकूल हैं।”

उपाध्याय केंद्रीकरण की प्रवृत्ति को ही अमानवीय मानते हैं। मनुष्य की सांस्कृतिक चेतना व्यक्ति-व्यक्ति में, व्यक्ति और समाज में, प्रकृति और व्यक्ति में तथा कर्ता और कृति में परस्पर ‘आत्मीयता’ का संचार करती है। ये दोनों व्यवस्थाएँ इस ‘आत्मीयता’ के संचार को समाप्त कर संबंधों में एक यात्रिकता पैदा कर देती है। “केंद्रीय व्यवस्थाएँ मानव को मानव न मानकर, उसके एक ‘टाइप’ के साथ व्यवहार करती है। इनमें मानव की विविधताओं और विशेषताओं के लिए कोई स्थान नहीं। फलतः वे उसे ऊँचा उठाने के स्थान पर एक मशीन का पुरजा मात्र बना देती है। उसका अपना व्यक्तित्व मर जाता है। अतः विकेंद्रीकरण ही हमारी संस्कृति के अनुकूल है। ‘केंद्रीकृत औद्योगीकरण में श्रद्धा रखनेवाली पूँजीवादी व समाजवादी व्यवस्थाओं को उपाध्याय मानव-विरोधी मानते हैं। अतः वे ‘समग्र मानववाद’ के आधार पर आर्थिक लोकतंत्र व विकेंद्रित अर्थनीति का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार पूँजीवाद व समाजवाद, दोनों ही ‘लोकतंत्र’ व ‘संस्कृति’ का व्यवहारतः निषेध करते हैं।

मनुष्य और मशीन

उपाध्याय मनुष्य तत्त्व पर मशीन के हावी हो जाने के विरोधी हैं। उत्पादन के केंद्रीकरण की प्रकृति वाले मशीनीकरण के वे विरोधी हैं; लेकिन मानव श्रम को सुगम करने वाले तथा ‘अपरमात्रिक’ उत्पादन देने वाले सहयोगी यंत्र के वे समर्थक हैं। उनका मत है— “जहाँ एक ओर मशीन के ष्टरद्दालु भक्त हैं तो दूसरी ओर कट्टर दुष्टमन भी मौजूद हैं। एक, मशीन के अभिनवीकरण के अभाव को ही भारत की गरीबी का कारण मानकर चलते हैं तो दूसरे, अभिनवीकरण और यंत्रीकरण को ही देश के विनाश के लिए जिम्मेदार मानते हैं। वास्तव में मशीन न तो मनुष्य का शत्रु है न मित्र। वह एक साधन है तथा उसकी उपादेयता समाज की अनेक शक्तियों की क्रिया-प्रतिक्रिया पर निर्भर करती है। “मशीनीकरण के संदर्भ में पश्चिम की नकल नहीं करनी चाहिए। उपाध्याय इसके लिए तर्क प्रस्तुत करते हैं, “पश्चिम से जो मशीनें हमें मिलती हैं, वे उन देशों द्वारा पिछली कई शताब्दियों में विकसित

की गई। उनका मानकीकरण करके वे आज बाजार में बेच रहे हैं। हम उन्हें खरीदते हैं; किंतु यह भूल जाते हैं कि वे एक लंबे आर्थिक विकास का कारण नहीं, उसके परिणामस्वरूप हैं। “उपाध्याय यंत्रारोपण के बजाय यंत्रों के स्वदेशानुकूल विकास के पक्षपाती हैं। हमें छोटे व कुटीर उद्योगों के संचालन एवं अपने शिल्पियों तथा कारीगरों के सहयोग के लिए अधिकतम सुलभ यंत्र चाहिए। पूँजीपतियों को उत्पादन का एकाधिकारी बनाने वाले यंत्र हमारी अर्थव्यवस्था के शत्रु हैं। दीनदयाल कहते हैं, “हमारी मशीन हमारी आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल ही नहीं; अपितु हमारे सांस्कृतिक एवं राजनीतिक जीवन मूल्यों की पोषक नहीं तो कम-से-कम अविरोधी अवश्य होनी चाहिए। “इस प्रकार उपाध्याय न तो मशीन के भक्त हैं न विरोधी। वे मशीन को समाज एवं अर्थव्यवस्था पर हावी नहीं होने देना चाहते। जब समाज एवं अर्थव्यवस्था पर मशीन हावी हो जाती है तो उसमें ‘केंद्रीकरण’ का दोष आता है। ‘केंद्रीकरण’ से पूँजीवाद व समाजवाद की दोषपूर्ण क्रिया-प्रतिक्रियाएँ होती हैं। अतः एक तनावपूर्ण असहज प्रक्रिया से विवेकपूर्वक बचने के लिए वे पुरजोर आग्रह करते हैं कि हमें विकेंद्रित अर्थव्यवस्था, कुटीर उद्योग व स्व-विकसित लघु मशीन के संयोजन की दिशा में प्रवृत्त होना चाहिए। विकेंद्रित अर्थव्यवस्था

विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के लिए विकेंद्रित राजनीतिक व्यवस्था भी जरूरी है। इसके लिए उपाध्याय स्वावलंबी समर्थ ग्राम पंचायतों व जनपद-व्यवस्था के पक्षधर हैं। हमारी अर्थव्यवस्था का आधार हमारे ग्राम तथा जनपद होने चाहिए। ग्रामों को उजाड़ने वाले आर्थिक नियोजन अंततः भारत को उजाड़ने वाले सिद्ध होंगे। शहर व ग्रामों का विषम विकास हमारी राष्ट्रीय अखंडता के लिए भी घातक होगा। संसाधनों व सत्ता के केंद्रीकरण के कारण हम पूँजीवाद व उसके प्रतिक्रियात्मक दुष्चक्र से बच नहीं सकते। अतः आर्थिक लोकतंत्र की स्थापना के लिए विकेंद्रित अर्थव्यवस्था ही भारतीय परिस्थितियों में हमारे लिए उपादेय है। अतः उपाध्याय कहते हैं-

आर्थिक चिंतन: आदर्श अर्थव्यवस्था

उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत आर्थिक विचारों से आदर्श अर्थव्यवस्था के कुछ अभिधारणात्मक तत्त्व उभरकर सामने आते हैं जिनको निम्न प्रकार सूचीबद्ध किया जा सकता है- अर्थ-संस्कृति, आदि

उन्होंने कहा कि हमारी अर्थव्यवस्था का उद्देश्य होना चाहिए-प्रत्येक व्यक्ति को न्यूनतम जीवन स्तर की आश्वस्ति तथा राष्ट्र के सुरक्षा सामर्थ्य की व्यवस्था। इस स्तर के उपरांत उत्तरोत्तर समृद्धि, जिससे व्यक्ति और राष्ट्र को वे साधन उपलब्ध हो सकें जिनसे वे अपनी 'चिति' के आधार पर विश्व की प्रगति में योगदान कर सकें। उपर्युक्त लक्ष्यों की सिद्धि के लिए प्रत्येक सवय एवं स्वस्थ व्यक्ति को साभिप्राय आजीविका का अवसर देना तथा प्रकृति के साधनों को मितव्ययिता के साथ उपयोग करना।

राष्ट्र के उत्पादक-उत्पादनों का विचार कर अनुकूल प्रौद्योगिकी का विकास करना।

यह व्यवस्था 'मानव' की अवहेलना न कर, उसके विकास में साधक हो तथा समाज के सांस्कृतिक व अन्य जीवनमूल्यों की रक्षा करे। यह लक्ष्मणरेखा है, जिसका अतिक्रमण अर्थरचना को किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिए। विभिन्न उद्योगों में राज्य, व्यक्ति तथा अन्य संस्थाओं के स्वामित्व का निर्णय व्यावहारिक आधार पर हो।'

उपर्युक्त प्रकार की अर्थव्यवस्था के नियमन में मुख्य बाधा तो राजनीतिक इच्छाशक्ति का अभाव एवं आर्थिक विचारों की समाजवाद एवं पूँजीवाद संबंधी पाश्चात्य अवधारणाओं की भ्रमोत्पादक विचारसरणी है; लेकिन उपाध्याय मानते हैं कि स्वदेशी निहित स्वार्थ भी इसमें एक बहुत बड़ी बाधा है-
 "... भारत में ऐसे लोग बड़ी संख्या में हैं जिनके हित पाश्चात्य अर्थव्यवस्था एवं उत्पादन प्रणाली से जुड़े हुए हैं। पिछले सौ वर्ष में जिस अर्थव्यवस्था का भारत में विकास हुआ है, उसने भारत और पश्चिम के औद्योगिक देशों की व्यवस्था को एक दूसरे का पूरक बनाया है। इसमें भारत के हितों का संरक्षण नहीं हुआ, बल्कि उनका बराबर शोषण ही होता रहा। इस शोषण की क्रिया में पाश्चात्य आर्थिक हितों ने भारत के कुछ वर्ग को भी अपने अभिकर्ता के रूप में साझीदार बनाया है। प्रारंभ में व्यापारी व कमीशन एजेंट के रूप में और बाद में कुछ अंशों में उद्योगपति (स्वतंत्र अथवा साझीदार) के रूप में इनके हित संबंध विदेशी आर्थिक हितों के साथ बँध गए। इस वर्ग का देश के आर्थिक जीवन पर प्रभुत्व रहा है। आज भी, संख्या तथा देश की राष्ट्रीय आय में उनका योगदान कम होते हुए भी, वे समाज और देश के जीवन पर भारी प्रभाव रखते हैं। इस वर्ग की आकांक्षाएँ निश्चित

हैं। वे अधिकाधिक अपने विदेशी प्रतिद्वंद्वियों का स्थान ग्रहण करना चाहते हैं। पाश्चात्य अर्थशास्त्र के भारतीय विद्वानों से उनका सहज ही सम-संयोग मेल बैठ जाता है। भारत के सभी समाचार-पत्र, विशेषकर अंग्रेजी, उनके प्रभावक्षेत्र में हैं। सब मिलकर जाने या अनजाने में ऐसा मायाजाल रच देते हैं कि साधारणजन उसमें से निकल ही नहीं पाता। चमत्कारिक परिणामाकांक्षी राजनेताओं का भी इस मायाजाल से सामंजस्य हो जाता है। इस संदर्भ में उपाध्याय कहते हैं- ‘विदेशी सहायता, विदेशी विशेषज्ञों की सम्मतियाँ तथा विदेशी जीवन का चित्ताकर्षक बाह्य स्वरूप तथा थोड़ी अवधि में कुछ कर दिखाने की राजनीतिक आवश्यकताओं ने उनको (राजनेताओं को) जनजीवन से दूर हटाकर उसकी समस्याओं का यथार्थ आकलन करने में अक्षम बना दिया है। “उपाध्याय आग्रहपूर्वक प्रतिपादित करते हैं कि “भारत के ‘स्व’ का साक्षात्कार किए बिना हम अपनी समस्याओं को सुलझा नहीं पाएँगे।”

आर्थिक चिंतन दीनदयाल उपाध्याय का अर्थचिंतन समग्रतावादी है। निपट आर्थिक दृष्टि से ही संपूर्ण मानवजीवन को देखने के वे विरोधी हैं। मानवीय सांस्कृतिक मूल्यों की दृष्टि से उनका अर्थचिंतन आदर्शवादी है; लेकिन वह चिंतन अव्यावहारिक न बने अतः उन्होंने साथ-साथ व्यवहार्य व्यवस्थाओं के विवेचन का भी प्रयत्न किया है।

वे किसी वादविशेष से कट्टरतापूर्वक बँधने की बजाय शाष्टवत जीवनमूल्यों के प्रकाश में यथासमय आवश्यक परिवर्तन एवं मानवीय विवेक में आस्था रखते हैं। अपनी ‘भारतीय अर्थनीति: विकास की एक दिशा’ पुस्तक के विषय में वे लिखते हैं- “जैसा कि पुस्तक के नाम से प्रकट होगा, यहाँ एक दिशा की ओर संकेत भर किया गया है। विकासोन्मुख भारत की मोटी रेखाएँ खींची गई हैं। अनेक छोटी-छोटी रेखाओं का अंकन एवं चित्र में रंग भरने का काम प्रकृति और पुरुष द्वारा ही पूरा होगा। यह जैसे-जैसे होता जाएगा, चित्र वैसे ही भरता जाएगा। हमारा कर्तव्य है कि दर्शक की उत्सुकता छोड़कर निर्माता की लगन और पुरुषार्थ से उसमें जुट जाएँ।”

आज तृतीय विश्व का हर देश पाश्चात्य अर्थशास्त्र से जूझ रहा है। राजनीतिक साम्राज्यवाद भी अब प्रच्छन्न आर्थिक साम्राज्यवाद का अधिशन ग्रहण कर रहा है। आधुनिक पाश्चात्य तकनीकी के साथ प्रताड़ित समाजों की प्रतिभा का मेल बैठना कठिन है। आज न चाहते हुए भी तृतीय विश्व

के देश साम्राज्यवादी अर्थशास्त्र से अपने को मुक्त नहीं कर पा रहे हैं। अपने स्वदेशी जन को भूखा मारकर भी साम्राज्यवादियों को बाजार देने के लिए वे बाध्य हैं। पाश्चात्य तकनीकी व तज्ञ स्वदेशी अर्थसत्ता पर ही नियंत्रण कर लेते हैं। कुछ समृद्धि के टापू खड़े कर लेते हैं। आम आदमी विषमताग्रस्त होकर उपेक्षित होता है। नेतृवर्ग एवं मध्यम प्रतिभा के धनी अल्पशिक्षित वर्ग के निहित स्वार्थ को साम्राज्यवादी पाश्चात्य अर्थशास्त्र कुछ सीमा तक पूरा करता रहता है। परिणामतः एक सांस्कृतिक अराजकता, राजनीतिक अस्थिरता व आर्थिक गुलामी का सृजन हो रहा है।

इन साम्राज्यवादी पाश्चात्य आक्रमणों से बचने के लिए माओ-त्से-तुंग व जूलियस जैसे जन नेताओं ने अपने देशों को इस साम्राज्यवादी मुख्य धारा से काटकर तथा राजनीतिक इच्छाशक्ति के बल पर अनेक ग्रामप्रधान एवं लघु उद्योग प्रधान स्वावलंबी प्रयोग किए हैं। लेकिन इन प्रयोगों को करने के लिए उन्होंने तानाशाही राज्यशास्त्र का उपयोग किया। अतः उन्हें अनुकरणीय नहीं माना जा सकता। दमनात्मक व्यवस्थाओं के दुष्परिणाम अब वहाँ प्रकट भी होने लगे हैं। उपाध्याय राजनीतिक व आर्थिक लोकतंत्र की आधारशिला के रूप में 'विकेंद्रीकृत' व 'स्वदेशी' आर्थिक व्यवस्था के पक्ष में अपने विचारों का नियमन करते हैं। अतः वे अधिक महत्वपूर्ण हैं।

उपाध्याय के आर्थिक विचार मानव्य प्रधान एवं समाजपरक हैं। उनका सांस्कृतिक अर्थशास्त्र आत्मरंजक भी लगता है, बुद्धिगम्य भी; लेकिन जिन निहित स्वार्थ का उन्होंने वर्णन किया है क्या उन्हें संस्कारों के बल पर नियंत्रित किया जा सकता है? लोकतांत्रिक मानवाधिकारों के दुरुपयोग ने ही पूँजीवाद को जन्म दिया था। सरकार द्वारा नियमन तो उपाध्याय को स्वीकार है, नियंत्रण नहीं। सरकारी व संसदीय नियमन तथा आर्थिक निहित स्वार्थ में संघर्ष की अवस्था का वर्णन उपाध्याय अपने विचारों में नहीं करते हैं। उनका विवेचन ज्यादा विधायक है तथा सृजनात्मक है। यह सही है कि संघर्ष को किसी दर्शन का आधार नहीं बनाया जा सकता; लेकिन व्यवहार में उससे बचना कठिन है। दीनदयाल उपाध्याय का उत्तर है “संस्कार, शिक्षा, लोकमत-परिष्कार व नियमन-यही लक्ष्मणरेखा है। इसी की मर्यादा में हमें प्रयोग करने चाहिए। मानव की श्रेष्ठता में उनका अगाध विश्वास है।”

दीनदयाल जी का मूल्यांकन

दीनदयाल जी के कार्य का मूल्यमापन कैसे किया जाए? पहली बात यह कि प्रकृति से वे राजनीतिज्ञ नहीं थे। वे तो बिगड़ती भारतीय व्यवस्था को सुधारने के लिए राजनीति में आए। चंद्रगुप्त के राज्य का निर्माण करने के लिए आर्य चाणक्य राजनीति में उतरे। मूलतः आध्यात्मिक प्रकृति के शिवाजी महाराज हिन्दुओं की 'त्राहि-त्राहि' सुनकर राजनीति के झमेले में पधारे। गणितज्ञ तिलक स्वराज्य के लिए राजनीति में भाग लेने निकले। ठीक उसी प्रकार हिन्दुओं के सांस्कृतिक पुनरूत्थान के लिए समर्पित संघकार्य की दीक्षाप्राप्त दीनदयाल जी काँग्रेस की राजनीति से देश को उजड़ता न देख सकने के कारण राजनीति में आए।

चंद्रगुप्त को राज्य सौंपकर चाणक्य वन में वापस चले गए। स्वराज्य की स्थापना कर दक्षिण दिग्विजय को निकले शिवाजी महाराज मल्लिकार्जुन पहुँचे तो उपरति के आवेश में अपना शिरकमल काटकर शिव-चरणों में समर्पित करने के लिए तलवार तान कर बैठ गए थे। राजनीति का कार्य करते-करते माण्डले की कारा में लोकमान्य तिलक से ग्रंथरचना हुई- 'गीतारहस्य' की।

दीनदयाल जी भी राजनीति में रहकर भी अनासक्त थे। लोगों के अत्यंत आग्रह के कारण ही वे अनिच्छया चुनाव के लिए खड़े हुए। किंतु चुनाव प्रचार-सभाओं में अपनी प्रशंसा में एक शब्द भी उन्होंने मुँह से नहीं निकाला। एक सहयोगी कार्यकर्ता ने जब इस बात पर अप्रसन्नता प्रकट की तो दीनदयाल जी ने उससे कहा- "अपनी प्रशंसा करना मुझसे कदापि नहीं हो पाएगा। उसके लिए मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। हाँ मेरे स्थान पर तुम प्रत्याशी होते तो मैं अपने प्रत्याशी की प्रशंसा अवश्य करता।"